कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९५५ ईस्वी
द्वितीय संस्करण : १९६४ ईस्वी

मुद्रक : बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड रोड
वाराणसी ।

मूल्य : सात रुपये ।

गुरुवर
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को
प्रणति पूर्वक

नया संस्करण

•

"कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा" का यह नया संस्करण पाठकों के हाथों सौंपते हुए मुझे बेहद ख़ुशी है। क़रीब नौ साल पहले इस पुस्तक का पहला संस्करण छपा था। कीर्तिलता मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की एक मूल्यवान् उपलब्धि है। बाङ्ला और हिन्दी में इसके दो संस्करण पहले भी मौजूद थे; किन्तु उन संस्करणों में पाठ और अर्थ की अनेक ख़ामियाँ थी। गद्य और पद्य का अन्तर भी नहीं किया गया था। मैंने इस पुस्तक के पहले संस्करण में कीर्तिलता के पाठ को यथासम्भव व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। अर्थ-निर्धारण के मार्ग में भी अनेक कठिनाइयाँ थीं। इस दिशा में भी पहले संस्करण में काफ़ी प्रयत्न किया गया था। किन्तु सबसे बड़ी विशेषता कीर्तिलता की भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की थी। इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले अवहट्ठ भाषा के बारे में कोई सुनिश्चित धारणा न थी। अवहट्ठ शब्द के दो-चार प्रयोग, जो मध्यकालीन ग्रन्थों में मिलते हैं, हमें किसी स्पष्ट दिशा में नहीं ले जा सकते थे। परवर्ती अपभ्रंश का अध्ययन हिन्दी में आज भी शैशवावस्था में ही पड़ा है। इस पुस्तक ने पहली बार 'अवहट्ठ' शब्द को उसके सही भाषावैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। इसके बाद तो 'अवहट्ठ' एक अति परिचित शब्द जैसा हो गया और हिन्दी में किये जाने वाले भाषावैज्ञानिक शोध-कार्यों में इस शब्द की अनेकशः उद्धरणी होने लगी। सच तो यह है कि हिन्दी भाषा का सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से उतना नहीं है, जितना अवहट्ठ से। अवहट्ठ भाषा अपभ्रंश की ही अग्रसरीभूत प्रतिनिधि है; किन्तु अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण यह अपभ्रंश की अपेक्षा कहीं ज्यादा घनिष्ठ रूप से हिन्दी और उसकी क्षेत्रीय बोलियों से सम्बन्धित है। अब तो गुजरात-राजस्थान, मध्यप्रदेश और पूर्वी भारत में अवहट्ठ सम्बन्धी इतनी पुष्कल सामग्री प्रकाश में आने लगी है कि उसका संक्षेप में विवरण देना भी सम्भव नहीं है। गुजराती-राजस्थानी क्षेत्र में प्राप्त होने वाले रास और फागु काव्य, मध्यदेशीय अवहट्ठ की महत्त्वपूर्ण कृति राउरवेल आदि रचनाएँ हिन्दी साहित्य के इतिहास पर एक नया आलोक डाल रही हैं, और इस नये प्रकाश में हमारे इतिहास के अनेक तत्त्व जो अँधेरे में छिपे थे, स्पष्ट होते जा रहे हैं। यह समूचा महत्त्वपूर्ण साहित्य परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ में ही लिखा हुआ है। इस

साहित्य के माध्यम के रूप में अवहट्ठ का महत्त्व निर्विवाद है और इसी कारण उसके भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता भी सन्देह से परे है। मुझे प्रसन्नता है कि अवहट्ठ भाषा सम्बन्धी मेरा यह अध्ययन विद्वानों के द्वारा इसी रूप में समादृत-प्रशंसित हुआ। स्व० राहुल जी ने इस दिशा में निरन्तर प्रयत्न करते रहने की जो अमूल्य प्रेरणा लेखक को दी थी, वह आगे भी उसका मार्ग-दर्शन करती रहेगी।

इस नये संस्करण में राउरवेल आदि नई रचनाओं को भी सम्मिलित कर लिया गया है। मेरा प्रबन्ध सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य भी संक्रान्ति-कालीन नव्य भारतीय आर्यभाषा के अध्ययन से ही सम्बन्धित है, बहुत-सी नई रचनाओं का परिचय उसके दूसरे संस्करण में भी सम्मिलित किया गया है।

नये संस्करण में कीर्तिलता के मूल पाठ और अर्थ की दिशा में भी काफ़ी प्रयत्न हुआ है। पहले संस्करण में पाठ और अर्थ अलग-अलग थे। पाठकों के आग्रह के कारण इस नये संस्करण में पाठ और अर्थ को युगपत् रूप में उपस्थित किया गया है। कीर्तिलता की स्तंभतीर्थ वाली प्रति और संस्कृत टीका की प्राप्ति एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस प्रति और टीका से जितनी भी सहायता ली जा सकती थी, ली गई है। नये संस्करण में कीर्तिलता के अर्थ-निर्धारण की दिशा में एक नया प्रयत्न भी किया गया है। विद्यापति पदावली के अनेक शब्द कीर्तिलता में प्रयुक्त कतिपय शब्दों से समानता रखते हैं, ऐसे स्थलों पर इन दोनों रचनाओं के महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के समानान्तर अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। इससे कई स्थलों पर अर्थ में काफ़ी भास्वरता आ गई है। कीर्तिलता की भाषा में शब्दों के व्याकरणिक रूपों पर विचार किया गया था; पर अब अर्थ के साथ ही विशिष्ट व्याकरणिक रूपों पर टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं।

आशा है यह नया संस्करण अवहट्ठ भाषा और कीर्तिलता के अध्ययन-प्रेमियों और अनुसंधित्सुजनों के लिए काफ़ी सहायक सिद्ध होगा।

विदा पुनर्मिलनाय

हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी। १८-१२-'६४

—शिवप्रसाद सिंह

प्रथम संस्करण का निवेदन

●

यह पुस्तक एम० ए० परीक्षाके एक प्रश्न-पत्र के स्थान पर लिखे गए निबन्ध का प्रकाशित रूप है जिसे मैंने १९५३ में प्रस्तुत किया। आरम्भ में मेरे निबन्ध का विषय कीर्तिलता की भाषा का अध्ययन था। मैंने इस विषय के सम्बन्ध में श्रद्धेय डॉ० बाबूराम सक्सेना जी से परामर्श किया। उन्होंने अपने २९ अगस्त १९५१ के पत्र में लिखा कि अवहट्ठ और अपभ्रंश में यदि अन्तर स्पष्ट हो सके तो बहुत काम निकल सकता है। इस परामर्श के अनुसार मैंने अवहट्ठ भाषा के स्वरूप का निर्धारण भी इस निबन्ध का उद्देश्य मान लिया। फलतः १९५३ में यह थीसिस 'अवहट्ठ भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषा शास्त्रीय अध्ययन' के रूप में उपस्थित की गई। बाद में गुरुवर आचार्य हज़ारी प्रसाद जी द्विवेदी ने इस निबन्ध को कीर्तिलता के संशोधित पाठ के साथ प्रकाशित कराने का आदेश दिया। कीर्तिलता का पाठ-शोध एक कठिन कार्य था; परन्तु मैंने इसे प्रसन्नता से स्वीकार किया क्योंकि भाषा विषयक अध्ययन के सिलसिले में मैंने प्रायः प्रत्येक शब्द पर एकाधिक बार विचार किया था; साथ ही इस पुस्तक के अधिकांश शब्दों की अनुक्रमणी भी प्रस्तुत हो गई थी। इस प्रकार यह पुस्तक अवहट्ठ और कीर्तिलता की भाषा के साथ मूल शोधित पाठ एवं विस्तृत शब्द सूची के साथ इस रूप में प्रकाशित की गई।

अवहट्ठ भाषा के बारेमें यह पहला विस्तृत अध्ययन है, इसलिए इसमें त्रुटियाँ हो सकती हैं और मेरे व्यक्त मतों के साथ मतभेद भी सम्भव है; किन्तु अपभ्रंश और अवहट्ठ के बीच का अन्तर स्पष्ट करने के लिए मैंने जो सामग्री उपस्थित की हैं, वह अवश्यमेव विचारणीय हैं। परवर्ती अपभ्रंश में हिन्दी भाषा की आरम्भिक अवस्था के रूपों के अन्वेषण का प्रयत्न इसी सामग्री पर आधारित है। इसका संक्षिप्त-सा रूप 'अवहट्ठ की मुख्य विशेषताएँ' शीर्षक से नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ५८ अंक ४ सम्वत् २००१) अप्रैल १९५४ में प्रकाशित हुआ।

कीर्तिलता भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। मध्यकाल की कोई भी रचना इतने पुराने और अत्यन्त विकासशील भाषा के तत्त्वों को इतने

विविध रूपों में सुरक्षित नहीं रख सकी है। कीर्तिलता की भाषा के विश्लेषण के साथ ही पुरानी हिन्दी से इसके सम्बन्धों का विवेचन भी किया गया है।

संशोधित पाठ को यथा सम्भव वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित किया गया है। लेखक इसके लिए महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री और डॉ० बाबूराम सक्सेना का आभारी है जिनके संस्करणों से इस दिशा में पर्याप्त सहायता मिली। डॉ० सक्सेना के प्रति लेखक विशेष रूप से कृतज्ञ है जिनके पथभृथ कार्य के बिना इस नये संस्करण का निर्माण सम्भव न था। प्रस्तुत संस्करण में मूल रचना का हिन्दी भाषान्तर भी दे दिया गया है, उस भाषान्तर को यथासम्भव त्रुटिहीन और पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। अप्रचलित और पुराने शब्दों के अर्थ-निर्धारण में कहीं-कहीं अनुमान से काम लेना पड़ा है अन्यथा अधिकांश शब्दों का साधार और प्रमाणयुक्त अर्थ देना ही उद्देश्य रहा है। अन्त में कीर्तिलता के शब्दों की एक वृहद् सूची भी जोड़ दी गई है, जिसमें शब्दार्थ के साथ व्युत्पत्ति की ओर भी संकेत कर दिया गया है।

गुरुवर पंडित करुणापति त्रिपाठी ने अप्रकाशित पाण्डुलिपि को आद्यन्त पढ़कर कई बहुमूल्य सुझाव दिए, लेखक उनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता है। आचार्य द्विवेदी जी ने इस निबन्ध के लिए विषय तय किया, निर्देश किया, और पढ़ा-बताया, पाठ के एक-एक शब्द को उन्होंने देखा-सुना, आँख में दर्द रहने पर भी उन्होंने जिस उत्साह से यह सब कुछ किया वह उनके स्नेह-वात्सल्य का परिचायक है, इसे कृतज्ञता प्रकट करके आँकने की धृष्टता मैं नहीं कर सकता। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनकी रचनाओं से लेखक को किसी प्रकार की भी सहायता मिली।

हिन्दी विभाग
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
रक्षाबन्धन, १९५५

—शिवप्रसाद सिंह

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक को शिवप्रसाद जी ने एम० ए० (१९५३) के एक प्रश्नपत्र के स्थान पर निबंध के रूप में लिखा था। आरंभ में **अवहट्ठ भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषा शास्त्रीय विवेचन'** इस निबंध का वक्तव्य विषय था। बाद में कीर्तिलता के मूल पाठ को भी, नये रूप में संशोधन करके, इसमें जोड़ दिया गया। इस प्रकार यह पुस्तक अवहट्ठ कही जाने वाली भाषा के स्वरूप तथा कीर्तिलता की भाषा के विस्तृत विवेचन के साथ ही साथ कीर्तिलताके पाठ का संशोधित रूप भी प्रस्तुत करती है। यद्यपि यह लेखक की एतद्विषयक आरंभिक रचना ही है, तथापि इससे उनकी विवेचना-शक्ति का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। कई स्थानों पर उन्होंने पूर्ववर्ती मतों का युक्ति पूर्वक निरास भी किया है। यद्यपि उनके मत से कहीं कहीं पूर्णतः सहमत होना कठिन होता है तथापि उनकी सूझ, प्रतिभा और साहस का जैसा परिचय इस पुस्तक से मिलता है, वह निश्चित रूप से उनके उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

कई दृष्टियों से कीर्तिलता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। भाषा की दृष्टि से इसका महत्व तो बहुत पहले ही स्वीकृत हो चुका है। इसमें अवहट्ठ या अग्रसरीभूत अपभ्रंश भाषा का नमूना प्राप्त होता है और प्राचीन मैथिली-अपभ्रंश के चिन्ह भी मिलते हैं। छन्द, काव्य-रूप तथा गद्य आदि की तत्कालीन स्थिति पर भी इस पुस्तक से बहुत प्रकाश पड़ता हैं। इसके काव्य-रूप के महत्व का थोड़ा विचार मैंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य' में किया है। यहाँ उन बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस पुस्तक में प्रयुक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध में कुछ नये सिरे से कहने में कोई हानि नहीं है। शिवप्रसाद जो ने पुस्तक में प्रयुक्त अपभ्रंश (या अवहट्ठ) के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। परवर्ती अपभ्रंश में प्रारंभिक हिन्दी के भाषा-तत्वों को ढूढ़ने का उनका प्रयत्न सराहनीय है। किन्तु अवहट्ठ भाषा के इस महत्वपूर्ण रूप पर विचार करने के साथ ही इस पुस्तक में प्रयुक्त संस्कृत पदावली और उसके रूप को भी ध्यान में रखना चाहिए। कीर्तिलता में प्रयुक्त गद्य, उसकी संस्कृत बहुल पदावली और संस्कृत पदावली के बीच आए प्राकृत-प्रभावापन्न संस्कृत शब्द भी भाषा-विकास के अध्येताओं के लिए मनोरंजक और उपादेय हैं। इस पुस्तक में

प्रयुक्त गद्य संभवतः इस बात की सूचना देते हैं कि चौदहवी शताब्दी में पद्य की भाषा में तो तद्भव शब्दों का प्रयोग होता था किन्तु बोल चाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। भारतीय साहित्य में—विशेषकर काव्य में—प्रयुक्त भाषा बराबर थोड़ा-बहुत पुरानापन लिए होती है। अपभ्रंश के कवि बिना किसी झिझक के प्राकृत पदों और क्रिया-रूपों का व्यवहार कर देते हैं और परवर्ती काल में विकसित वर्तमान आर्य भाषाओं के कवि भी अपभ्रंश-प्राकृत और कभी कभी संस्कृत का भी प्रयोग कर दिया करते हैं। तुलसीदास जी 'रोदित वदति बहुभाँति' जैसे प्रयोग अनायास कर जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को देखकर यदि कोई कहे कि तुलसीदास जी के युग में 'रोदति' 'वदति' जैसी क्रियाओं का प्रयोग होता था तो यह अनुमान ठीक नहीं होगा। वस्तुतः काव्य की भाषा में कुछ प्राचीनता लिए हुए प्रयोग सदा होते रहते हैं। बहुत हाल में खड़ी बोली के 'असिधारा व्रत' के समर्थक कवियों ने इस चिराचरित प्रथा से बचना चाहा है; पर सब समय बच नहीं सके हैं। विद्यापति की कीर्तिलता की भाषा में भी कभी पुरानी प्राकृतों के प्रयोग मिल जाते हैं। उन सबको तत्कालीन व्यवहार की भाषा के प्रयोग नहीं समझना चाहिए। विद्यापति द्वारा प्रयुक्त पद्य-भाषा में प्राकृत के पुराने पदों के साथ ऐसे पदों और क्रिया रूपों का प्रचुर प्रयोग हुआ है जो तत्काल व्यवहृत भाषा में प्रचलित थे; परन्तु गद्य में संस्कृत पदावली के प्रयोग से अनुमान किया जा सकता है कि उस काल की बोल-चाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग होने लगा था।

कीर्तिलता संस्कृत की कथा या आख्यायिका काव्यों की पद्धति पर लिखी गई है। अपभ्रंश काव्यों में कथा को उसी श्रेणी का अलंकृत काव्य माना गया है जिस श्रेणी की रचनाएँ संस्कृत में मिलती हैं। पुष्पदन्त कवि के नागचरित में एक स्थान पर एक अलंकार-हीना रानी की उपमा कुकविकृत कथा से दी गई है जो यह सूचित करता है कि अपभ्रंश कवियों की कथा में अलंकार और रस देने की रुचि थी। विद्यापति ने भी कीर्तिलता की भाषा को अलंकृत करने का प्रयत्न किया है। दामोदर भट्ट की पुस्तक 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' से पता चलता है कि उन दिनों कहानियों में गद्य का भी प्रयोग होता था। संभवतः संस्कृत के चम्पू काव्यों के ढंग की ये रचनाएँ हुआ करती थीं। रुद्रट के सामने जो संस्कृतेतर भाषाओं की कथाएँ थीं, उनमें भी कहीं गद्य का प्रयोग होता था। अपभ्रंश के चरित काव्यों में तो इस प्रकार के गद्य का लोप ही हो गया किन्तु जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है विद्यापति की कीर्तिलता की भाषा में गद्य का प्रचुर प्रयोग

हुआ है। यह ठीक है कि संस्कृत के कथा, आख्यायिका, और चम्पू श्रेणी के काव्योंके आदर्श पर विद्यापति ने गद्यों में प्रयुक्त संस्कृत बहुल पदावली को सरस और अलंकृत करने का प्रयत्न किया है और इसीलिए साधारण जनता के बीच प्रचलित शब्दराशि से यह थोड़ी भिन्न है तथापि इस गद्य से इतना अवश्य सूचित होता है कि तद्भव शब्दों का प्रयोग पद्य में होता था और बोल चाल के गद्य में तत्सम शब्द ही चलते थे।

इस संस्कृत पदावली की कई विशेषताएँ हैं। प्रथम तो यह कि यद्यपि यह पदावली संस्कृत की है और लम्बे लम्बे समास संस्कृत के नियमों के अनुसार ही रचित हुए हैं, फिर भी यह भाषा संस्कृत नहीं है। इसमें तद्भव और 'अर्द्ध-तत्सम' शब्द प्रचुर मात्रा में हैं। क्रिया पद तत्काल प्रचलित मैथिली भाषा के हैं। विभक्तियों और परसर्गों की भी यही कहानी है। वाक्यों या वाक्यांशों के अन्तिम पदों में तुक मिलने का प्रयास है। सर्वनाम पद संस्कृत के न होकर मैथिली या अपभ्रंश के हैं।

संस्कृत की समस्त पदावली के बीच ऐसे शब्द प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं जो प्राकृत प्रभावापन्न हैं। खुर, फेण, सरे, कित्तिम, तारुन्न, परसुराम, चन्द चूड़, गेह, कवितु:, संमद्द, जाति आदि शब्द समस्त पदावली के बीच आए हैं। इतसमें तो सन्देह नहीं कि कीतिलता के जो हस्तलेख प्राप्त हुए हैं वे बहुत दोष पूर्ण हैं। इनमें प्रयुक्त अनेक शब्द लेखकों की असावधानी के कारण आ गए होंगे, यह संभव है। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या काफी अधिक है और ऐसा जान पड़ता है कि विद्यापति इन्हें बोलचाल के शब्द ही समझ कर लिख रहे हैं, संस्कृत शब्द नहीं।

संस्कृत के विशाल साहित्य में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जो प्राकृतोंके प्रभाव के निदर्शन रूप में प्राप्त हैं। स्वयं **पाणिनि और कात्यायन** ने ही ऐसे शब्दों को शुद्ध और टकसाली मान लेने की व्यवस्था दी हैं जो संस्कृत के नियमों से सिद्ध नहीं होते। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में ऐसे शब्द बहुत अधिक हैं जिनमें मुख-सुख या उच्चारण-सौविध्य के उन सभी नियमों का प्रयोग हुआ है जो प्राकृत की विशेषता कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ 'न' का 'ण' हो जाना या 'श' का 'स' हो जाना प्राकृत की विशेषता है। परन्तु **आपस्तंबश्रौत-सूत्र** जैसे प्राचीन ग्रन्थ में नाम के स्थान पर 'णाम' (१०-१४-१) और अनूक के स्थान पर 'अणूक' जैसे प्रयोग मिल जाते हैं। लौकिक संस्कृत में मानव के साथ 'क' प्रत्यय के योग से ही 'माणवक' बना होगा, ऐसा भाषा शास्त्रियों का कथन है 'प्रियाल' शब्द को कालिदास ने मुलायम करके 'पियाल' उसी प्रकार बना दिया है जैसा कीर्तिलता के कवि ने प्रेम को 'पेम' बना दिया है। इस प्रकार

संस्कृत के विपुल साहित्य में प्राकृत प्रभावापन्न शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। परवर्ती काल में प्राकृत के शब्दों के प्रयोग से अनुप्रास-यमक आदि ले आने का प्रयास भी किया गया है और कोमलता लाने का प्रयत्न भी हुआ है। कभी ऐसे ही शब्दों को ग्राम्य बताकर अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने कवियों की खबर भी ली है। संस्कृत 'गण्ड' से गल्ल बनता है और 'भद्र' से 'भल्ल'। किसी कवि ने 'ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लो जल्पति मनुष्यः' में इन दो शब्दों के प्रयोग से अनुप्रास लाने का प्रयत्न किया है पर मम्मट भट्ट ने इसे ग्राम्य प्रयोग कहकर अनुचित बताया है। जयदेव की मधुर पदावली में अनेक प्राकृत शब्द अनायास ही आ गए हैं। 'मेघैर्मेदुरमम्बरं' में मेदुर 'मृदु + र' का प्राकृत रूप ही है। इस तरह संस्कृत पदावली के बीच में प्राकृत शब्दों का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। विद्यापति की कीर्तिलता में भो इसी प्रकार भाषा को कोमल बनाने के लिए संस्कृत की समस्त पदावली के अन्दर प्राकृत शब्दों का प्रयोग किया गया है। फ़िर भी इन शब्दों के प्रचुर प्रयोगों को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि विद्यापति संस्कृत शब्दों के तत्काल-उच्चरित रूपों का प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार के ईषद् घिसे हुए तत्सम शब्दों के प्रयोग 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में भी मिल जाते हैं। जो सूचित करते हैं कि बोलचाल में संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग विद्यापति से दो तीन सौ वर्ष पहले से ही होने लगे थे। इसी प्रकार ईकार का इकार, ऊकार का उकार और इनकी उलटी प्रक्रियाएँ भी लौकिक संस्कृत में प्राप्त हो जाती हैं। उदाहरण बढ़ाने से इस भूमिका का कलेवर अनावश्यक रूप से बढ़ जायेगा। कीर्तिलता के संस्कृत तत्सम और अर्द्धतत्सम रूप भाषा प्रेमियों के लिये अत्यन्त मनोरंजक और महत्वपूर्ण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं हैं।

लेखक ने भाषा सम्वन्धी विवेचना के साथ पाठ-शोध का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह भाषा और साहित्य की कई उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होगा, ऐसा विश्वास है। शब्दार्थ और विस्तृत शब्द सूची देकर सम्पादक ने पुस्तक का महत्त्व बढ़ा दिया है। इन बातों से पुस्तक साहित्य और भाषा के शिक्षार्थियों के लिये अधिक उपयोगी हो गई है।

शिवप्रसाद जी की इस परिश्रम पूर्वक लिखी हुई पहली विवेचना और निष्ठा पूर्वक सम्पादित प्रथम पुस्तक को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है परमात्मा से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि उन्हें अधिक शक्ति और सामर्थ्य दें ताकि वे निरन्तर साहित्य की सेवा करके उसे समृद्ध बनाते रहें।

काशी
२८-७-५५

— हजारी प्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

प्रथम-खण्ड

[अवहट्ठ भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषाशास्त्रीय-अध्ययन]

दूसरा—खण्ड

[पाठशोध, विभिन्न प्रतियाँ, विद्यापति का समय-पाठ अर्थादि]

प्रथम खण्ड

अवहट्ठ भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

अवहट्ट भाषा

अवहट्ट शब्द का इतिहास

भाषा-शास्त्रियों के बीच अवहट्ट काफ़ी विवाद का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कभी इसे मैथिल अपभ्रंश, कभी संक्रान्तिकालीन भाषा और कभी पिंगल आदि नाम दिये हैं। यह विचारणीय है कि अवहट्ट शब्द क्या है और इसका प्रयोग अब तक के उपलब्ध साहित्य में किस-किस रूप में हुआ है।

१. अवहट्ट का सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ई०) में मिलता है। राजसभाओं में भाट जिन छः भाषाओं का वर्णन करते हैं उनमें एक अवहट्ट भी है :

पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहट्ट, पैशाची, शौरसेनी
मागधी, छहु भाषाक तत्त्वज्ञ, शकारी, आभीरी, चांडाली,
सावली, द्राविली, औतकली, विजातिया, सातहु,
उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ४४ ख।

२. दूसरा प्रयोग विद्यापति की कीर्तिलता में हुआ है। अपनी भाषा के बारे में विचार व्यक्त करते हुए कवि कहता है :

सक्कय वाणी बुहअन भावइ
पाउंअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा

कीर्तिलता १।१९-२२

३. तीसरा प्रयोग प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने किया है उनकी राय से प्राकृत पैंगलम् की भाषा अवहट्ठ ही है।

पढमं भास तरंडो
णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका : प्रथमो भाषातरंड: प्रथम आद्य: भाषा अवहट्ठ भाषा
यया भाषया अयं ग्रंथो रचित: सा अवहट्ठ भाषा
तदया इत्यर्थ: त···प्प पारंप्राप्नोति तथा पिंगल

प्रणीत छन्दः शास्त्रं प्राययावहट्ट भाषारचितैः तद्ग्रन्थ
पारंप्राप्नोतीति भावः सो पिंगल णाओ अअइ उत्कर्षेण वर्तते ।

प्राकृत पैंगलम् पृ० १ ।

४. चौथा प्रयोग संदेशरासक के रचयिता अद्दहमाण ने किया है ।

अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भाषाए
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहि

सन्देशरासक, ६

इन चारों प्रयोगों पर विचार करने से पता चलता है कि अवहट्ट का प्रयोग सब जगह अपभ्रंश के लिए ही किया गया है । षट्भाषा प्रसंग में सर्वत्र संस्कृत प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का ही नाम लिया जाता है । षट्भाषा का रूढ़ प्रयोग हमारे साहित्य में कई जगह हुआ है । लोष्ठदेव कवि की प्रशंसा में मंख कहता है कि छः भाषाएँ उसके मुख में सदैव निवास करती हैं ।[1] जयानक सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज की बड़ाई करता है और कहता है कि छः भाषाओं में उसकी शक्ति थी ।[2] ये छः भाषाएँ कौन थीं । मंख के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, अपभ्रंश, मागधी, पैशाची और देशी की गणना होती थी :

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा ।
ततोपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजाऽपि च ।।

नवीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में छः भाषाओं के प्रसंग में अपभ्रंश को भी स्थान दिया है ।

प्राकृत संस्कृत मागध पिशाचभाषाश्च शौरसैनी च
षष्ठोत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।

काव्यालंकार २।१

ऊपर के श्लोक की छः भाषाएँ ज्योतिरीश्वर के वर्णरत्नाकर के उदाहरण से पूर्णतया मेल खाती हैं । इन प्रसंगों से स्पष्ट मालूम होता है कि अपभ्रंश को ही ज्योतिरीश्वर ने अवहट्ट कहा है ।

१. मुखे यस्य भाषाः षडभिशेरते (श्रीकंठ चरित : अन्तिसर्ग)

२. वाक्येऽपि क्रीडा जिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि
जयन्ति सोमेश्वरनन्दनस्य षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि

पृथ्वीराज विजय (प्र० सं) ।

विद्यापति और अद्दहमाण ने संस्कृत प्राकृत और अवहट्ट इन तीन भाषाओं की चर्चा की है। यह भाषात्रयी भी काफी प्रसिद्ध है। संस्कृत प्राकृत के साथ अपभ्रंश की तीन भाषाओं में गणना बहुत लोगों ने की है।

भाषा के विकास क्रम में संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश की गणना होती ही है। भामह, दंडी आदि आलंकारिकों द्वारा प्रयुक्त भाषात्रयी में अपभ्रंश को सदा तीसरा स्थान दिया गया है। बलभी नरेश धारसेन के ताम्रपत्र में भी तीन भाषाओं के क्रम में तीसरा स्थान अपभ्रंश का ही है। इस प्रकार भाषात्रयी के प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश का क्रम रूढ़ मालूम होता है। अतः विद्यापति की चौपई और अद्दहमाण की गाथा का अवहट्ट शब्द भी इस भाषात्रयी के क्रम को देखते हुए, अपभ्रंश के लिए ही व्यवहृत मालूम पड़ता है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है अवहट्ट शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के अर्थ में ही हुआ है। अवहट्ट शब्द की तरह अपभ्रंश के द्योतक कुछ और शब्दों का भी सन्धान मिलता है। अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ आदि शब्दों के प्रयोग प्राचीन लेखकों की रचनाओं में मिलते हैं। अवहंस शब्द का प्रयोग प्राकृत भाषा के एक कवि ने किया है। अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका में श्री एल० बी० गाँधी ने आठवीं शताब्दी के उद्योतनसूरि की 'कुवलयमाला कहा' का एक उद्धरण दिया है, जिसमें अवहंस शब्द का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा है कि अपभ्रंश शुद्ध हो या कि संस्कृत-प्राकृत मिश्रित हो, वह पहाड़ी कुल्या की तरह अप्रतिहतगति है तथा प्रणय कुपित प्रियतमा के संलाप की तरह मनोहर है।[१] अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अवब्भंस के रूप में भी होता था।[२] अपभ्रंश के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों ने इसी अर्थ में अपभ्रंश शब्द के लिए अवहंस और अवहत्थ का प्रयोग किया है। पुष्पदन्त कवि संस्कृत और प्राकृत के बाद 'अवहंस' का नाम लेते हैं।[3] प्रसिद्ध कलिकालसर्वज्ञ कवि स्वयंभू ने अपनी रामायण में अवहत्थ शब्द का प्रयोग किया है।[४]

१. ता किं अवहंसं होइ ? तं सक्कय पय उभय सुद्धासुद्ध पय सम तरंग रंगत वग्गिरं, पणय कुविय पियमाणिनि समुल्लाव सरिसं मणोहरम्।
२. किं चि अवब्भंस कआ दा।
(अल्फ्रेड मास्टर द्वारा B. S. O. A. S. भाग १३-२ में उद्धृत)
३. सक्कय पायउ पुणु अवहंसउ, (महापुराण, सन्धि ५ कड़वक १८)
४. अवहत्थे वि खलु यणु णिरवसेसु रामायण १-४ हिन्दी काव्य धारा

अब हम यदि इन शब्दों के प्रयोगों के कालक्रम पर विचार करें तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। संस्कृत के आलंकारिकों ने अपभ्रंश भाषा के लिए सर्वत्र 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया, या यह कि उनके द्वारा रखा हुआ यह नाम ही इस भाषा के लिए रूढ़ हो गया। किन्तु प्राकृत के कवियों ने इसे अवहंस कहा। अपभ्रंश के कवियों, पुष्पदन्त आदि, ने भी इसे अवहंस ही कहा। 'अवहट्ठ' कहा अद्दहमाण ने, प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने, विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने। इस आधार पर विचार करने से लगता है कि 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने किया। क्या इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती अपभ्रंश के इन लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर किया। अपभ्रंश या अवहंस या बहुप्रचलित 'देसी' शब्द का भी प्रयोग कर सकते थे; परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि अवहट्ठ शब्द पीछे का है और इसका प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिए किया। वंशीधर ने तो संस्कृत की टीका में सर्वत्र 'अवहट्ठ' ही लिखा, जबकि संस्कृत में अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का प्रयोग ही प्रायः होता था।

कहना चाहें तो कह सकते है कि वह प्रयोग जानकर हुआ और 'अपभ्रष्ट' की भी भ्रष्टता (भाषाशास्त्र की शब्दावली में विकास) दिखाने के लिए किया गया, यानी इस शब्द के मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी।

अवहट्ठ और परवर्ती अपभ्रंश

'अवहट्ठ' नाम परवर्ती अपभ्रंश के कवियों की इच्छा से रखा गया हो या जिस भी किसी कारण से इसका प्रयोग हुआ हो, इसकी शब्दगत शक्ति इसे अपभ्रंश से भिन्न बताने में असमर्थ है। यह वस्तुतः परिनिष्ठित अपभ्रंश की ही थोड़ी बढ़ी हुई भाषा का रूप है और इसके मूल में पश्चिमी अपभ्रंश की अधिकांश प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। परवर्ती अपभ्रंश भाषा की दृष्टि से परिनिष्ठित से भिन्न हो गया था। उसमें बहुत से नए विकसित तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। विभक्तियों के एकदम नष्ट हो जाने अथवा लुप्त हो जाने के कारण अपभ्रंश काल में ही परसर्गों का प्रयोग आरंभ हो गया था, उनकी संख्या इस काल में और भी बढ़ गई। वाक्य के स्थानक्रम से अर्थबोध की प्रणाली निर्विभक्तिक प्रयोग का परिणाम थी, वह और भी सबल हुई। सर्वनामों तथा क्रियापदों में

बहुत सी नवीनताएँ दिखाई पड़ीं। इन सबको समष्टिगत रूप से देखते हुए यदि इस काल की भाषा के लिए अपभ्रंश से भिन्न किसी नाम की तलाश हो तो वह नाम बिना आपत्ति के 'अवहट्ठ' हो सकता है। जैसा पहले ही कहा गया, इस शब्द में इस प्रकार के अर्थ की कोई ध्वनि न होते हुए भी उसके प्रयोक्ताओं के कालक्रम और उनकी भाषा की विशेषताओं को देखते हुए यह नाम कोई बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस निबंध में हम इसी परवर्ती अपभ्रंश के लिए यह नाम स्वीकार करते हैं।

हमारे विचार से अवहट्ठ परवर्ती अपभ्रंश का वह रूप है जिसके मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश यानी शौरसेनी है। व्यापक प्रचार के कारण इसमें कई रूप दिखाई पड़ते हैं। परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ भिन्न-भिन्न स्थानों की क्षेत्रीय भाषाओं से प्रभावित हुआ है, जैसा हर साहित्य-भाषा होती है। इसके भीतर नाना क्षेत्रों के शब्द रूप मिलेंगे। चाहे तो पश्चिमी-पूर्वी भेद भी कर सकते हैं, पर इन तमाम विभिन्नताओं के भीतर इसका एक ऐसा भी ढाँचा है जो प्रायः एक-सा है। क्षेत्रीय भाषाओं का रंग कभी-कभी बहुत गाढ़ा हो गया है, वहाँ इसके ढाँचे को ढूँढ़ सकना मुश्किल है। पर इससे पश्चिम से पूरब तक इसके व्यापक प्रभाव का पता चलता है। इसी अवहट्ठ के बारे में हम आगे विचार करेंगे। अन्य लोगों ने इसका कुछ भिन्न अर्थ भी किया है वहाँ इस शब्द के स्थान पर भ्रम निवारण के लिए परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रयोग है।

अवहट्ठ मिथिलापभ्रंश नहीं है

अवहट्ठ भाषा के समुचित शास्त्रीय अध्ययन के अभाव के कारण कुछ विद्वानों ने इसे मिथिलापभ्रंश मान लिया। इसके मुख्यतया दो कारण थे। पहला यह कि अब तक एकमात्र कीर्तिलता अवहट्ठ की प्रतिपाद्य सामग्री बनी हुई थी। दूसरा कारण अवहट्ठ शब्द के प्रयोग से सम्बद्ध है। विद्वानों को विश्वास था कि अवहट्ठ शब्द का प्रयोग अब तक केवल दो ही स्थानों में हुआ है। एक स्वयं विद्यापति ने कीर्तिलता में ही किया है, दूसरा प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर में मिलता है। ये दोनों प्रयोग निःसन्देह मैथिल कवियों ने किये हैं। अतः विद्वानों ने इन प्रयोगों के आधार पर अवहट्ठ को मिथिलापभ्रंश कह दिया। फिर भी जिन लोगों ने अवहट्ठ को मिथिलापभ्रंश माना है उनके तर्कों और प्रमाणों पर समुचित विचार अपेक्षित है। सर्व प्रथम कीर्तिलता के मान्य सम्पादक डॉ० बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भूमिका में कीर्तिलता की भाषा को (अर्थात् अवहट्ठ को) आधुनिक मैथिली और मध्यकालीन प्राकृत के बीच

की बताया।[१] दूसरी जगह उन्होंने कीर्तिलता के अपभ्रष्ट को मैथिली अपभ्रंश कहना उचित समझा।[२]

सक्सेना जी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोई खास तर्क नहीं उपस्थित किए। शायद उन्होंने इस विषय को विवादास्पद समझा ही नहीं अथवा उन्होंने कीर्तिलता की भाषा की प्रान्तीय बिशेषताओं पर दृष्टि रखते हुए यह चलता वक्तव्य दे दिया। कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का रंग अवश्य है, परन्तु उसके मूल में शौरसेनी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। कीर्तिलता की भाषा पर खास रूप से विचार करते समय हम इधर ध्यान आकृष्ट करेंगे। डॉ० उमेश मिश्र, डॉ० जयकान्त मिश्र ने भी कीर्तिलता की भाषा को मिथिलापभ्रंश स्वीकार किया है। इस दिशा में सबसे अधिक परिश्रम के साथ स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर ने अध्ययन किया और उन्होंने अवहट्ठ को मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने के लिए बहुत से कारण गिनाए हैं।[3] कई अन्य विद्वान् भी उनके तर्क और कारणों से सहमत हैं अतः परीक्षा के लिए उनकी स्थापनाओं पर विचार आवश्यक है।

शिवनन्दन ठाकुर ने अवहट्ठ को मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित कारण बताये हैं।

१—अवहट्ठ के ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों शब्द मिलते हैं जो हेमव्याकरण के अपभ्रंश अध्याय से सिद्ध नहीं हो सकते।

२—अवहट्ठ कभी शौरसेनी अपभ्रंश नहीं हो सकता। इस प्रसंग में उन्होंने कीर्तिलता के कुछ पद्य तथा पुरानी अपभ्रंश का निम्न दोहा उद्धृत किया है।

> **जइ केवइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु**
> **पाणिउ नवइ सरावि जिवं सव्वंगों पइसीसु**

दोनों की तुलना करते हुए उन्होंने बताया है कि कीर्तिलता की 'थि' विभक्ति (वर्तमान अन्य पुरुष) तथा 'ल' (भूतकाल) विभक्ति का व्यवहार अपभ्रंश में नहीं होता। सम्बन्ध की विभक्ति 'क' भी अपभ्रंश में नहीं पाई जाती। अपभ्रंश में 'पावीसु' 'करीसु' 'पइसीसु' शब्दों की (भविष्यत् काल) और

---

१. कीर्तिलता ना० प्र० सभा। १९८६ संवत् पृ० २३
२. वही, पृ० २०
३. महाकवि विद्यापति : 'अवहट्ठ' सम्बन्धी निबन्ध

सरावि शब्द की 'इ' (अधिकरण काल) विभक्तियाँ कीर्तिलता में नहीं पायी जातीं। पूर्वकालिक प्रत्यय ओप्पिणु तथा ओप्पि, सर्वनाम एहो तथा मह्नु मिथिलापभ्रंश में नहीं पाये जाते। इस तरह मालूम होता है कि कीर्तिलता का अवहट्ट शौरसेनी अपभ्रंश नहीं है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऊपरका तर्क सुनीति बाबू के उस वक्तव्य के विरोध में दिया गया है जिसमें उन्होंने अवहट्ट को शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप स्वीकार किया है।

३—सत्रहवीं शताब्दी के लोचन कवि की रागतरंगिणी के एक अंश से यह पता चलता है कि मिथिलापभ्रंश भी एक भाषा थी और वह मध्यदेशीय भाषा अर्थात् शौरसेनी से भिन्न थी।

४—ब्रजबुलि जिसे सुनीति बाबू ने विचित्र पद्य में व्यवहृत दुर्बोध भाषा कहा है और जिसमें पश्चिमी हिन्दी के रूपों के साथ बँगला और मैथिली का सम्मिश्रण बताया है, वस्तुत: प्राचीन मैथिली ही है।
(यहाँ प्राचीन मैथिली का अर्थ शायद मिथिलापभ्रंश से है)

५—प्राकृतपैंगलम् के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अवहट्ट कौन सी भाषा है और इस ग्रन्थ में अवहट्ट के उदाहरण हैं कि नहीं, क्योंकि इस ग्रंथ में अवहट्ट शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

६—बाद में उन्होंने कीर्तिलता के कुछ संज्ञा सर्वनाम, लिंग, वचन, विशेषण, क्रिया आदि रूपों को लेकर उनकी मैथिली रूपों से तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कीर्तिलता की भाषा मिथिलापभ्रंश है।

जब हम इन तर्कों पर विचार करते हैं तो यह कहते मुझे संकोच नहीं होता कि सत्य की कसौटी पर ये बिल्कुल ही अप्रामाणिक और लचर सिद्ध होते हैं। पहले तर्क के विषय में कोई भी पूछ सकता है कि हेम व्याकरण के अपभ्रंश अध्याय से सिद्ध होने का क्या मतलब? भविसयत्तकहा की भूमिका में गुणे ने बहुत से ऐसे शब्दों के उदाहरण दिए हैं जो हेम व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। परमात्मप्रकाश और योगसार में भी ऐसे उदाहरणों की भरमार है। जो हो, खुद शिवनन्दन ठाकुर ने अपने पक्ष के मंडन के लिए एक भी उदाहरण नहीं दिया जो हेम व्याकरण से सिद्ध न होते हों, अत: उस दिशा में विचार की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। अनुमान के आधार पर लगता है कि ऐसे शब्दों से उनका तात्पर्य या तो मैथिली के शब्दों से है या उन अपभ्रंश शब्दों से है जो घिस कर

दूसरा रूप ले चुके हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि अवहट्ठ चाहे वह पश्चिमी हो या पूर्वी, उस पर विभिन्न प्रान्तों की बोलियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जहाँ तक अन्य शब्दों के विकसित या परिवर्तित रूप का सम्बन्ध है वे स्पष्टतः अपभ्रंश के विकसित रूप हैं जो परवर्ती अपभ्रंश में पूर्ववर्ती से थोड़ा भिन्न हो सकते हैं। उन्होंने कीर्तिलता के कुछ पद्य और 'जइ केवइ पावीसु' वाले दोहे की तुलना की है और सिद्ध किया है कि कीर्तिलता की भाषा शौरसेनी नहीं है। इस तुलना से स्पष्ट रूप से जिन बातों की ओर ध्यान जाना चाहिये था, उन पर विचार न करके और ही प्रश्न उठा दिया गया है। इस तुलना से तो स्पष्ट मालूम होना चाहिए था कि अपभ्रंश (पूर्ववर्ती) और अवहट्ठ (परवर्ती अपभ्रंश) का क्या अन्तर है। खैर 'थि' विभक्ति का प्रयोग शौरसेनी में नहीं होता, कीर्तिलता में होता है। कीर्तिलता में 'थि' विभक्ति का प्रयोग केवल १३ बार हुआ है जब कि अन्य पुरुष वर्तमान में सामान्य वर्तमान के होइ, कहइ आदि तिङन्त क्रिया रूपों का प्रयोग सैकड़ों बार हुआ है। कृदन्त से बने वर्तमान काल के रूपों का सामान्य वर्तमान के रूप में भी बहुत प्रयोग पाया जाता है। उसी प्रकार ल (भूतकाल) विभक्ति का प्रयोग भी प्रादेशिक प्रभाव है। पूर्वी क्षेत्र में यह प्रवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है। यह मैथिल की नहीं सम्पूर्ण मागधी अर्धमागधी-निसृत भाषाओं की अपनी विशेषता है। यह विभक्ति मराठी में भी मिलती है। यह सत्य है कि सम्बन्ध की 'क' विभक्ति शौरसेनी में नहीं पाई जाती। कीर्तिलता में षष्ठी में प्रयुक्त परसर्गों में क के अलावा करे, को, करी, कर, का, को, के आदि रूप मिलते हैं। इसमें क और के मागधी प्रभावित हैं; लेकिन बाकी सब शौरसेनी में मिलते हैं। कर, करी और को तो ब्रज में पाये जाते हैं पर उनका मैथिल में मिलना असम्भव ही है। पावीसु, करीसु आदि के रूपों के आधार पर भविष्य काल की विभक्तियों का निर्णय करना मुश्किल है। कीर्तिलता में 'होसउ' 'होसइ' के रूप में 'स' विभक्ति वाले रूप भी मिलते ही हैं। इसके अतिरिक्त 'ह' विभक्ति वाले रूप, जो शौरसेनी में भी मिलते हैं, बुज्झिह, करिह, धरिज्जिह, सीझिहइ आदि पदों में देखे जा सकते हैं।

साराविं में अधिकरण की 'इ' विभक्ति अवश्य है किन्तु यह 'इ' विभक्ति ही केवल शौरसेनी अपभ्रंश में हो ऐसी बात नहीं है। अधिकरण की विभक्ति 'हि' और 'इ' दोनों का अपभ्रंश में प्राचुर्य है। अकारान्त शब्दों के साथ 'इ' का रूप ही 'ए' हो जाता है। इस 'ए' रूप का प्रयोग कीर्तिलता में सैकड़ों बार हुआ है। 'हि' विभक्तियुक्त प्रयोगों का भी बाहुल्य है। पूर्वकालिक प्रत्यय ओप्पिणु तथा

ओप्पि का प्रयोग कीर्तिलता में नहीं हुआ है। परन्तु पूर्वकालिक क्रिया के लिए केवल ओप्पि और ओप्पिणु का ही प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश में नहीं होता। वहाँ तो आठ प्रकार के प्रत्यय प्रयोग में आते हैं।[1]

इ, इउ, इवि, अवि
एप्पि, एप्पिणु, एवि एविणु

कीर्तिलता में 'इ' का प्रयोग बहुलांश में पाया जाता है। एहो तथा महु पश्चिमी अपभ्रंश में मिलते हैं और कीर्तिलता में नहीं मिलते। एहो का ही रूप एहु (२।२३७) कीर्तिलता में मिलता है और तुझ, तासु, तसु, जो, केहु, कहु, जेन, जसु आदि बहुत से पश्चिमी अपभ्रंश के सर्वनाम कीर्तिलता के प्रति पृष्ठ पर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी इस तुलना का कोई मूल्य नहीं और इसके आधार पर यह कदापि नहीं सिद्ध होता कि कीर्तिलता की भाषा, जिसे वे अवहट्ट नाम देते हैं, शौरसेनी अपभ्रंश से कोई सम्बन्ध नहीं रखती।'

सत्रहवीं शताब्दी के लोचन कवि की रागतरंगिणी का वह अंश इस प्रकार है।

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलाभ्रंशभाषायां श्री विद्यापतिनिबद्धस्ता मैथिलीगीतगतयः प्रदर्शन्ते।

इस गद्यांश से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि लोचन कवि के मिथिलापभ्रंश का तात्पर्य अवहट्ट से या कीर्तिलता की भाषा से नहीं है। उनका तात्पर्य स्पष्ट रूप से विद्यापति की पदावली की भाषा से है। वे "मैथिलीगीतगतयः" कह कर ही इसे स्पष्ट कर देते हैं। वे देशी भाषाओं का वर्णन कर रहे थे इसी से उन्होंने 'देश्यामपि स्वदेशीयत्वात्' कहा। मैथिल भाषा उनके लिए स्वदेशी थी। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग वैयाकरणों, लेखकों एवं कवियों ने बड़ी स्वच्छन्दता से किया है। यहाँ अपभ्रंश का प्रयोग मैथिली भाषा के लिए ही हुआ है, जिसमें विद्यापति के पद लिखे गए हैं।

ब्रजबुलि का प्रचार मिथिला में अवश्य था; किन्तु वह प्राचीन मैथिली ही है इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ब्रजबुलि ब्रजभाषा और मैथिली का सम्मिश्रण है। ब्रजबुलि के प्रसार से ही यह बात और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि कनिष्ठ शौरसेनी अपभ्रंश का संक्रान्ति युग में पूरे बंगाल, मिथिला आदि में फैल जाना मुश्किल नहीं है। "ब्रजबुलि इस बातका द्योतक

---

१. हेम। ८।४।३३९, ४०।

है कि एक बनावटी भाषा भी दूसरे प्रान्त में काव्य भाषा के रूप में किसी प्रकार ग्रहण की जा सकती है और इसी से इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट मध्यदेश के अलावा बंगाल आदि में छाया हुआ था।"[१]

जहाँ तक प्राकृत पैंगलम् की भाषा का सवाल है उसके टीकाकार ने उसे अवहट्ट कहा है।[२] यद्यपि उस अवहट्ट का अर्थ शिवनन्दन ठाकुर का अवहट्ट (मिथिलापभ्रंश) नहीं है। प्राकृत पैंगलम् परवर्ती अपभ्रंश का अच्छा नमूना है और उसकी भाषागत विशेषताओं पर आगे विचार किया जायेगा।

अन्त में उन्होंने जो कीर्तिलता के कुछ रूपों और मैथिली भाषा के रूपों में साम्य दिखाए हैं वे बहुत थोड़े हैं और उन्हें देशगत विशेषताएँ मान लेने से तर्क समाप्त हो जाता है। ऊपर के विवाद का उत्तर विस्तार से इसीलिए देना पड़ा कि उससे अवहट्ठ को मिथिलापभ्रंश मानने के भ्रम का परिहार तो हो ही, साथ ही इसके मूल में पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ हैं, इसकी भी हल्की झलक मिल जाय। इसी तरह अवहट्ट को केवल प्रान्तीय प्रभावों को दृष्टि में रखकर क्षेत्रीय नाम भी नहीं देने चाहिए।

अवहट्ट और पिंगल

शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश (अवहट्ट) और पिंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही पिंगल है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश १००० ईस्वी और ब्रजभाषा १५०० ई० के बीच की कड़ी था, अवहट्ट के नाम से अभिहित होता था, प्राकृतपैंगलम् में इस भाषा में लिखी कविताओं का संकलन हुआ था। राजपूताना में अवहट्ट पिंगल नाम से ख्यात था और स्थानीय चारण कवि इसे सुगठित और सामान्य साहित्यिक भाषा मानते हुए इसमें भी काव्य-रचना करते थे, साथ ही डिंगल और राजस्थानी

१. डॉ० चटर्जी, ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आव् बेंगाली लैंग्वेज़ पृ० १०४
२. प्रथम....आद्य भाषा अवहट्ट भाषा...प्रा० पै० गाहा १ टीका

बोलियों में भी।''[1] डॉ० चाटुर्ज्या ने इस मान्यता के लिए कि अवहट्ट ही राजस्थान में पिंगल कहा जाता था, कोई प्रमाण नहीं दिया। डॉ० तेसीतोरी हेमचन्द्र के बाद के अग्रसरीभूत अपभ्रंश को दो मुख्य श्रेणियों में बाँटते हैं। गुजरात और राजस्थान के पश्चिमी भाग की भाषा जिसे वे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं और दूसरी शूरसेन और राजस्थान के पूर्व भाग की भाषा जिसे वे पिंगल अपभ्रंश नाम देना चाहते हैं। ''विकासक्रम से इस भाषा (अपभ्रंश) की वह अवस्था आती है जिसे मैंने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहा है। यह ध्यान देने की बात है कि पिंगल अपभ्रंश उस ,भाषा समूह की शुद्धि प्रतिनिधि नहीं है जिससे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई बल्कि इसमें ऐसे तत्व हैं जिनका आदि स्थान पूर्वी राजपूताना मालूम होता है। और जो अब मेवाती, जयपुरी, मालवी आदि पूर्वी राजस्थानी बोलियों तथा पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) में विकसित हो गये हैं।''[2] डॉ० तेसीतोरी के पिंगल अपभ्रंश नाम के पीछे राजस्थान की पिंगल भाषा की परम्परा और प्राकृत पिंगल सूत्र में संयुक्त 'पिंगल' शब्द का आधार प्रतीत होता है। राजस्थानी साहित्य में डिंगल की तुलना में प्राय: पिंगल का नाम आता है। एक ओर यह पिंगल नाम और दूसरी ओर पिंगल सूत्र की भाषा में प्राचीन पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा के तत्वों को देखते हुए डॉ० तेसीतोरी ने इस भाषा का नाम पिंगल अपभ्रंश रखना उचित समझा।

पिंगल को प्राय: सभी विद्वान् ब्रजभाषा से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध मानते हैं। हालाँकि डिंगल सम्बन्धी वाद-विवाद के कारण इस शब्द की भी काफी विवेचना हुई और कई प्रकार के मोह और न्यस्त अभिप्रायों के कारण जिस प्रकार डिंगल शब्द के अर्थ, इतिहास और परम्परा को वितण्डावाद के चक्र में पड़ना पड़ा, वैसे ही पिंगल शब्द को भी। पिंगल के महत्व और उसके सांस्कृतिक दाय को समझने के लिए आवश्यक है कि हम स्पष्ट और निष्पक्ष भाव से इस शब्द के इतिहास को ढूँढ़ें। केवल डिंगल के तुक पर पिंगल और पिंगल के तुक पर डिंगल की उत्पत्ति का अनुमान लगा लेना और अपने मत को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताना न तो तथ्य जानने का सही तरीका कहा जा सकता है और न तो इससे किसी प्रकार विवाद के समाधान का प्रयत्न ही कह सकते हैं।

१. ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेंट ऑव द बेंगाली लैंग्वेज़, पृ० ११३-१४।
२. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६।

डॉ० रामकुमार वर्मा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं : "डिंगल काव्य पिंगल से अपेक्षाकृत प्राचीन है, जब ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई और उसमें काव्य रचना की जाने लगी तब दोनों में अन्तर बताने के लिए दोनों का नामकरण हुआ। इतना तो निश्चित ही है कि ब्रजभाषा में काव्य रचना के पूर्व ही राजस्थान में काव्य रचना होने लगी थी। अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल नाम होने की अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है कि डिंगल के आधार पर पिंगल शब्द का उपयोग किया गया होगा। इस कथन की सार्थकता इससे भी ज्ञात होती है कि पिंगल का तात्पर्य छन्द शास्त्र से है। ब्रजभाषा न तो छन्द शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं, अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।"[1] ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगळ' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।[2] श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्रीजी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्रीजी ने अल्लूजी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।[3] किन्तु शास्त्रीजी ने भी भाषा की बात नहीं की, उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डागल कही जाती रही होगी, बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्रीजी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द-रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं० १९५४, पृ० १३९-४० ।

१. पिलोमिनेरी रिपोर्ट ऑन द ऑपरेशन इन सर्च ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑव बॉर्डिक क्रोनकिल्स, पृ० १५ ।

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७ ।

और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।[1] ढोला मारू रा दूहा के सम्पादकगण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं : डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलायी। आगे चलकर उसके नाम-साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।[2] इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्ती बताया गया है।

डॉ० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार-शृंखला में साम्य की कोई गुंजाइश नही मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रताजन्य और प्रमाणहीन मालूम होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन हैं और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गयी, जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गयी। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के पूर्व ही राजस्थान में काव्य-रचना होती थी' यह कोई तर्क नहीं है। राजस्थान में काव्य-रचना होती थी, इसका अर्थ यह तो नहीं कि डिंगल में ही काव्य-रचना होती थी, राजस्थान में संस्कृत और प्राकृत में भी काव्य-रचना हो सकती है। जो भी हो यह तर्क कोई बहुत प्रमाणित नहीं प्रतीत होता। पिंगल छन्द-शास्त्र को कहते हैं फिर ब्रजभाषा का पिंगल नाम क्यों पड़ा ?

पिंगल और डिंगल दोनों शब्दों के प्रयोगों पर भी थोड़ा विचार होना चाहिए। पिंगल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग जो अब तक ज्ञात हो सका है, गुरु गोविन्द सिंह के दशम ग्रन्थ में दिखायी पड़ता है। सिक्ख सम्प्रदाय के प्रसिद्ध गुरु गोविन्द सिंह ब्रजभाषा के बहुत बड़े कवि भी थे। उन्होंने अपने 'विचित्र नाटक' (१७२३ के आस-पास) में पिंगल भाषा का जिक्र किया है।[3] जब कि

---

१. जर्नल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, भाग १०, १८१४, पृ० २७३।

२. ढोला मारु रा दूहा, काशी संवत् १९९१, पृ० १६०।

३. दशमग्रन्थ, श्री गुरुमत प्रेस, अमृतसर, पृ० ११७।

डिंगल शब्द का सबसे पहला प्रयोग सम्भवत: जोधपुर के कवि राजा बाँकीदास के 'कुकबिबत्तीसी' नामक ग्रन्थ में १८७२ संवत् में हुआ।[1]

डींगलिया मिलिया करैं पिंगल तणौ प्रकाश।
संस्कृत ह्वै कपट सज पिंगल पढ़ियो पास॥

बाँकीदास के पश्चात् उनके भाई या भतीजे बुधाजी ने अपने 'दुबावेत' में दो-तीन स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है।

सब ग्रंथ समेत गीता कूं पिछाणै
डींगल का तो क्या संस्कृत भी जाणै। १५५
और भी आसीऊं कवि बङ्क
डींगल, पींगल संस्कृत फारसी में निसंक॥ १५६

स्पष्ट है कि 'डींगल' कवि की मातृभाषा नहीं बल्कि प्रादेशिक भाषा थी इसलिए उसका वह पूर्ण ज्ञाता था किन्तु वह गर्व से कहता है कि डिंगल तो डिंगल संस्कृत भी जानता है। डिंगल एक कृत्रिम राजस्थानी चारण-भाषा थी जैसा कि शौरसेनी अपभ्रंश की परवर्ती पिंगल। मातृभाषाएँ तो मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी आदि बोलियाँ थीं। इसलिए राजस्थानी चारण के लिए भी डिंगल का ज्ञान कुछ महत्त्व की बात थी, उसे सीखना पड़ता था। डिंगल नामकरण राजस्थानी भाषा के लिए निश्चित ही पिंगल के आधार पर दिया गया। सम्भव है कि पूर्वी या मध्यदेशीय राजदरबारों में पिंगल के बढ़ते हुए प्रभाव और यश को देखकर राजस्थानी चारणों ने अपनी बोली मारवाड़ी का एक दरबारी या साहित्यिक रूप बनाया जिसे उन्होंने डींगल या डिंगल नाम दिया।

किन्तु हमारे लिए यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि पिंगल पुरानी है या डिंगल। महत्वपूर्ण यह है कि अवहट्ट या पुरानी ब्रजभाषा का नाम पिंगल कब और क्यों पड़ा। पिंगल छन्दशास्त्र का अभिधान है, इसे भाषा के लिए प्रयुक्त क्यों किया गया। भाषाओं के नामकरण में छन्द का प्रभाव कम नहीं रहा है। वैदिक भाषा का नाम छन्दस् भी था। कभी-कभी कोई भाषा किसी खास छन्द विशेष में ज्यादा शोभित होती है। भाषाओं के अपने-अपने रुचिकर छन्द होते हैं। गाहा छन्द प्राकृत का सर्वप्रिय छन्द था। गाथा छन्द संस्कृत में भी मिलते हैं, अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य संबन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा

१. बाँकीदास ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ८१।

कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश काल में उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दव्वसहावपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माइल्लधवल ने किसी शुभंकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था :

दव्वसहायपयासं दोहयबंन्धेन आसिज दिट्ठं
तं गाहाबन्धेण च रइयं माइल्लधवलेण।
सुणियउ दोहरत्थं सिग्धं हसिउण सुहंकरो भणइ
एत्थ ण सोहइ अत्थो साहाबंधेण तं भणह॥

प्राकृत को आर्ष या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक-भौं चढ़ाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म-प्रेमी बर्दाश्त करेगा कि कोई पवित्र धर्मग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रश की ओर संकेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसंग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होड़ा-होड़ी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहा विद्यया स्पर्धमानो' कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक-एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है।[1] परवर्ती काल में 'रेख़ता' छन्द में लिखी जानेवाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेख़ता' भाषा कहा गया। 'रेखते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेख़ता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

ब्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह झगड़ा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में ब्रज मिश्रित (पछाँही) खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खड़ी बोली में हो ही नहीं सकती, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी ब्रजभाषा के घर में यही झगड़ा हुआ था। उस समय ब्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशतः)

१. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १२७।

की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मँजा हुआ रूप परवर्ती शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। मध्यकाल के अन्तिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप यानी अवहट्ठ विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धों के दोहे इसी भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इस काल में यही भाषा छन्द या कविता के लिए एक मात्र उपयुक्त भाषा मानी जाती थी। १४वीं शती की इस कविता-भाषा का नाम पिंगल-भाषा या छन्दों की भाषा पड़ गया। जाहिर है कि उस समय गद्य भी लिखा जाता रहा होगा। किन्तु यह गद्य या तो संस्कृत या प्राकृत में लिखा जाता था या तो जनपदीय लोकभाषाओं में जो तब तक अत्यन्त अविकसित अवस्था में पड़ी हुई थीं। जनपदीय भाषाएँ पद्य के लिए भी अनुपयुक्त थीं। इस प्रकार शौरसेनी का परवर्ती रूप यानी अवहट्ठ या प्राचीन ब्रजभाषा कविताके लिए सर्वश्रेष्ठ भाषा के रूप में मान्य होकर पिंगल कही जाने लगी। पिंगल नामकरण के पीछे एक और प्रमाण भी दिया जा सकता है। मध्यकाल में राजपूत दरबारों की संगीतप्रियता तथा देशी संगीत और जनभाषा के प्रेम के कारण बहुत से संगीतज्ञ आचार्य कवियोंने संगीत शास्त्रों की रचना की, उन्होंने मध्य देशी भाषा यानी ब्रज में कविताएँ भी कीं। संगीतज्ञ ब्रजभाषा कवियों की एक बहुत गौरवपूर्ण परम्परा आदिकाल से रीतिकाल तक फैली हुई दिखाई पड़ती है। बीकानेर के संगीत आचार्य भावभट्ट जिन्होंने 'अनूप-संगीत रत्नाकर' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना १७५० संवत् में की, ध्रुपद के आचार्य और प्रशंसक थे। इसका लक्षण लिखते हुए उन्होंने 'मध्यदेशीय भाषा' का जिक्र किया है जिसमें ध्रुपद सुशोभित होता था :

गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।
द्विचतुर्वाक्यसम्पन्नं नरनारी कथाश्रयम्
शृंगाररसभावार्थं रागालापपदात्मकम् ।
पादान्तानुप्रासयुक्तं पादान्तयमकं च वा ॥
(अनूप० १६५–६६)

भावभट्ट न केवल मध्यदेशीय भाषा के ध्रुपदों की चर्चा करते हैं साथ ही उसके वस्तुतत्व, रस और तुकादि पर भी अपने विचार व्यक्त करते हैं। यह मध्यदेशीय भाषा अवहट्ठ ही थी, इसमें सन्देह नहीं। मध्यकाल में जयदेव से जो संगीत कविता की परम्परा आरम्भ होती है उसका अत्यन्त परिपाक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है। प्राचीन ब्रज कवियों के संरक्षक नरेश, मुंज, भोज, चन्देल

नरेश परमर्दिदेव आदि न केवल संगीतमर्मी थे बल्कि इनके मतों को संगीत प्रतियोगिताओं में प्रमाण माना जाता था। १३वीं शताब्दी के संगीताचार्य पार्श्वदेव ने अपने संगीतसमयसार ग्रन्थ में उपर्युक्त नरेशों को कई बार प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। इस प्रकार ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था छन्द और संगीत के क्रोड़ में व्यतीत हुई। आज भी संगीतज्ञों के लिए, चाहे वे किसी भी भाषा के बोलनेवाले हों, ब्रजभाषा के बोल ही सबसे ज्यादा मधुर और उपयुक्त मालूम होते हैं। प्रायः सभी प्रधान शास्त्रीय रागों के बोल ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ते हैं। मुसलमान संगीतज्ञ भी प्रधान रागों में ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते हैं। इन तमाम परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर यदि विचार करें तो प्राचीन ब्रजभाषा या अवहट्ट का पिंगल नाम अनुचित नहीं मालूम होगा। पिंगल छन्द शास्त्र का नाम है अवश्य, परन्तु भाषा के लिए उसका प्रयोग हुआ है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

पिंगल नाम के साथ एक और पहलू से विचार हो सकता है। पिंगल कौन थे, इस पर कोई निश्चित धारणा नहीं दिखाई पड़ती। प्राकृतपैंगलम् का लेखक ग्रन्थ के आरम्भ में पिंगलाचार्य की वन्दना करता है और उन्हें 'णाअराए' अर्थात् नागराज कहकर सम्बोधित करता है। नागराज का संबंध 'नागवानी' से अवश्य ही होगा। नाग कौन थे, नागवानी क्या थी, पिंगलाचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का कब प्रणयन किया? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तरित हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहनेवाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाख्यानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ असंख्य निजन्धरी कथाएँ लिपटी हुई हैं। नागजाति के मूल स्थान के बारे में काफ़ी विवाद है। पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था।[१] वेदों में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आनेवाली कई जातियों में एक नाग भी थे। महाभारत के निर्माण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओं में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बोधिसम्प्राप्ति के समय

१. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people Patala or Kashmir valley.
Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legends, Newyork, 1950, pp. 730.

की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मँजा हुआ रूप परवर्ती शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। मध्यकाल के अन्तिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप यानी अवहट्ठ विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धों के दोहे इसी भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इस काल में यही भाषा छन्द या कविता के लिए एक मात्र उपयुक्त भाषा मानी जाती थी। १४वीं शती की इस कविता-भाषा का नाम पिंगल-भाषा या छन्दों की भाषा पड़ गया। जाहिर है कि उस समय गद्य भी लिखा जाता रहा होगा। किन्तु यह गद्य या तो संस्कृत या प्राकृत में लिखा जाता था या तो जनपदीय लोकभाषाओं में जो तब तक अत्यन्त अविकसित अवस्था में पड़ी हुई थीं। जनपदीय भाषाएँ पद्य के लिए भी अनुपयुक्त थीं। इस प्रकार शौरसेनी का परवर्ती रूप यानी अवहट्ठ या प्राचीन ब्रजभाषा कविताके लिए सर्वश्रेष्ठ भाषा के रूप में मान्य होकर पिंगल कही जाने लगी। पिंगल नामकरण के पीछे एक और प्रमाण भी दिया जा सकता है। मध्यकाल में राजपूत दरबारों की संगीतप्रियता तथा देशी संगीत और जनभाषा के प्रेम के कारण बहुत से संगीतज्ञ आचार्य कवियोंने संगीत शास्त्रों की रचना की, उन्होंने मध्य देशी भाषा यानी ब्रज में कविताएँ भी कीं। संगीतज्ञ ब्रजभाषा कवियों की एक बहुत गौरवपूर्ण परम्परा आदिकाल से रीतिकाल तक फैली हुई दिखाई पड़ती है। बीकानेर के संगीत आचार्य भावभट्ट जिन्होंने 'अनूप-संगीत रत्नाकर' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना १७५० संवत् में की, ध्रुपद के आचार्य और प्रशंसक थे। इसका लक्षण लिखते हुए उन्होंने 'मध्यदेशीय भाषा' का जिक्र किया है जिसमें ध्रुपद सुशोभित होता था :

> गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।
> द्विचतुर्वाक्यसम्पन्नं नरनारी कथाश्रयम्
> शृंगाररसभावार्थं रागालापपदात्मकम् ।
> पादान्तानुप्रासयुक्तं पादान्तयमकं च वा ॥
> (अनूप० १६५–६६)

भावभट्ट न केवल मध्यदेशीय भाषा के ध्रुपदों की चर्चा करते हैं साथ ही उसके वस्तुतत्व, रस और तुकादि पर भी अपने विचार व्यक्त करते हैं। यह मध्यदेशीय भाषा अवहट्ठ ही थी, इसमें सन्देह नहीं। मध्यकाल में जयदेव से जो संगीत कविता की परम्परा आरम्भ होती है उसका अत्यन्त परिपाक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है। प्राचीन ब्रज कवियों के संरक्षक नरेश, मुंज, भोज, चन्देल

नरेश परमर्दिदेव आदि न केवल संगीतमर्मी थे बल्कि इनके मतों को संगीत प्रतियोगिताओं में प्रमाण माना जाता था। १३वीं शताब्दी के संगीताचार्य पार्श्वदेव ने अपने संगीतसमयसार ग्रन्थ में उपर्युक्त नरेशों को कई बार प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। इस प्रकार ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था छन्द और संगीत के क्रोड़ में व्यतीत हुई। आज भी संगीतज्ञों के लिए, चाहे वे किसी भी भाषा के बोलनेवाले हों, ब्रजभाषा के बोल ही सबसे ज्यादा मधुर और उपयुक्त मालूम होते हैं। प्रायः सभी प्रधान शास्त्रीय रागों के बोल ब्रजभाषा में हैं। [illegible] मुसलमान संगीतज्ञ भी प्रधान रागों में ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते हैं। इन तमाम परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर यदि विचार करें तो प्राचीन ब्रजभाषा या अवहट्ट का पिंगल नाम अनुचित नहीं मालूम होगा। पिंगल छन्द शास्त्र का नाम है अवश्य, परन्तु भाषा के लिए उसका प्रयोग हुआ है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

पिंगल नाम के साथ एक और पहलू से विचार हो सकता है। पिंगल कौन थे, इस पर कोई निश्चित धारणा नहीं दिखाई पड़ती। प्राकृतपैंगलम् का लेखक ग्रन्थ के आरम्भ में पिंगलाचार्य की वन्दना करता है और उन्हें 'णाअराए' अर्थात् नागराज कहकर सम्बोधित करता है। नागराज का संबंध 'नागवानी' से अवश्य ही होगा। नाग कौन थे, नागवानी क्या थी, पिंगलाचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का कब प्रणयन किया? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तरित हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहनेवाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाख्यानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ असंख्य निजन्धरी कथाएँ लिपटी हुई हैं। नागजाति के मूल स्थान के बारे में काफ़ी विवाद है। पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था।[१] वेदों में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आनेवाली कई जातियों में एक नाग भी थे। महाभारत के निर्माण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओं में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बोधिसम्प्राप्ति के समय

१. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people Patala or Kashmir valley.
Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legends, Newyork, 1950, pp. 730.

उत्थित तूफ़ान में नागराज मुचिलिन्द ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छोटे-छोटे राजे अपने को नागों का वंशज बताते हैं।[1] इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्द्ध कबीला-जीवन बितानेवाली घूमन्तू जाति थी। आभीर, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्त्व है। ब्रजभाषा में मिश्रित होनेवाले अन्य भाषिक तत्त्वों की चर्चा करते हुए भिखारीदास काव्य-निर्णय में नाग-भाषा का भी उल्लेख करते हैं :

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ
मिलै संस्कृत पारसिहुँ पै अति प्रगट जु होइ
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
सहज फारसी हू मिलै षट् विधि कहत बखानि।

काव्यनिर्णय १।१५

जवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आयी हुई जाति की भाषा का संकेत किया है। पर यह नाग-भाषा क्या थी, इसका कोई पता नहीं चलता। मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह अलग ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुहफ़त-उल-हिन्द[2] का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सामुद्रिक तथा फ़ारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग बानी कहा है। यह प्राकृत क्या है? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है जो हम समझते हैं। संस्कृत, प्राकृत और 'भाखा' के बारे में वे कहते हैं 'पहली यानी सहंसकिर्त में विभिन्न विज्ञान कला आदि विषयों पर लिखी हुई पुस्तकें मिलती हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह परलोक की भाषा है। इसे वे आकाशवाणी या देववाणी कहते हैं। दूसरी 'पराकिर्त' है। इस भाषा का प्रयोग राजाओं, मन्त्रियों आदि की प्रशंसा के लिए होता है और इसे पाताल लोक की भाषा कहते हैं,

१. Ibid, pp. 780

२. यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'ऑन द म्यूजिकल मोड्स ऑव द हिन्दूज़' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण भाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने १९३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर ऑव द ब्रज' के नाम से प्रकाशित कराया।

इसीलिए इसे पाताल बानी या नाग बानी भी कहा जाता है।[1] प्राकृत राजस्तुति और वंशवन्दना के लिए कभी बदनाम नहीं थी, यह कार्य तो चारण-भाषा या पिंगल का ही माना जाता है। यह प्राकृत संस्कृत और ब्रज के बीच की भाषा है, ऐसा मिर्जा खाँ का विश्वास है। मिर्जा खाँ की नागबानी जो राजस्तुति की भाषा थी और ब्रज में मिश्रित होनेवाली नागभाषा, जिसका उल्लेख भिखारीदास ने किया है, संभवत एक ही हैं और मेरी राय में ये नाम शिथिल ढंग से पिंगल या अवहट्ट भाषा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मध्यकाल में संगीत के उत्थान में नाग-जाति का योगदान अत्यन्त महत्व का रहा होगा क्योंकि यह पूरा कबीला संगीत और नृत्य-प्रेमी माना जाता है, आदि पिंगल का नागबानी नाम अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है और मध्ययुग के सांस्कृतिक संमिश्रण को समझने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

अवहट्ट और प्रान्तीय भाषाएँ

सन् १९१६ में, जब से पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से अपभ्रंश की रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित कराया, पूर्वी प्रदेशों में जैसे एक चेतना सी उठी और भिन्न-भिन्न भाषियोंने इसे अपनी-अपनी भाषाओं के पूर्व रूप सिद्ध करनेके लिए प्रयत्न किया। एक ही चीज़ को शास्त्री,[1] चटर्जी[2] और विनयतोष भट्टाचार्य प्रभृत विद्वानों ने पुरानी बंगला कहा उसी को वाणीकान्त काकती[3] और बरुआ[4] ने पुरानी असमिया, प्रहराज[5] और प्रियारंजन[6] सेन ने इसे प्राचीन ओडिया कहा। डॉ० जयकान्त मिश्र[7] और शिवनन्दन ठाकुर[8] इसे पुरानी मैथिली समझते हैं। राहुल सांकृत्यायन[9] इसे पुरानी मगही मानने के पक्ष

१. ए ग्रामर ऑव द ब्रज, शान्तिनिकेतन, १९३५, पृ० ३४।

१. बौद्ध गान ओ दोहा की भूमिका, कलकत्ता सन् १९१९।

२. ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, १९२६, कलकत्ता पृ० ३७८ से ३८१।

३. फारमेशन ऑव आसमिज़ लैंग्वेज़ पृ० ८ से ९।

४. बरुआ, अर्ली हिस्ट्री ऑव कामरूप पृ० ३१४।

५. प्रोसेडिंग्स ऑव आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस ६ ठां भाग

६. ला कमेमोरेशन वाल्यूम २, पृ० ११७।

७. हिस्ट्री ऑव मैथिली लिटरेचर।

८. महाकवि विद्यापति पृ० २०८ से २१६।

९. गंगा पुरातत्वांक।

में हैं। इन लेखकों के मत और उनकी स्थापनाएँ भी बड़ी तर्कपूर्ण मालूम होती हैं और पाठकों के लिए सहसा यह निर्णय कर सकना दुस्तर होता है कि ये वस्तुतः किस भाषा की रचनाएँ हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि ये किसी खास स्थान की भाषा की रचनायें नहीं हैं। ये वस्तुतः परवर्ती अपभ्रंश की रचनाएँ हैं जिनका रूप न्यूनाधिक रूप से सर्वत्र एक सा है और इसमें किसी भी सम्बन्धित भाषा-भाषी को अपनी भाषा के कुछ पुराने रूप ढूँढ़ सकना कठिन नहीं है। इस स्थिति की यदि सम्यक् मीमांसा की जाय तो कुछ-कुछ ऐसी बातें स्पष्ट हो जाती हैं जो अवहट्ट के रूप निर्धारण में भी सहायक होती है। पहली बात तो यह कि परवर्ती अपभ्रंश की रचनायें ही आज की किसी भाषा के उद्गम और विकासक्रम को दिखाने का आधार हैं। दूसरी ओर इनमें किसी एक ऐसे भाषा-रूप का हो सकना आवश्यक है जो इस विभिन्न भाषाओं के सम्बन्धित रूपों का आधेय है। इस तरह इन रचनाओं में एक ओर कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो आधुनिक आर्य भाषाओं के रूप-गठन के निर्माण में योग देती हैं कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप से मेल खाती हैं।

पश्चिमी प्रदेश में यह स्थिति थोड़ी भिन्न है; परन्तु उसके मूल में भी यही प्रश्न उठता है। जूनी गुजराती, प्राचीन राजस्थानी अथवा प्राचीन गुर्जर आदि नामों के मूल में भी यही प्रवृत्ति काम करती है। पश्चिमी प्रदेश परिनिष्ठित के उद्भव का प्रदेश है अतः यहाँ यह निर्णय करना भी कठिन होता है कि इस में कितना तत्व पश्चिम की अपभ्रंश विभाषाओं का है, कितना परिनिष्ठित अपभ्रंश का। यद्यपि अपभ्रंश भाषा के ऐसे रूप पाते हैं जिनमें गुजराती-राजस्थानी दोनों के तत्व प्रचुर मात्रामें मिलते हैं फिर भी इसे हम पुरानी गुजराती अथवा पुरानी राजस्थानी नहीं कह सकते। इसलिए डा० तेसीतरी ने दसवीं ईस्वी शती से १२ वीं तक के काल को पिंगल अपभ्रंश कहना पसन्द किया क्योंकि उस अवस्था तक राजस्थानी और गुजराती के निजी चिन्ह प्राधान्य नहीं रखते। बाद की चार सौ वर्षों की भाषा को भी वे पुरानी राजस्थानी कहना ही अच्छा समझते हैं, क्योंकि उसमें गुजराती और राजस्थानी का कोई विभेद कर सकना कठिन था। सन् १९१४ से सन् १९१६ के बीच समय-समय पर प्रकाशित उनके निबन्धों से स्पष्ट है कि वे अपभ्रंश और पिंगल अपभ्रंश के भेद को स्वीकार करते हैं और वे इस विचार के पक्ष में हैं कि उस समय एक व्यापक प्रदेश के अन्दर पिंगल अपभ्रंश का प्रभाव था।[1] परन्तु जब हम परवर्ती अपभ्रंश के काल को

१. इण्डियन एंटिक्वैरी, १९१४–१६ O.W.R,

भी स्वार्थवश पुरानी राजस्थानी का काल कहते हैं तो वस्तुतः सत्य के एक पहलू को ही देखने के दोषी बनते हैं। ढोला मारूरा दूहा के सम्पादकों के विचार में भी यही दोष है।[1] गुजराती विद्वानों के पास अपभ्रंश की सामग्री सबसे अधिक है और उस पर उनका स्वत्व भी है, परन्तु एन० बी० दिवेतिया के कथन का सत्य स्वीकार्य होना चाहिए कि १२ वीं शताब्दी से १५ वीं तक के समय में एक विकृत भाषा जिसे हम कनिष्ठ अपभ्रंश कह सकते हैं, गुजरात और पूरे राजस्थान में प्रचलित थी।[2]

यहाँ पर पूर्वी पश्चिमी दोनों प्रदेशों में शौरसेनी के व्यापक प्रभाव के कारण पूछे जा सकते हैं। पूर्वी अपभ्रंश के अत्यन्ताभाव का विषय भी विचारणीय है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी

यहाँ पर अपभ्रंश का पुरानी हिन्दी नाम भी विचारणीय है। यह नाम सर्वप्रथम पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सुझाया। कुछ लोग समझते हैं कि गुलेरी जी अपभ्रंश को ज्यों की त्यों पुरानी हिन्दी कहना चाहते हैं। वे साफ़ कहते हैं "पुरानी, अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिन्दी से।[3] विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही। और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियाँ घिस गयी हैं, खिर गयी हैं। एक ही विभक्ति 'ह' या 'आहं' कई काम देने लगी है। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। क्रिया पदों में मार्जन हुआ। धनवती अपुत्रा मौसी से तत्सम शब्द भी लिए।[4]" इस प्रकार हम ने देखा कि गुलेरी जी केवल अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश का भेद ही नहीं करते उसके अन्तर के आधार भी ढूँढ़ते हैं। इस परवर्ती अपभ्रंश को वे पुरानी हिन्दी कहना चाहते हैं। इसलिए यह समझना निराधार है कि वे समूचे अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी में खींच लेना चाहते थे।

गुलेरी जी के इस मत पर दो दिशाओं में विचार हो सकता है। पहला व्यावहारिक दृष्टि से और दूसरा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से। पहली दिशा में कोई

---

१. ढोला मारूरा दूहा पृ० १४५.

२. गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर भाग १ पृ० ४०।

३. पुरानी हिंदी पृ० ११। ४. वही, पृ० ८।

खास अड़चन नहीं आती। वे चाहते हैं कि जिस तरह कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक सी रही है। नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की भाषा ब्रजभाषा कहलाती थी वैसे अपभ्रंश (परवर्ती) को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं है।"[१] गुलेरी जी के इस कथन पर आपत्ति न रखते हुए भी कि "यदि छापाखाना, प्रान्तीय अभिमान और मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह और नया प्रान्तीय उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देश भाषा बनी जा रही थी," हम पुरानी हिन्दी नाम को बहुत उचित नहीं मान सकते। व्यावहारिक दृष्टि से यह नाम कोई बुरा नहीं है, पर वर्तमान समय में भाषावार प्रान्तों के होने के कारण न तो इस प्रकार के नाम की कोई आवश्यकता रह गई है और न तो इस में कोई ऐसा तत्व है जो प्रान्तीयता के आग्रह को शान्त कर सके जो कभी-कभी हिन्दी को उसका प्राप्य अधिकार देने में अवरोध पैदा करता है।

"भाषा विज्ञान की दृष्टि से पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी आदि नाम यदि भेद को और पीछे खींचकर रखे हुए हैं" तो पुरानी हिन्दी; जो खुद उस भेद का एक रूप है, जो आधुनिक आर्य भाषाओं की दृष्टि से भारत के एक भू-भाग की भाषा है कहाँ तक सम्पूर्ण परवर्ती अपभ्रंश के लिए अभिधेय है ?

इस प्रसंग में राहुल जी के विचारों पर भी ध्यान देना अप्रासंगिक न होगा। राहुल जी भी इस नाम से सहमत मालूम होते हैं पर उनका विचार इस घेरे में सम्पूर्ण भारत को या सम्पूर्ण परवर्ती अपभ्रंश के प्रभाव क्षेत्र को लेने का नहीं है। "सूबा हिन्दुस्तान : हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलुगु, ओड़िया, बँगला भाषाओं से घिरे प्रदेश की आठवीं शताब्दी की बाद की भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली, ब्रजभाषा, आदि कहते हैं और आज कल के रूप को सार्वदेशिक और स्थानीय दो भागों में विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक रूप को खड़ीबोली और मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी आदि को आधुनिक स्थानीय भाषाएँ कहते हैं।[२]

इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट मालूम होता है कि राहुल जी पुरानी हिन्दी नाम केवल आज के हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश तक सीमित रखना चाहते हैं, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने हिन्दी काव्य-धारा में जिस अपभ्रंश साहित्य का संकलन किया है वह सम्पूर्ण उत्तर भारत और कुछ अंशों में महाराष्ट्र प्रदेश को भी

१. वही पृष्ठ ७।

२. राहुल, गंगा पुरातत्वांक पृ० २३४।

घेरने वाला है। इसी से शायद उन्होंने 'काव्य धारा' की अवतरणिका में कहा, "लेकिन यह अभिप्राय हरगिज नहीं है कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की साहित्यिक भाषा नहीं है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा-भाषियों को।"[1]

इन तमाम तर्क-वितर्कों और वाद-विवादों को मिटा देने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट नाम देना उपयुक्त है और यह 'अवहट्ट' नाम सम्पूर्ण उत्तरी भारत की संक्रान्तिकालीन भाषा का एक मात्र सही नाम हो सकता है क्योंकि ऐसा करने से 'पुरानी' विशेषण युक्त भाषाओं का आपसी झगड़ा समाप्त हो जाता है, दूसरी और इसे बिना किसी भेद-भाव के सब अपनी चीज मानने में भी संकोच नहीं कर सकते।

अवहट्ट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

साधारणतया ईस्वी सन् की दशवीं शती से चौदहवीं तक के चार सौ वर्षों के लम्बे काल को विद्वानों ने हिन्दी का आदि काल कहा है, इस समय की प्राप्त रचनाएँ अपने गुण और प्रकार के कारण बड़े ही आकर्षक और प्रभावशाली साहित्य की सूचना देती हैं। इस साहित्य की विभिन्न शैलियाँ, उसकी सामग्री, और उसके तत्त्व हिन्दी के परवर्ती काल के साहित्य को नाना रूपों में प्रभावित करते रहे हैं। अपने इस साहित्यिक वैशिष्ट्य के कारण इस काल के साहित्य की श्रेष्ठता तो निःसंदिग्ध है ही, इस साहित्य की भाषा भी अपनी अलग महत्ता रखती है। साहित्य के क्षेत्र में सिद्धों, निर्गुणिया सन्तों एवं इतर प्रकार के लेखकों की रचनाओं के परस्पर विरोधी रूपों को देखते हुए सहसा उस काल का अध्येता बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है और उसे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इन विचित्र काव्यरूपों एवं काव्य-वस्तुओं के वास्तविक अध्ययन के लिए वह किन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थितियोंको समझे जिनके मूल में इनका वास्तविक समाधान मिल सकता है। उसी प्रकार इस काल की भाषा के विद्यार्थी के सम्मुख भी कुछ ऐसे टेढ़े प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनके उत्तर के लिए उस पूरे काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना अनिवार्य हो जाता है।

अवहट्ट भाषा के मूल में शौरसेनी अपभ्रंश है, इसे स्वीकार लेने पर यह प्रश्न उठता है कि वह पूर्वी प्रदेशों में भी साहित्य-माध्यम क्यों स्वीकृत हुआ

१. हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका पृ० १२।

जब कि उस प्रदेश से मागधी अपभ्रंश को यह स्थान मिलना चाहिए था। इसी तरह भाषा सम्बन्धी बहुत से प्रश्न जैसे अवहट्ट और अन्य देशी भाषाओं का सम्बन्ध, तत्सम शब्दों की भरमार का कारण, फारसी शब्दों का आगमन, गद्य का प्रचार और उसके रूप आदि, विचार की अपेक्षा रखते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक हम तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अलोक में इन्हें समझने की कोशिश न करें।

आदिकाल की जो भी सामग्री प्राप्त है वह मध्यप्रदेश की नहीं है इस पर कई विद्वानों ने विचार किया है और उसके कारण भी बताये हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि गुजरात और राजपूताना को छोड़कर समूचे उत्तर भारत में ऐसी सामग्री का अत्यन्ताभाव है जिसे हम भाषा विषयक अध्ययन का आधार बना सकें। काव्यरूपों तथा तत्कालीन विचारधारा के अध्ययन के लिए तब भी इन्हें बहुत अंशों तक उपयोग की वस्तु समझ सकते हैं; किन्तु भाषा के लिए तो ये त्याज्य सी हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काल की सामग्रियों के परिरक्षण के तीन साधन बताये हैं: १. राज्याश्रय पाकर २. सुसंगठित धर्म सम्प्रदाय का आश्रय पाकर मठों विहारों आदि के पुस्तकालयों में संरक्षित होकर ३. जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर।[1] भाषा को ध्यान में रखते हुए जनता द्वारा रक्षित पुस्तकें पूर्णतया व्यर्थ हैं क्योंकि उनके रूप रासो या आल्ह काव्य से अधिक शुद्ध नहीं मिल सकते। धर्म-सम्प्रदायों ने भी प्रायः रक्षा का कार्य किया, परन्तु इनमें कभी-कभी भाषा को स्वाभाविक रूप में न रख कर उसे अधिक आर्ष और पुरानी बनाने का लोभ भी दिखायी पड़ता है। जैन लेखकों की रचनाएँ बहुत अंशों में शुद्धता का आधार होते हुए भी, ऐसी ही हैं। सबसे प्रबल संरक्षण के साधन राजवाड़े रहे हैं जिनकी स्थिति के साथ-साथ ही इस प्रकार के रक्षण की भी स्थिति समझी जा सकती है।

इस काल की सबसे प्रधान घटना मुसलमानों का आक्रमण है। भाषा-शास्त्रियों का एक दल यह मानता है कि भाषा सामाजिक या राजनैतिक परिवर्तनों के साथ ही परिवर्तित नहीं होती, क्योंकि यह समाज के किसी खास वर्ग की वस्तु न होकर पूरे समाज की वस्तु होती है और इसका निर्माण समाज की सैकेड़ों पीढ़ियों के योगदान से सम्पन्न होता है। परन्तु राजनैतिक घटनाएँ समाज में जो संघर्ष की स्थिति पैदा करती हैं उससे कई प्रकार के परिवर्तन जो शान्ति-काल में अपनी स्वाभाविक गति से धारा के समतल पर धीरे-धीरे होते रहते हैं, वे आलो-

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना सन् १९५२, पृष्ठ २५।

इन के कारण विक्षुब्ध होकर बड़ी तीव्रता से आरम्भ होते हैं और वे ऊपरी स्तर पर दिखायी पड़ने लगते हैं। राजवाड़ों के टूटने, नयी व्यवस्था के आरोपण तथा जनता के बिखरने से साहित्यिक भाषा के अन्दर कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। शब्द-समूह का विकास तो अपरिहार्य घटना होती है इसके अतिरिक्त देशी प्रयोग तथा विभिन्न विभाषाओं के बहुत से तत्व भी गृहीत हो जाते हैं। इसका बहुत बड़ा प्रभाव भाषा की गठन पर भले ही न पड़ता हो, परन्तु भाषा की बहुत सी समस्याओं के मूल में इन घटनाओं का हाथ होता है और कभी-कभी उनके सुलझाव में भी ये योग देती हैं। चटर्जी के इस कथन में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं कि "यदि मुसलमानों का आक्रमण न हुआ होता तो आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास-क्रम में कम से कम एक शताब्दी का अन्तर तो पड़ता ही।"[1]

मुसलमानों का आक्रमण पश्चिमी प्रदेशों पर होता अवश्य रहा किन्तु गुजरात, राजस्थान तक के प्रदेश प्राय: इस काल में अभेद्य रहे। हमले हुए, मुसलमानोंको जीत भी मिली, परन्तु सामना कुछ ऐसी समानता का रहा कि प्रभाव नहीं पड़ सका। मध्यदेश में कुछ काल के लिए अराजकता अवश्य दिखाई पड़ी परन्तु गाहड़वारों के प्रभुत्व के पश्चात् बहुत कुछ शान्ति सी रही। इस प्रदेश में बाहरी आक्रमणों की अपेक्षा आन्तरिक युद्धों का प्राधान्य था और अपभ्रंश अपने मूल प्रदेश की सामन्ती संस्कृति की अभिव्यक्ति का एकमात्र सबल माध्यम था जिसमें वीरता और शृङ्गार के बड़े ही अछूते और सजीव भावों का आकलन हो सका।

मुसलमानों के आक्रमण के कारण और भीतरी शत्रुओं से सदैव युद्धरत रहने के कारण इस जाति के साहित्य में वीरता का अद्‌भुत वर्णन मिलता है। इस काल में अपभ्रंश का परवर्ती रूप रूढ़ हो चुका था और जन अपभ्रंश या देश्य अपभ्रंश से मिला हुआ एक रूप प्रबल होने लगा था। इस काव्य भाषा को लोगों ने पिंगल भी कहा है जो काफी प्रचलित थी। इस भाषा में केवल चारण ही नहीं राजा और सामन्त भी कविताएँ करना गौरव की वस्तु समझते थे।

राजपूत राजाओं का ब्राह्मण धर्म से सीधा लगाव था और बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया का जो जोश हर्ष के बाद से आरम्भ हुआ उसने संस्कृत भाषा, पुराण आदि धर्म ग्रंथों के आधार पर लिखे गये काव्यों और अतीत युग के यज्ञ-विधान को बड़ा प्रेरित किया। फलस्वरूप इस पुनर्जागरण के कारण भाषा में तत्सम

---

१. इंडो आर्यन एंड हिन्दी, पृ० ९८।

शब्दों का प्राधान्य बढ़ने लगा। विद्वानों को बड़ा आश्चर्य सा होता है कि दसवीं शताब्दी से चौदहवीं तक के इस साहित्य में सहसा इतना बड़ा तत्सम-प्रेम कहाँ से पैदा हो गया। मुसलमानों के आक्रमण की प्रतिक्रिया से जनता अपनी संस्कृति की ओर झुकी और उसमें यह प्रवृत्ति बढ़ी, यह एक कारण हो सकता है, यद्यपि बहुत प्रधान कारण नहीं है। इन कारणों के मूल में भक्ति आन्दोलन, पौराणिक चरित्रों के आधार पर काव्य प्रणयन, ब्राह्मण धर्मका पुनरुत्थान आदि बहुत सी प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं।

इस काल भी भाषा में फ़ारसी शब्दों की भी बहुलता है। इसका कारण निश्चित रूप से मुसलमानोंका सम्पर्क ही है। ये शब्द हमारी भाषा में बहुत कुछ भाषा के रूप के कारण परिवर्तित होकर आये।

ऊपर पश्चिमी क्षेत्रों की राजनीतिक स्थिति के प्रकाश में शौरसेनी अपभ्रंश के विकास की बात कही गई। हमें इसके साथ ही बनारस के पूर्वी प्रदेशों की राजनीतिक स्थिति पर विचार करना है। महमूद के अन्तिम आक्रमणों से बनारस का कैसे पतन हुआ यह तो बाद की वस्तु है। जिस समय राष्ट्रकूट दक्षिण में अपने साम्राज्य की नींव रख रहे थे करीब उसी ८वीं शताब्दी के आस-पास बंगाल में पालवंशी राजाओं ने अपने राज्य की नींव रखी। पालवंशी राजाओं के पहले बंगाल अराजकता, राजनैतिक कुहासा और छिन्न-भिन्न अवस्था में पड़ा हुआ था। इन बौद्ध राजों के राज्य काल में बंगाल में संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषा को बल मिलना अनिवार्य था। किन्तु पालवंशी राजों के राज्यकाल में कला संस्कृति और दर्शन की पर्याप्त उन्नति हुई। उनके बनवाए हुए विहार बौद्ध विद्याओं के केन्द्र बने रहे। पालवंशी शासनकाल में ही विद्वानों की राय है कि सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों का साहित्य बना। इसी समय नवोदित शैव सम्प्रदाय के योगियों और नाथों का भी प्रभाव बढ़ता रहा। सिद्ध साहित्य की अमूल्य सामग्री का पालवंशी राजों के काल में निर्मित होना असंभव नहीं है, परन्तु हमारे पास 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से जो साहित्य मिलता है उसे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर पालवंशीय शासन काल तक खींच ले जाना मुश्किल है। दोहा कोश की भाषा को किसी प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास मान भी लें; किन्तु गानों की भाषा को तो तेरहवीं चौदहवीं के पहले मानने का कोई भाषा वैज्ञानिक कारण नहीं मिलता। वस्तुतः ये गान अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश काल की रचनाएँ हैं जिनमें पूर्वी प्रभाव स्पष्ट है। गानों की भाषा को प्रसिद्ध विद्वान् राखालदास बैनर्जी चौदहवीं शताब्दी के पहले का मानने के

लिए तैयार नहीं है।[1] इसके बारे में हम अगले अध्याय में विचार करेंगे, यहाँ इतना ही कहना है कि पालवंशीय शासन काल में रचित मागधी अपभ्रंश का कोई खास साहित्य प्राप्त नहीं होता।

'बिहार मिथिला और उत्कल में जब कि अपनी किसी खास भाषा का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था, सेनवंशीय शासन काल में बंगाल के लोगों ने अपनी बोलियों का विकास किया'[2] ये बोलियाँ मागधी अपभ्रंश की ही किसी विभाषा से सम्बद्ध हो सकती हैं ऐसा सोचा जा सकता है, परन्तु इतना सत्य है कि 'बंगाल के लोगों ने अपनी बोलियों का विकास किया' कह कर विद्वान् लेखक ने यह संकेत तो कर ही दिया है कि उसके सामने इस भाषा के विकास क्रम को दिखाने के लिए मागधी सम्बन्धी कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसी से चर्यागीत को ही बोलियों के विकास का आधार मानना पड़ता है।

इसका बहुत कुछ राजनैतिक कारण ही है। ११९७ शायद पूर्वी प्रदेशों के लिए सबसे बड़ा अनिष्टकारी वर्ष था, जब बखत्यार का बेटा मुहम्मद खिलजी बिहार को चीरता चला गया। इसका वर्णन सुलतान नासिरुद्दीन महमूद के प्रधान काज़ी मिनहाज़-ए-सिराज ने अपने इतिहास ग्रंथ तबकात-ए-नासिरी में बड़े विस्तार से किया है। हत्या और अन्य घटनाओं ने पूरे प्रान्त से शिक्षा और संस्कृति का नाश कर दिया। विद्वानों की या तो हत्या कर दी गई या तो वे भाग कर नैपाल की ओर चले गये। वे अपने साथ बहुत से हस्तलिखित ग्रंथों की पांडुलिपियाँ भी लेते गये। इस तरह एक गौरवशाली साहित्य परम्परा का अन्त हो गया। मगध जो पूर्वी भारत का वास्तविक (काकपिट) या रणस्थल कहा गया है, अनवरत तुर्क पठान और मुगलों के युद्धों का केन्द्र बना रहा[3]। बंगाल भी इस हमले से नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

मुसलमानी आक्रमण के परिणामस्वरूप पूर्वी प्रान्तों में ओज और वीरता की लहर आई। मुसलमान आक्रमणकारी सम्पूर्ण उत्तर भारत के शत्रु थे। भारत में उनके सबसे बड़े शत्रु राजपूत राजे थे। वस्तुतः धर्मोन्माद में उठी मुसलमानी तलवार का पानी कहीं सूखा तो राजस्थान की मरुभूमि में। पश्चिमी प्रान्तों में इन मुसलमानों के खिलाफ जो जोश उमड़ता था उसका प्रतिबिम्ब

१. राखालदास बैनर्जी का निबन्ध 'श्री कृष्ण कीर्तन' की भूमिका।
२. ओ. बै. लै. पृ० ८१।
३. चटर्जी द्वारा उद्धृत बै. लै. पृ० १०१।

कहीं दिखाई पड़ा तो शौरसेनी अपभ्रंश में। वीरों के तलवारों की झनझनाहट, उनके वीरतापूर्ण यश के लिए गाई कविताओं की गूँज, शौरसेनी अपभ्रंश के माध्यम से देश भर में मुखरित हो रही थी। गुजरात से लेकर बंगाल तक शौरसेनी अपभ्रंश के प्रसार में राजपूतों के चरित्र, उनकी वीरता और उनके प्रभाव का तो जोर था ही, साथ ही देश के बाहर शत्रु के प्रति एक घृणा की भावना भी थी जो अपने अन्दर वीरता का संचार करती थी। दूसरे उस काल की कोई भी ऐसी भाषा नहीं थी जो समर्थ काव्य रचना का उचित माध्यम बन सके। शौरसेनी अपभ्रंशसे मिलती जुलती, एक भाषा नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारतके राजपूत राजों की राज-सभा में प्रचलित थी और राज-सभा के भाटों ने उसे उन्नत रूप दिया। उन राजों के प्रति श्रद्धा और सम्मान दिखाने के लिए गुजरात तथा पश्चिम पंजाब से लेकर बंगाल तक सारे उत्तर भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हो गया और वह राष्ट्रभाषा हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि वह शिष्टभाषा थी और कविता के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझी जाती थी। भारत के अन्यान्य प्रान्तोंमें भाटों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी और इसी में काव्य रचना करनी पड़ती थी।[1]

वस्तुतः शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव इतना व्यापक था कि समाज का प्रत्येक शिष्ट व्यक्ति, कवि, प्रचारक, सिद्ध या साधु इसी भाषा के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करता था। बंगाल के सिद्धों की रचनाएँ, इसी भाषा में हुई। इसी में विद्यापति की कीर्तिलता लिखी गई।

मुसलमानों के आक्रकण से एक ओर मागधी अपभ्रंश को क्षति हुई, दूसरी ओर शौरसेनी को बल मिला। बौद्धकाल में यों ही अर्धमागधी के सामने मागधी का प्रचार न हो सका और वह नाटक तक में नीच पात्रों की ही भाषा रहने का गौरव पा सकी। शायद बाद में कुछ विकसित हो पाती, किन्तु मुसलमानी आक्रमण ने उससे यह अवसर भी छीन लिया और इस प्रदेश में राष्ट्र-भाषा के रूप में शौरसेनी ही स्वीकार कर ली गई।

मिथिला और बंगाल में कुछ विकास की सम्भावनाएँ थीं, परन्तु वहाँ भी संस्कृत को ही राज्याश्रय मिला। मुसलमानी आक्रमण से मिथिला बची रही, पर वहाँ हिन्दू संरक्षण ने संस्कृत के विकास में अधिक प्रयत्न किया। 'कुलीनतावाद' के समर्थक सेन राजाओं के राजत्व में धोयी, जयदेव ऐसे संस्कृत

---

१. ओरिजिन एंड डेवलपमेण्ट आव बंगाली लैंग्वेज़ पृ० ११३।

कवियों को तो आश्रय मिला, पर अपभ्रंश के उत्थान की कोई संभावना वहाँ नहीं दिखाई पड़ी।

इस प्रकार ऊपर कथित ऐतिहासिक परिस्थितियों के संक्रान्ति काल में यदि भाषा की स्थिति देखी जाय तो चार बातें स्पष्ट रूप से कही जा सकती हैं :

१. शौरसेनी अपभ्रंश राजनीतिक और भाषा वैज्ञानिक कारणों से राष्ट्र-भाषा का रूप ले रही थी। उसी का परवर्ती रूप ईसा की ग्यारहवीं शती से १४ वीं तक उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बना रहा। यह अवहट्ट थोड़े प्रान्तगत भेदों के अलावा सर्वत्र एक सा ही है।

२. इस काल में अपभ्रंश की विभिन्न बोलियाँ विकसित होने लगीं और उनमें से कई अवहट्ट के अन्त होते-होते यानी १४०० के आस-पास समर्थ भाषा के रूप में साहित्य का माध्यम स्वीकार कर ली गयीं।

३. इस काल की भाषाओं में मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप फारसी के शब्दों की भरमार दिखाई पड़ती है।

४. हिन्दुत्व के पुनर्जागरण के कारण संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य मिलता है।

■

अवहट्ठ का काल-निर्णय

●

अपभ्रंश और अवहट्ठ के बीच कोई निश्चित सीमा-रेखा खींच सकना मुश्किल है। गुलेरी जी कहते हैं कि अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के बारे में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती।[1] विद्वानों का विचार है कि हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा, वह मर चुकी थी। तेसीतरी ने कहा कि वह भाषा जीवित नहीं थी।[2] परन्तु तेसीतरी ने इसके लिए कोई कारण नहीं दिया। इस दिशा में श्री दिवेतिया ने भी विचार किया है और उन्होंने कुछ बड़े ही मनोरंजक कारण ढूँढ़े हैं। हो सकता है कि उनके कारण बड़े ठोस न हों, परन्तु उनसे कुछ प्रकाश तो पड़ता ही है। दिवेतिया के तीन कारण इस प्रकार है :[3]

१. हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अन्तःसाक्ष्य पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रचलित भाषा नहीं थी। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के द्वितीय चरणमें १७४ वें सूत्र पर जो वार्तिक लिखा है वह उस प्रकार है।

भाषाशब्दाश्च। आहित्थ। लल्लक्क। विड्डिर.......इत्यादयोः महाराष्ट्र विदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽवगन्तव्याः। क्रिया शब्दाश्च अवयासइ। फुंफुल्लइ। उप्फालेइ इत्यादयः। अतएव कृष्टघृष्टवाक्यविद्वस वाचस्पति विष्टरश्रवस् प्रचेतस् प्रोक्तप्रोतादीनां क्विवादिप्रत्ययान्तानां चाग्निचित् सोमसुग्लसुम्लेत्यादीनां पूर्वैः कविभिरप्रयुक्तानां प्रतीतवैषम्यपरः प्रयोगो न कर्तव्यः शब्दान्तररेव तु तदर्थोभिधेयः। यथा कृष्टः कुशल। वाचस्पतिगुरु। विष्टरश्रवा हरिरित्यादि।

भाषा-शब्द से यहाँ हेमचन्द्र का तात्पर्य प्राकृत शब्द नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं से है। यह 'प्रतीतिवैषम्य परः' इस बात का संकेत करता है कि हेमचन्द्र के काल में प्राकृतें जनभाषा नहीं रह गई थीं।

१. पुरानी हिन्दी, पृ० ११।

२. तेसीतरी, इंडियन एंटिक्वेरी १९१४ O. W. R. (Introductory)

३. एन० वी० दिवेतिया, गुजराती लैंग्वेज़ एंड लिटरेचर पृ० २—५।

२. दूसरे प्रयोग के लिए उन्होंने हेमचन्द्र के व्याकरण के ८-१-२३१ सूत्र की टीका से उद्धरण दिया है।

प्राय इत्येव। कई। रिऊ। एतेन प्रकारस्य प्रासयोर्लोपवकारयोर्थस्मिंकृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः।

यदि कहीं सूत्रों में आपस में ही मतान्तर मालूम हो और कोई उचित मार्ग न प्रतीत हो तो 'श्रुतिसुख' को आधार मानना चाहिए। यह प्रमाण पहले का पूरक ही है क्योंकि श्रुतिसुख की आवश्यकता तो वहीं होगी जहाँ 'पूर्वकवियों' के उदाहरण से काम न चल सकेगा। अगर प्राकृतें वास्तव में जनभाषा होतीं तो हेमचन्द्र आसानी से 'लोक प्रयोग' दे सकते थे।

पूर्वकविप्रयोग, प्रतीतवैषम्य और श्रुतिसुख का प्रयोग निःसन्देह प्राकृत भाषाओं के वर्णनों में आया है अतः उसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता, परन्तु हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती हैं। इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ ही साथ अपभ्रंश के लिए भी मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहीं भी अपभ्रंश को 'भाषा' नहीं कहा है और न तो उसे लोक भाषा ही कहा है अतः 'भाषा शब्द' और 'लोकतो अवगन्तव्याः' आदि का अर्थ दूसरा ही है। हेमचन्द्र अपभ्रंश को या तो अपभ्रंश या शौरसेनी, मागधी, आदि नामों से पुकारते रहे हैं।

तीसरे प्रमाण के लिए दिवेतिया ने प्राकृत द्वयाश्रय काव्य (कुमारपाल-चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि यह ग्रंथ प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरणों के लिए लिखा गया है इसमें अपभ्रंश भाग के लिए भी उदाहरण मिलते हैं। यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोक भाषा थी तो उसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जनप्रचलित भाषा नहीं थी इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। फिर भी हेमचन्द्र के काल तक अपभ्रंश लोक भाषा नहीं थी इतना तो प्रमाणित होता ही है। हेमचन्द्र ने स्वयं अपने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। पहली शिष्ट भाषा जो साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी और दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश भाषा जो जनता के इस्तेमाल की चलती फिरती भाषा थी। परिनिष्ठित अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत की भाँति शिष्ट जन की भाषा

हो गई थी और भाषा शास्त्र की दृष्टि से ग्राम्य अपभ्रंश काफी अग्रसर हो रही थी। इस तरह के अपभ्रंश के रूप हमें सन्देह रासक, उक्ति व्यक्ति और प्राकृत पैंगलम् में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा जिसमें उन्होंने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए पूरे के पूरे दोहे उद्धृत किए, इसके आधार पर लोगों की धारणा है कि हेमचन्द्र के समय तक अपभ्रंश लोकभाषा नहीं रह गई थी। यद्यपि यह कोई बहुत अच्छा तर्क नहीं है, हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण पंडितों के लिए लिखा, इसलिए 'भाषा' के व्याकरण के लिए उन्हें पूरा छन्द उद्धृत करना पड़ा। फिर भी हेमचन्द्र के काल तक अपभ्रंश जनभाषा नहीं थी वह तो इसी से मालूम होता है कि हेमचन्द्र ने 'देशी नाम माला' का निर्माण आवश्यक समझा। ये शब्द शिष्ट अपभ्रंश में नहीं मिलते, निश्चय ही ये ग्राम्य अपभ्रंशों में प्रचलित रहे होंगे।

'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में लेखक ने तत्कालीन देश भाषा यानी अपभ्रंश के रूपों को संस्कृत व्याकरण के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। उक्ति व्यक्ति की भाषा जिस प्रकार के अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करती है वह निःसन्देह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से कोसों दूर है। इसमें अपभ्रंश के विकसित रूप तो मिलते ही हैं पुरानी अवधी के स्वरूपों का प्रयोग भी अधिकता से हुआ है और इस आधार पर डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इसे 'पुरानी कोसली' नाम देने के पक्ष में है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण बारहवीं शताब्दी की रचना है। दामोदर पण्डित ने इस ग्रंथ में काशी के आस-पास प्रचलित तत्कालीन भाषा को ही अपभ्रंश नाम दिया है। लेखक ने 'उक्ति व्यक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए पहली कारिका की टीका में लिखा है :

उक्तावपभ्रंशभाषिते व्यक्तीकृतं संस्कृतं नत्वा तदेव करिष्यामः इत्यर्थः × × × अथवा नाना प्रकारा प्रतिदेशं विभिन्ना येयमपभ्रंशवाग्रचना पामराणां भाषित भेदाभेदात्तद्वहिष्कृतं ततोऽन्यादृशम्। तद्धि मूर्खप्रलपितं प्रतिदेशं नाना।

उक्ति व्यक्ति १।१५-२१

ग्रंथकार ने इस देशभाषा का कोई विशिष्ट नाम न देकर अपभ्रंश नाम दिया है, परन्तु इस अपभ्रंश शब्द का उसके मन में वही अर्थ नहीं है जो हेमचन्द्र के अपभ्रंश का यानी परिनिष्ठित अपभ्रंश का है। 'उक्ति' का अर्थ है लोकोक्ति यानी लोक में प्रचलित भाषा पद्धति, उसकी व्यक्ति यानी विवेचना, स्पष्टीकरण जो इस ग्रंथ में किया गया है। पामर लोगों के वाग्व्यवहार में आने वाली वह भाषा जिसके विभिन्न भेद हैं, संस्कृत व्याकरण पद्धति से स्पष्ट की गई है। 'उक्ति

व्यक्ति' के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि ईसा की बारहवीं शताब्दी में मध्यदेश में परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न भाषा लोक व्यवहार में आती थी जो एक ओर अपभ्रंश से निकट थी जिसे दामोदर पण्डित 'अपभ्रंश' ही कहना चाहते हैं किन्तु उसके स्वरूप का भाषा वैज्ञानिक विवेचन करने पर डॉ० चाटुर्ज्या उसे पुरानी कोसली कहना उचित समझते हैं। उक्ति व्यक्ति की भाषा में परवर्ती अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है, यह निर्विवाद है।

इस प्रकार हमने देखा कि १२वीं तेरहवीं शताब्दी के आस-पास अवहट्ठ के ग्रंथ मिलने लगते है जिनमें परवर्ती अपभ्रंश की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रभाव भी भाषा पर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं। प्राकृत पैंगलम् की रचनाओं में इस प्रकार के उदाहरणों के बहुत प्रयोग मिल जाते हैं। यह सत्य है कि प्राकृत पैंगलम् की रचना में १४वीं शताब्दी के आस-पास का भी बहुत साहित्य संकलित किया गया है, फिर भी उसका कुछ भाग निःसन्देह बारहवीं शती के पहले निर्मित हो चुका था। प्राकृत पैंगलम् की भाषा से साफ मालूम हो जाता है कि यह अपभ्रंश का परवर्ती रूप है। इसकी रचनाएँ ११वीं से १३वी तक के बीच की हैं; परन्तु इसमें कुछ ऐसे भी छंदों के उदाहरण मिलेंगे जिनकी भाषा १३वीं शती की है।[1] वस्तुतः प्राकृत पैंगलम् का रचना-देश ही इस तथ्य की सूचना देता है कि मध्यदेश की मूल भाषा शौरसेनी अपभ्रंश स्वयं भाषा परिवर्तन नियमों के अनुसार विकसित होती जा रही थी और इसने अवहट्ठ का मूल ढाँचा तैयार कर दिया था जो करीब ११वीं शती के आस-पास सर्व सामान्य रूप से, देश के राजनीतिक तथा अन्य कारणों से, मध्यदेशीय राजवाड़ों के गौरव और सम्मान के रूप में समस्त आर्य भारत द्वारा गृहीत होता जा रहा था। इसी समय अपभ्रंश कालीन विभाषाएँ भी विकसित हो रहीं थी और वे आधुनिक आर्य भाषाऐं के उदय की सूचना दे रही थीं। इन जनभाषाओं के सम्पर्क से अवहट्ठ में जनसुलभ शब्दों की भरमार तो हुई ही जनभाषा की कई प्रमुख प्रवृत्तियों का भी दर्शन होने लगा। प्राकृत पैंगलम् में ही हमें ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे जिसमें पश्चिमी देशों की जनभाषाओं के प्रभाव परिलक्षित होंगे। इस तरह हमने देखा कि यद्यपि अपभ्रंश और अवहट्ठ के बीच कोई निश्चित काल विभाजक रेखा खींच सकना असंभव है, पर मोटे रूप से अवहट्ठ में पाई जाने वाली विशेषताओं की उपलब्धि करीब-करीब ११वीं शताब्दी में होने लगी। इन तथ्यों के आधार पर हम अवहट्ठ का रचना काल

१. डॉ० तेसीतरी, इंडियन ऐंटिक्वेरी जिल्द १४. १९१४ फरवरी

१२वीं शती के आरम्भ से पीछे नहीं खींच सकते; यद्यपि उस काल की रचनाएं इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दे सकतीं।

अवहट्ट कालके अन्त के बारे में हम निश्चिन्त हैं। अवहट्ठ का अन्त करीब-करीब १४वीं शती के अन्त से सम्बद्ध सा माना जा सकता है। यह सत्य है कि १४वीं शती के बाद भी इस काल को खींचा जा सकता हैं, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं। विद्यापति के काल तक निःसन्देह जन भाषाओं का उदय हो चला था। एक ओर वे अवहट्ठ में काव्य रचना करते हैं दूसरी ओर उनकी प्रतिभा का "प्रौढ़चन्द" पदावली में चमकता है। अतः इसके नीचे तो इस काल को खींचना मुश्किल है। वास्तविक समय क्या है इसके लिए विचार करने की सामग्री अप्राप्त है। जनभाषाओं के प्रौढ़रूप हमें १४वीं शती के अन्तिम चरण तक मिलने लगे।

१. तेसीतोरी के मतानुसार अवहट्ठ का रचना काल मुग्धबोध औक्तिक के रचनाकाल के बाद नहीं खींचा जा सकता।[1] मुग्धबोध औक्तिक का रचना काल १४५० विक्रम संवत् या १३९३ ईस्वी सन् निश्चित है। इस ग्रंथ का सबसे पहला परिचय डॉ० यच० यच० ध्रुव के १० सितम्बर १८८९ के निबन्धसे मिला जो उन्होंने "नियो वर्नाक्यूलर आव् वेस्टर्न इंडिया" शीर्षक से लिखा था और जिसे उन्होंने उक्त सन् में क्रिश्चियाना में विद्वानों की एक सभा में पढ़ा था। मुग्धबोध औक्तिक संस्कृत में लिखा हुआ व्याकरण ग्रंथ है जो बाल छात्रों की दृष्टि से लिखा गया है।[2] इस ग्रंथ पर जार्ज ग्रियर्सन ने एक लम्बा विचार अपने लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया के जिल्द ९ में दिया है।[3] और इसकी टीका को उन्होंने गुजराती भाषा का सबसे पहला नमूना कहा है। तेसीतरी ने इसे गुजराती न कह कर पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का नमूना माना क्योंकि उनकी राय से तब तक मारवाड़ी गुजराती और राजस्थानी अलग भाषा के रूप में भिन्न नहीं हुई थी।[4] जो कुछ भी हो, इतना सत्य है कि पश्चिमी भारत में अवहट्ठ का रचना काल इस ग्रंथ के रचना काल के नीचे नहीं जा सकता।

२. डॉ० चटर्जी के अनुसार पूरब में अर्थात् बंगला में टीका सर्वस्व को आधुनिक भाषाओं के उदय काल पर प्रकाश डालने वाली पहली सामग्री के रूप

१. तेसीतोरी इंडियन एन्टिक्वेरी भाग १४।

२. संक्षेप्याद्दौक्तिकं वक्ते बालानां हित बुद्धये। (मु० बो० औ०)

३. जिल्द ९ भाग २ पृ० ३५३।

४. इंडियन एेन्टिक्वेरी भाग १४।

में मानना चाहिए। चटर्जी का विचार है कि ११५९ ईस्वी की इस टीका सर्वस्व नामक पुस्तक में ३०० ऐसे शब्दोंका उल्लेख है, जिनका अध्ययन बंगला भाषा के ध्वनि-विचार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है।[1] यह टीका सर्वस्व पंडित सर्वानन्द नामक किसी बंगाली सज्जन द्वारा अमरकोश पर लिखी गई भाषा टीका है। इस टीका से भाषा की गठन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पांडुलिपि की प्राचीनता भी सन्दिग्ध ही है। अतः यह ग्रंथ इस काल निर्णय के लिए उपादेय नहीं है। पूर्वी प्रान्तोंमें परवर्ती अपभ्रंश का काल चंडीदास के कृष्णकीर्तन से नीचे नहीं खींचा जा सकता। इसकी पांडुलिपि भी पुरानी है। पहले चटर्जी ने इसे आधुनिक काल के उदय का संकेत चिन्ह कहा है और इसकी अवस्था को वे 'प्रोटो बंगाली' और 'बंगाली निर्माण की अवस्था में' इन दो नामों से अभिहित करते हैं।[2] इन दो अवस्थाओं को यदि दूसरी शब्दावली में कहें तो 'पुरानी बंगला' कह सकते हैं और जिसका आधार 'बौद्ध गान और दोहा' माना जाता है जिसके बारे में पहले ही कहा जा चुका है।

मगध में विद्यापति की कीर्तिलता को अवहट्ट की अंतिम रचना मान लें तो स्पष्ट हो जाता कि पूर्वी प्रदेशों में भी अवहट्ट का समय समाप्त हो गया था।

अवहट्ट काल के अन्त के बारे में कुछेक पुस्तकों का आधार लेकर जो विचार दिये गए हैं, उनकी कोई खास आवश्यकता नहीं थी क्योंकि परवर्ती अपभ्रंश की रचना १७वीं शताब्दी तक होती रही, इसलिए यह कहना कि उसका अन्त १४वीं शताब्दीमें हो गया, कोई खास मतलब नहीं रखता। मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि १४वीं के आस-पास परवर्ती अपभ्रंश भी लोक भाषा के स्थान से हट गया और उसका स्थान विभिन्न जन पदीय अपभ्रंशों से विकसित बोलियों ने ले लिया।

इस प्रकार ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से ईसा की चौदहवीं तक के काल को हम अवहट्ट का काल मानते हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि हम आधुनिक आर्य भाषाओं के काल को पीछे खींचते हैं। सत्य तो यह है कि अवहट्ट जिन दिनों साहित्य भाषा के रूप में इतने बड़े भूभाग में प्रचलित था, उस समय जन भाषाएँ तेजी से विकसित हो रही थीं और भाषाविद् उनके इस विकास का

१. चैटर्जी बैं० लैंग्वेज पृ० १०९-११। २. वही पृ० १२९

समय ईसा की दसवीं शताब्दी से स्वीकार करते हैं। १४ वीं तक में वे स्वयं सबल भाषाओं के रूप में सामने आ गईं। १४वीं के बाद भी परवर्ती अपभ्रंश में रचनाएँ होती रहीं, परन्तु इन भाषाओं के विकास के बाद उसका वैसा प्रचार और जन सम्पर्क नहीं रह गया और प्रादेशिक भाषाएँ, इतनी समर्थ हो गईं कि चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी तक चंडीदास, विद्यापति, जायसी, मीरा और नरसी मेहता जैसे प्रौढ़ कवि दिखाई पड़ने लगे।

■

अवहट्ठ और 'देसिल वअन'

सक्कय वाणी बुहअन भावइ
पाउंअ रस को मम्म न पावइ
देसिलवअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओं अवहट्ठा

कीर्तिलता के इस पद्यांश को लेकर बहुत दिनों तक विद्वानोंने माथापच्ची की। इसके पहले 'प्राकृत और देशी' तथा 'अपभ्रंश और देशी' के पारस्परिक सम्बन्ध पर लम्बे-लम्बे विवाद हो चुके थे। इन शब्दों से वास्तविक सापेक्ष्य अर्थों पर अब तक काफी लिखा जा चुका है। पिशेलने अपने प्राकृत व्याकरण में देशी पर विचार किया और देश्य या देशी को (भ्रष्टता) 'हेट्रोजीनियस एलिमेंट' का सूचक बताया।[१] जार्ज ग्रियर्सन ने इस विषय पर एक महत्वपूर्ण विचार अपने निबन्ध 'आन दि माडर्न एण्डो ऐर्यन वर्नाक्यूलर्स' में व्यक्त किया।[२] डॉ० उपाध्ये ने इस विषय पर अपने निबन्ध 'प्राकृत लिटरेचर' में विस्तार से लिखा[3] और और इधर हाल में डॉ० तगारे ने अपनी पुस्तक में अपभ्रंश और देशी पर एक लम्बा अध्याय ही जोड़ दिया है।[४]

विद्यापति के उपर्युक्त पद्यांश से बहुत से लोगों को भ्रम हो गया था। उक्त पद्यांश के आधार पर कुछ लोगों ने अवहट्ठ को देशी से भिन्न माना, कुछ ने दोनों को एक। कीर्तिलता के सम्पादक डॉ० बाबूराम सक्सेना ने इसका अर्थ किया, देशी सब लोगों को मीठी लगती है इसी से अवहट्ठ (अपभ्रष्ट) में रचना करता हूँ।[५] डॉ० सक्सेना के शब्दों से ध्वनित है कि उन्होंने अवहट्ठ और देशी

१. पिशेल ग्रेमेटिक डर प्राकृत स्प्राखें पृ० १…४७, तगारे द्वारा उद्धृत हि० ग्रै० अप०।

२. जार्ज ग्रियर्सन, यह निबन्ध इंडियन ऐंटिक्वेरी के १९३१-३३ के अंकों में आया।

३. इन्साइक्लोपीडिया आव् लिटरेचर, न्यूयार्क।

४. डॉ० तगारे; हिस्टारिकल ग्रैमर आव् अपभ्रंश।

५. कीर्तिलता; ना० प्र० स० पृ० ७।

को एक माना है। डॉ० हीरालाल जैन ने पाहुड दोहा कि भूमिका में इस प्रसंग को उठाया। उन्होंने लम्बे-लम्बे उद्धरणों से यह सिद्ध किया कि किस प्रकार, स्वयंभू, पुष्पदन्त, पद्मदेव, लक्ष्मणदेव आदि अपभ्रंश के कवियों ने अपनी भाषा को देशी माना। अन्त में डॉ० जैन ने कीर्तिलता वाले पद्य को भी अपने मत की पुष्टि के लिए ठोंक पीट कर तैयार किया और मूल पाठ से कोई ध्वनि न पाकर उन्होंने उसके अर्थ में खींचातानी की। उसका संस्कृत रूपान्तर डॉ० हीरालाल जैन ने यों दिया :

देशी वचनानि सर्वजन मिष्टानि
तद् तादृशं जल्पे अवभ्रष्टम्

इस तादृश का अर्थ उन्होंने किया तदेव और कहा कि तादृश शब्द से मतभेद हो सकता है फिन्तु यहाँ तादृश का अर्थ तदेव की ही तरह है।

इस मत पर विद्वानों की शैली में वैसा ही सन्देह प्रकट किया जा सकता है जैसा प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डॉ० जूल ब्लाक ने डॉ० जैन के पास लिखे अपने ३० नवम्बर सन् ३२ के पत्र में किया।[1]

एक ओर डॉ० सक्सेना और डॉ० जैन इसे 'तदेव' मानते हैं और दूसरी ओर जूल ब्लाक को यह मत मान्य नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी जूल ब्लाकके मतसे मिलते-जुलते विचार दिये हैं। उक्त पद्यांश का अर्थ करते हुए शुक्ल जी कहते हैं, देशी (बोल-चाल की भाषा) सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश (देशी भाषा मिला हुआ) मैं कहता हूँ। विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न प्रचलित बोल-चाल की भाषा को देशी भाषा कहा है।[2]

इस तरह इस विषय पर दो मत दिखाई पड़ते हैं। जैसा ऊपर कहा गया कि इस प्रकार विवादास्पद मत प्राकृत और देशी या 'अपभ्रंश और देशी' पर सदा रहे हैं। इसका कारण क्या है ? साफ है कि यह मत केवल अपने दायरे को सीमित कर लेने के कारण उठे हैं। यदि तर्कशास्त्र की भाषा में कहा जाय तो देशी का जो अर्थ किया जाता है उसमें व्याप्ति दोष आ जाता है। देशी का किस प्रसंग में क्या अर्थ है इस पर ध्यान न देकर हम देशी से अपभ्रंश का तादात्म्य ढूँढ़ने लगते हैं। देशी का अर्थ प्राकृत के प्रसंग में एक है, अपभ्रंश के प्रसंग में दूसरा और अवहट्ट के प्रसंग में तीसरा। 'देशी' और 'भाषा' ये दो शब्द कब-कब किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, यह एक बहुत मनोरंजक विषय है। और इनके

---

1. As regards the identification Desi = Apabhramsa, I feal doubts. 30-11-32 (पाहुड दोहा ३३)।

२. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास १०५।

इसी विकासशील इतिहास के अनुक्रम में इनका वास्तविक सापेक्ष्य अर्थ भी छिपा है। यहाँ संक्षेप में पहले 'देशी' का इतिहास दिया जा रहा है।

देशी शब्द

'देशी' शब्द का सबसे पहला प्रयोग भरत के नाट्य शास्त्र में मिलता है। है। यह ध्यान रखना चाहिए कि भरत ने 'देशी' विशेषण शब्द के लिए दिया था, भाषा के लिए नहीं। उनकी राय में जो शब्द संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भिन्न हों उन्हें देशी मानना चाहिए। भरत के देशी शब्द की यह परिभाषा प्रायः बहुत पीछे तक आलंकारिकों और वैयाकरणों द्वारा मान्य रही। काव्यालंकार के रचयिता रुद्रट की राय में तो उन शब्दों को संस्कृत से बहिष्कृत ही कर देना चाहिए जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति-प्रत्यय विचार के आधार पर न हो सके और जो अपनी रूढ़ि न रखते हों।[1] बारहवीं शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने इस प्रकार के शब्दों की एक 'नाम माला' ही बना दी जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति-प्रत्यय नियम से संभव न थी। यद्यपि उन्होंने उसे 'लक्षण सिद्धता' कहा और देशी उन शब्दों को माना जो 'लक्षण' से सिद्ध नहीं होते। जो न तो संस्कृताभिधान में ही प्रसिद्ध हैं और न तो गौडी लक्षणा से ही सिद्ध होते हैं[२]। उन्होंने लक्षणा के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करते हुए कहा कि वे शब्द जो सिद्ध हेमचन्द्र नाम में सिद्ध नहीं हुए हैं और न तो प्रकृति प्रत्यय विभाग से उनकी निष्पत्ति ही संभव है।[3] देशी शब्द के बारे में वैयाकरणों और आलंकारिकों की ऊपर-कथित व्युत्पत्ति-प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेल ने कहा था कि ये वैयाकरण प्राकृत और संस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देशी कह सकते हैं जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न निकाली जा सके।[४] इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर देशी का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है जिसके बारे में भारतीय वैयाकरण और पिशेल तक की राय है कि ये प्रकृति-प्रत्यय विचार के घेरे के बाहर के शब्द हैं।

---

१. प्रकृति प्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देशस्य
तन्मनुहादि कथञ्चन रूढ़िरिति न संस्कृते रूपयते। (काव्यालंकार ६-२७)

२. जो लक्खणे सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु
ण य गउण लक्खणा सति संभवा ते इह णिबद्धा (देशी नाममाला)

३. लक्षणे शब्द शास्त्रे सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि
ये न सिद्धाः प्रकृति प्रत्ययादि विभागेन न निष्पन्नास्तेऽत्र निबद्धाः।
टीकावली

४. पिशेल ग्रैमैटिक टि० ९, तगारे द्वारा उद्धृत हिं० ग्रै० भ०।

देशी भाषा

दूसरी ओर देशी का प्रयोग भाषाओं के लिए भी मिलता है। देशी भाषा शब्द का पहला प्रयोग प्राकृत के लिए हुआ है। पादलिप्त (५०० ई०) उद्योतन (७६९) और कोऊहल ने प्राकृतों को देशी कहा है। तरंगावईकहा के लेखक पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसीवयण' कहा।[१] उद्योतन ने कुवलय माला में महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहा था और उसे प्राकृत से भिन्न बताया था।[२] कोऊहल ने 'लीलावई' में उसी महाराष्ट्री प्राकृत को 'देशीभाषा' कहा।[३] यह सत्य है कि 'लीलावई' में देशी शब्द भी मिलते हैं, किन्तु स्वयं दूसरी जगह पर कवि ने 'देशी भाषा' को ही प्राकृत भाषा कहा है।[४]

यह ध्यान देने की बात है कि किस महाराष्ट्री प्राकृत को काव्यादर्श के रचयिता दण्डी ने श्रेष्ठ प्राकृत कहा, क्योंकि उसमें सूक्तियों को रत्नाकर सेतुबन्ध ऐसे काव्य हैं[५] उसी प्राकृत को अपनी मनोहरमुग्धा युवती को कथा सुनाने वाले कोउहल ने 'देशी भासा' कहा। उसी को उद्योतन 'देशी' कह कर प्राकृत से भिन्न मानते हैं।

वस्तुतः इन उद्धरणों से ध्वनित है कि जनता प्राकृत को देशी या देशी भाषा के रूप में ही जानती थी। साहित्यिक रूप ग्रहण करने पर उन जन भाषाओं का 'प्राकृत' नाम वैयाकरणों या अलंकारिकों ने दिया। यह साहित्यिक प्राकृत जनता से दूर हो गई। जनता की अपनी भाषा उसी साधारण रूप से विकसित होती रही और उसने विभिन्न अपभ्रंशों का रूप ले लिया। और

---

१. पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देशीवयणेहि नामेण तरंगावई कहा विचित्ता विचित्ता विउलायं (याकोबी द्वारा सनत्कुमार चरित की भूमिका पृष्ठ १७ में उद्धृत)

२. पायय भासा रइया माहट्ठय देसी वयण णिवद्धा
(पांडुलिपि से डॉ० उपाध्ये द्वारा लीलावई की भूमिका में उद्धृत)

३. भणियं च पियय माए रइयं मरहट्ठ देशी भासाए
अंगाइं इमीए कहाएं सज्जणा संग जोडगाई, लीलावई गाहा १३३०

४. एमेय युद्ध जुयई मनोहरं पाययाएं भासाए
पविरल देशी सुलक्खं कहसु कहं दिव्व माणुसियं। लीलावई, गाहा ४१

५. महाराष्ट्रायां भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदु।
सागर सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयन् : काव्यादर्शः

अब ये अपभ्रंश प्राकृत के टक्कर में देशी भाषा कही जाने लगी। इसके बाद हम देखते हैं कि अपभ्रंशों के कवियों ने इसी देशी भाषा को 'देसीवयण' देशभाष आदि नामों से पुकारना शुरू किया।

प्रसिद्ध कलिकाल सर्वज्ञ कवि स्वयंभू ने अपनी भाषा को देसी कहा।[1] १०वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कवि पुष्पदन्त ने अपना प्रसिद्ध काव्य महा-पुराण लिखा और उन्होंने अपनी भाषा को 'देसी' कहा।[2] १००० ईस्वी में कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित) की भाषा को 'देसीसद्दत्थगाढ़' से युक्त बताया।[3]

इस प्रकार के कई कवियों का उल्लेख करके पाहुड़ दोहा की भूमिका में डॉ० हीरालाल जैन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश ही देशी भाषा है। इनका कथन सत्य है, पर अपभ्रंश को देशी मानने के काल की भी एक अवधि है! इस तथ्य को भूल जाने से हम गलती कर सकते हैं और कहीं भी देशी शब्द देखकर उसे अपभ्रंश कहने के मिथ्या मोह का शिकार हो सकते हैं। चौदहवीं शती के आस-पास एक बार फिर भाषा को देशी, ग्रामगिरा, आदि कहने का जोर बढ़ा। विद्यापति का उदाहरण ऊपर हैं ही। महाराष्ट्री कवि ज्ञानेश्वर ने कहा।

अम्हो प्राकृपे देशीकारे बन्धे गीता

ज्ञानेश्वरी, अध्याय १८

और इसी आधार पर डॉ० कोलते ने ज्ञानेश्वरी से ऐसे शब्दों को ढूँढ़ा है जिन्हें उन्होंने मराठी सिद्ध किया।[4] वस्तुतः यहाँ देशी का अर्थ मराठी स्पष्ट है। यद्यपि ज्ञानेश्वरी में परवर्ती अपभ्रंश के रूप भी बहुतांश में मिलते हैं।

१. दीह समास पवाहा बंकिय सक्कय पायय पुलिणालंकिय
देसी भासा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर घण साद्दसिलायल
रामायण १ (हिन्दी काव्य धारा पृ० २६)

२. ण विणयामि देशी। महापुराण १।८।१०

३. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ
छन्दालंकार विसाल पौढ़
जइ एवायइ बहुलकरवणेहिं
इय विरइयं कव्व विपनसणेहिं (पासणाहचरिउ)

४. विक्रम स्मृति ग्रंथ पृ० ४७०, उज्जैन सम्वत २००३।

परवर्ती कवि तुलसीदास ने भी अपनी भाषा को 'ग्राम्यगिरा' 'भाखा' आदि नाम दिया। इन शब्दों के आधार पर देशी और अपभ्रंश को 'तदेव' मानने की एक काल सीमा बनानी चाहिए।

इस देशी या भाषा शब्द के बारे में थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए इन कवियों के भाषा सम्बन्धी विचारों को गहराई से परखना चाहिए। सत्य तो यह है कि प्रत्येक कवि जो वास्तविक रूप से लोक-मंगल की भावना से काव्य प्रणयन करता है वह लोक सामान्य की भाषा भी ग्रहण करता है। अद्दहमाण ने कहा था कि मेरी भाषा न तो पंडितों के लिए है क्योंकि वे शायद ही सुनें, न तो मूर्खों के लिए ही हैं क्योंकि उनका प्रवेश कठिन है, इसीलिए यह साधारण लोगों के लिए है :

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहइ णहु पवेसि
जिण मुक्ख न पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पाढिव्वउ सव्ववार
(संदेश रासक)

अपने विचार को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए ये कवि प्रायः एक बहुत ही प्रसिद्ध रूपक का सहारा लिया करते हैं। भाषा को या देशी को सदैव नदी की धारा के समान गतिशील मानते हैं। धारा से अलग होकर कुछ जल-बद्ध हो जाता है उसे साहित्यिक भाषा की तरह समझना चाहिए। वैदिक भाषा से अलग बद्धजल के रूप में संस्कृत के निकल जाने पर वह धारा चलती रही और उसे प्राकृत या स्वाभाविक या संस्कृत की तुलना में देशी कहा गया। कालान्तर में जब प्राकृत भी साहित्य भाषा बनकर बद्धजल के रूप में घिर गई तब अपभ्रंश उसकी तुलना में धारा की स्वाभाविक गति में आने के कारण 'देशी' कही गई। इसीलिए स्वयंभू कवि ने कहा :

दीह समास पवाहालंकिय सक्कय पायय पुलिणालंकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर घण सद्द सिलायलु

उन्होंने अपभ्रंश को देशी भाषा कहा जो नदी की धारा की तरह है जिसके दोनों किनारे संस्कृत और प्राकृत हैं।

परन्तु इस अपभ्रंश की भी वही अवस्था हुई। यह भी साहित्य भाषा बन कर धारा से अलग हुई और बाद में देशी भाषाएँ मैथिली, अवधी, मराठी, या अन्य कही गई। तुलसी की अवधी में लिखी गई कविता 'सुर सरिता' के समान

चली और कबीर ने संस्कृत के 'कूप जल' की तुलना में 'भाखा' को बहता नीर कहा।

इस प्रकार देशी या भाषा दोनों ही शब्दों के वास्तविक सापेक्ष्य अर्थ को समझना चाहिये। देसी भाषा का अर्थ और लक्ष्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न हो सकता है। देशी ही नहीं प्राकृत और अपभ्रंश आदि शब्दों का भी बड़ा विस्तृत अर्थ लिया जाता था। अवहट्ट के साथ विद्यापति ने जिस 'देसिल वयन' का नाम लिया है उसका संकेत मैथिली की ओर है और उसे व्यापक अर्थ में अपभ्रंश की तुलना में सभी आधुनिक आर्य भाषाओं के लिए अभिधेय मान सकते हैं इसलिए अवहट्ट और 'देसिल वयन' को तदेव सिद्ध करने का आग्रह निराधार और व्यर्थ है।

■

अवहट्ठ की रचनाएँ

●

अपभ्रंश में देश-भेद की पर्याप्त चर्चा सुनाई पड़ती हैं इस विभाजन के मूल में कई प्रकार के विचार दिखाई पड़ते हैं। काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु ने तीन प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। उपनागर, आभीर और ग्राम्य ये तीन अपभ्रंश के भेद नमिसाधु ने बताए।[1] मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रंश के मुख्यतया तीन भेद ही स्वीकार किया यद्यपि उन्होंने देशभेद के आधार पर कई प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की :

नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः
अपभ्रंश परो सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मता
(प्राकृतसर्वस्व ७)

मार्कण्डेय ने अपभ्रंशों में ब्राचड, लाट, उपनागर, नागर, वार्वर, अवन्त्य, पाञ्चाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, औड्र, पाश्चात्य, पांड्य, कौन्तल, सैंहल, कालिंग्य, प्राच्य, कार्णाट्, काञ्च्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय, वैताल आदि की गणना की है।

इन भेदों को देखने से मालूम होता है कि ये तत्कालीन प्रचलित देशी भाषायें हैं जो उस काल में अपभ्रंश कही जाती थीं। इनका स्वरूप क्या था, परिनिष्ठित अपभ्रंश से उनका कितना साम्य था, इसे जानने का कोई आधार नहीं। बहुत से विद्वान् इन नामों के आधार पर इन अपभ्रंशों का सम्बन्ध वर्तमान क्षेत्रीय भाषाओं से जोड़ते हैं, और इन्हें आधुनिक भाषाओं का पूर्वरूप स्वीकार करते हैं, किन्तु जब तक इन अपभ्रंशों का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता, ऊपर के विचार अनुमान मात्र हो कहे जायेंगे।

अवहट्ठ काल में बहुत सी आधुनिक भाषाएँ एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुकी थीं। अवहट्ठ काल में भी अपभ्रंश के पूर्व कथित देशभेद अवश्य थे। १६वीं शती में मार्कण्डेय ने जिन अपभ्रंशों की चर्चा की वे किसी न किसी रूप में शायद रहे हों; परन्तु अवहट्ठ के ही ये देशभेद थे, मैं उसे स्वीकार नहीं करता।

१. स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदने त्रिधा। टीका, (काव्यालङ्कार २।१२)

अवहट्ठ जैसा कहा गया मूल रूप से शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप है, इसमें क्षेत्रीय प्रयोग हो सकते हैं, इनके आधार पर चाहें तो दो-एक मोटे भेद भी स्वीकार कर लें, किन्तु ऊपर गिनाएँ भेदों को अवहट्ठ के प्रकार कह देना उचित नहीं लगता।

अवहट्ठ की जो रचनाएँ प्राप्त हैं उनके आधार पर अवहट्ठ के केवल दो भेद स्वीकार किए जा सकते हैं। एक पूर्वी अवहट्ठ, दूसरा पश्चिमी अवहट्ठ। उक्ति व्यक्ति प्रकरण के आधार पर एक मध्यदेशी भेद भी कर सकते हैं किन्तु इस भेद को कोई खास आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इसमें प्रायः पूर्वी और पश्चिमी अवहट्ठ के प्रयोग मिले-जुले रूप में मिलते हैं; प्राकृत पैंगलम् में भी, जो कि मूल रूप से पश्चिमी अपभ्रंश में लिखी गई है, पूर्वी प्रयोग मिलते है।[1] इस प्रकार केवल दो भेद ही साधार प्रतीत होते हैं :

१—पूर्वी अवहट्ठ में कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम् के पूर्वी प्रभाव के अंश, उक्ति व्यक्ति प्रकरण के पूर्वी प्रयोग आदि गृहीत हो सकते हैं।

विद्यापति की 'कीर्तिपताका' भी अबहट्ठ में लिखी गई रचना मालूम होती है किन्तु जब तक उसकी कोई ठीक-ठीक प्रति नहीं मिलती, कुछ कह सकना कठिन है। विद्यापति ने अवहट्ठ भाषा में कुछ फुटकल कविताएँ भी लिखी हैं : नीचे उनमें से एक उद्धृत की जाती है :

> **अणल रन्ध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी**
> **चैत कारि छत्रि जेठा मिलिअओ वार वेहप्पवर जाहु लसी**
> **देवसिंह जू पुहुमि छड्डिय अद्धासन सुरराय सरू**
> **दुहु सुरताण निंदे अव सो अउ तपनहीन जग तिमिर भरू**
> **देखहुँ ओ पुहुमी के राजा पौरुष माँझ पुन्न बलिओ**
> **सतबले गंगा मिलित कलेवर देव सिंह सुरपुर चलिओ**
> **एक दिसि सकल जवन दल चलिओ एक दिसि जमराज चरू**
> **दुहुओ दल क मनोरथ पुरुओ गरुए दाप सिवसिंह करू**
> **सुरतरु कुसुम घालि दिस पूरओ दुन्दुहिं सुन्दर साद धरू**
> **वीर छत्र देखने को कारन सुरगन सोभे गगन भरू।**

यह महाराज देवसिंह की मृत्यु पर सिवसिंह के युद्ध का वर्णन है। इस रचना की निचली पंक्तियों की सरलता और उनकी सहजता का अनुमान स्पष्टता

१. रामचन्द्र शुक्ल, बुद्धचरित की भूमिका।

से हो जाता है। भाषा की गति, तत्सम के प्रयोग, निर्विभक्तिक वाक्य गठन सब कुछ देखने योग्य हैं।

चर्यागीत

चर्यागीत बहुत वर्षों तक भाषा शास्त्रके क्षेत्र में विवाद के विषय बने रहे। जैसा पहले ही कहा गया इनको प्रायः पूर्वी भाषा-भाषी लोगों ने अपनी-अपनी भाषा का प्राचीन रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ का सबसे पहला परिचय म० म० हरप्रसाद शास्त्री की 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक पुस्तक के प्रकाशन से हुआ। इस पुस्तक की विद्वतापूर्ण भूमिका में शास्त्री जी ने इसे प्राचीन बँगला स्वीकार किया। इसी आधार पर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे बँगला सिद्ध किया और उन्होंने इसके प्रमाण में बहुत से तर्क दिए। बौद्ध गान ओ दोहा में तीन प्रकार की रचनाओं का संग्रह है: १. चर्याचर्य विनिश्चय २. सरोज वज्र तथा कृष्णपाद का दोहाकोश ३. डाकार्णव।

डॉ० चाटुर्ज्या की राय में दोहाकोश की भाषा तो निश्चित रूप से शौरसेनी अपभ्रंश है क्योंकि उसमें शौरसेनी अपभ्रंश की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं:[1]

१. कर्ताकारक में संज्ञाओं के उकारान्त रूप।

२. सम्बन्ध में 'ह' विभक्ति।

३. कर्मवाच्य में 'इज्ज' युक्त रूपों की प्राप्ति।

४. और इसकी मूल प्रवृत्ति का पश्चिमी अपभंश से पूर्ण साम्य।

किन्तु चर्याचर्य विनिश्चय को सुनीति बाबू ने पुरानी बँगला कहा। उसके कारण उन्होंने इस प्रकार बताए:

१. सम्बन्ध की विभक्ति एर अर, सम्प्रदान में रे, अधिकरण में त विभक्तियों का प्रयोग।

२. मांझ, अन्तर संग आदि परसर्गों का प्रयोग।

३. भविष्यत् काल में इब तथा भूतकाल में इल का प्रयोग न कि बिहारी अब तथा अल का।

४. पूर्वकालिक क्रिया में 'इआ' प्रत्यय का व्यवहार।

५. वर्तमान कालिक कृदत 'अन्त' का व्यवहार।

६. कर्मवाच्य की विभक्ति 'इअ' का व्यवहार।

७. 'अछ' और 'थाक' क्रियाओं का व्यवहार, मैथिली 'थीक' का नहीं।

---

१. वैं. ले पृ० ११२।

सुनीति बाबू के तर्कों की समीक्षा के पहले मैं डॉ० जयकान्त मिश्र[1] और शिवनन्दन ठाकुर[2] के तर्कों को भी नीचे दे देना चाहता हूँ जिसके आधार पर इन लोगों ने चर्यागीत को प्राचीन मैथिली कहने का दावा पेश किया है।

१. विशेषण में लिंग निरूपण, स्त्रीलिंग में, संज्ञा के साथ स्त्रीलिंग विशेषण तथा स्त्रीलिंग कर्ता के साथ स्त्रीलिंग क्रिया का व्यवहार जैसे दिढ़ि टांगी (चर्या। ५) सोने भरिती करुणा नावी। खुंटि उपाडी मेलिल काछी (चर्या। ८) तोहीरि कुडिआ (चर्या। १०) हाउं सूतेलि (चर्या। १८)

२. हओ या हाउं का प्रयोग जो विद्यापति में है चर्याओं में पाया जाता है पर बंगला में नहीं।

३. अपणे सर्वनाम का प्रयोग चर्याओं और मैथिली दोनों में पाया जाता है। बँगला में नहीं मिलता।

४. चर्याओं में वर्तमान काल के अन्यपुरुष की क्रिया में 'थि' विभक्ति लगती है। भणथि (चर्या २०) तथा बोलथि (चर्या २६)।

५. प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आव' चर्याओं में पाया जाता है। वन्धावए (चर्या २२)

६. विद्यापति के पदों में एरि विभक्ति पाई जाती है।

७. चन्द्रविन्दु के रूप में विभक्तियों का प्रयोग चर्याओं में पाया जाता हैं यह प्रयोग मैथिली का अपना है।

८. 'अछ' क्रिया बँगला तथा मैथिली दोनों भाषाओं की सम्पत्ति है।

यदि ध्यान पूर्वक ऊपर के दोनों तर्कों पर विचार करें तो लगता है जैसे स्वयं ये एक दूसरे की वास्तविकता को चुनौती देते हैं। वस्तुतः चर्याओं की भाषा पर मैथिली, भोजपुरिया और मगही भाषाओं का प्रभाव अधिक है बँगला का कम। और इसके सबसे बड़ा कारण चर्याओं के निर्माताओं के निवास स्थान हैं जो इन भाषाओं के घेरे में ही पड़ते हैं। बंगाली विद्वानों ने बहुत से सिद्धों को बंगाल देश का भी बताया है। बहुत संभव है कि इनमें से कुछ हों भी परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है कि चौरासी सिद्धों में से अधिकांश विक्रम-

---

१. हिस्ट्री आव् मैथिली लिटरेचर, चर्या सम्बन्धी निबन्ध।

२. महाकवि विद्यापति पृ० २१५-१६।

शिला और नालन्दा के प्रसिद्ध विहारों से सम्बद्ध थे।[१] और यही कारण है कि उनकी कबिताओं में अवहट्ठ के ढाँचे के साथ साथ मैथिली भोजपुरिया आदि के रूपों का बाहुल्य है। डा० चाटुर्ज्या के तर्कों पर विचार किया जाय तो वे बहुत दूर तक पुष्ट और मान्य सिद्ध नहीं होंगे। मांझ, अन्तर, संग आदि परसर्गों का प्रयोग कीर्तिलता में ही नहीं प्राकृत पैंगलम आदि में भी मिलता है।[२] भविष्यत् काल में इब + का प्रयोग भोजपुरिया में पाया जाता है। हम जाइब, हम खाइब, में प्रयोग प्रायः उत्तम पुरुष के हैं और चर्याओं में भी ये उत्तम पुरुष में ही पाए जाते हैं। खाइब मंह : ३९ : लोडिब चा : २८ : जाइब : २१ : मध्यम पुरुष में भी आए हैं पर निरादरार्थ में। थाकिब तें कैसे : ३९ : भोजपुरिया में भी तूं 'जबबे' होता है। इल का प्रयोग भी भोजपुरिया की विशेषता है। ऊ गइल, रात भइल, चर्याओं में ऐसे ही रूप मिलते हैं। इनको बंगला मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। पूर्वकालिक क्रिया के लिए इअ या इआ प्रत्यय का व्यवहार बंगला की ही कोई विशेषता हो ऐसी बात नहीं। यह अवहट्ठ की अपनी विशेषता है। इसका प्रयोग कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम में बहुत मिलता है।[३] वर्तमान कालिक कृदन्त के अन्त वाले रूपों का व्यवहार भी अवहट्ठ की सर्वमान्य विशेषता और जैसा तेसीतोरी ने कहा है कि अवहट्ठ की यह अपनी विशेषता है।[४] इसका भी प्रयोग पश्चिमी पूर्वी सभी अवहट्ठ ग्रंथों में धड़ल्ले से हुआ है। कर्मवाच्य के इअ और इज्ज दोनों रूप अवहट्ठ में मिलते हैं। इस प्रकार इनके आधार पर चर्यागीतों को बंगला मान लेने का कोई सबल आधार नहीं है। वस्तुतः ये अवहट्ठ की रचनाएँ हैं और इनमें इन क्षेत्रीय प्रयोगों के भीतर मूल ढांचा कनिष्ठ शौरसेनी अपभ्रंश का है। सर्वनाम में अपने, तोर, मों, हउं, जो, जेण, जसु, तसु का प्रयोग अधिकतर भरा पड़ा है। सर्वनामों के बने विशेषणों के जैसन, तैसन, रूप तथा जेम तेम जिम, अइस आदि रूपों का प्रयोग मिलता है। भूतकाल में केवल 'ल' प्रत्यय युक्त ही रूप नहीं, गिउ, हुअ, अहरिउ, थाकिउ आदि भूत कृदन्त से बने रूप भी मिलते हैं जो शौरसेनी अपभ्रंश में पाये जाते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि चर्यागीत अवहट्ठकी रचनाएँ हैं उन्हें अपनी अपनी भाषाओंके विकासमें सहायक

१. राहुल जी का निबन्ध, गंगा पुरातत्वांक।
२. अवहट्ठ भाषा की विशेषताएँ शीर्षक अध्याय § २५
३. कीर्तिलता की भाषा § ७२
४. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वेरी १९१४ फरवरी। अवहट्ठ की विशेषताएँ § २३

समझना और अपना मानना बुरा नहीं है, किन्तु इनके ऊपर दूसरेका अधिकार न मानना अनुचित है।

सन्देश राशक

कवि अद्दहमाण रचित इस महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १९४५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डॉ० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिसार (पंजाब) में लिखी गयी थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में संस्कृत छाया या अवचूरिका भी संलग्न है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयसमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज कामचलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज़ नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाहड क्षत्रिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भांडार में भी अद्दहमाण के संदेशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो संभवतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़-कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ संवत् में लिखी। संस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफ़ी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पंथियों का) जयपुर के शास्त्रभांडार में उक्त प्रति (बे० नं० १८२८) संरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकाल से प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीर-सेन के पुत्र थे।

पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्य ॥३॥
तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासयं रइयं ॥ ४ ॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, संदेशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अद्दहमाण का अर्थ अब्दल रहमान और मिच्छदेश का

म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि संस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरद्द का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को सुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एकदम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गयी थी। संदेशरासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनिजी के मत से अद्दहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भती या खम्भात का भी नाम आता है। संदेश-वाहक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी संदेश लिये है जिसका पति धनलोभ से खम्भात में पड़ा हुआ है। इस प्रकार खम्भात एक मशहूर व्यापारिक केन्द्र मालूम होता है, जहाँ ऊपरी हिस्से पंजाब, सिंध आदि के व्यापारी भी आकृष्ट होकर आने लगे थे। खम्भात की ऐसी उन्नति सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के पहले नहीं थी, इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि अद्दहमाण सिद्धराज का समकालीन मालूम होता है। मुनिजिनविजयजी के ये दोनों ही तर्क पूर्णतः अनुमान मात्र हैं, महमूद के आक्रमण के बाद भी, इन नगरों के प्राचीन गौरव और वैभव को लक्ष्य करके ऐसे चित्रण किये जा सकते हैं, इसके लिये समसामयिक होना बहुत आवश्यक नहीं है। राहुल सांकृत्यायन भी मुनिजी की मान्यता को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि कवि की जन्म-भूमि मुल्तान के महमूद के हाथ में जाने के पहले कवि मौजूद थे। राहुलजी ने[1] कवि के मुसलमान होने के प्रमाण में यह भी कहा है कि अब्दुर्रहमान ने ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करते हुए अपने को मुसलमान भक्त बनाया है। वे आगे लिखते हैं : 'तेरहवीं और बाद की भी दो तीन सदियों में हमें यदि खुसरो को छोड़कर कोई मुस्लिम कवि दिखाई नहीं पड़ता तो इसका तो यह मतलब नहीं कि करोड़ों भारतीय मुसलमान बनते ही कवि-हृदय से वंचित हो गये। हिन्दुस्तान की खाक से पैदा हुए सभी मुसलमानों के लिये अरबी-फारसी का पंडित होना संभव न था, अब्दुर्रहमान-जैसे कितने ही कवियों ने अपनी भाषा में मानव समाज की भिन्न-भिन्न अन्तर्वेदनाओं को लेकर कविता की होगी।'[2] राहुलजी के विचारों से एक नयी बात मालूम होती है। अद्दहमाण को मूलतः

१. हिन्दी काव्यधारा, प्रयाग १९५४, पृ० ५४।
२. वही, ४२, ४३।

भारतीय मानते हैं जिसने धर्म परिवर्तन करके इस्लाम ग्रहण किया। संस्कृत, प्राकृत के इतने बड़े जानकार को विदेशी मानना शायद ठीक होता भी नहीं। अस्तु हम इन तर्क-वितर्कों के बाद अनुमान कर सकते हैं कि अद्दहमाण १२वीं-१३वीं के बीच कभी वर्तमान थे जो प्राकृत के बहुत बड़े कवि थे और जिन्होंने प्राकृत-अवहट्ट में संदेशरासक की रचना की।

ब्रजभाषा की दृष्टि से संदेशरासक के महत्व पर विचार करते वक़्त हमारा ध्यान पाण्डुलिपियों और उनके लिपिकारों की ओर स्वभावतः आकृष्ट होता है। अब तक की प्राप्त पाँचों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में लिपि-शास्त्र या अनुलेखन पद्धति की परम्परा बड़ी ही रूढ़िबद्ध रही है। डॉ० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'लोग प्रादेशिक भाषाओं या उनमें साहित्यिक रूप में लिखने का प्रयत्न करते समय भी तात्कालिक प्रचलित भाषा में न लिखकर हमेशा ऐसी शैली में लिखते आये हैं जो ध्वनि-तत्व तथा व्याकरण दोनों की दृष्टि से थोड़ा-बहुत प्राचीन लक्षण-सम्पन्न या अप्रचलित हो!'[1] जैन लिपिकार एक ओर जहाँ अपनी परम्परा-प्रियता और रूढ़ि-निर्वाह-पटुता के कारण प्राचीन साहित्य की सुरक्षा करने में सफल हुए हैं वहीं इसकी अतिवादी परिणति की अवस्था में आलेख्य कृति की भाषा को पुरानी आर्ष या जैनादर्श की भाषा बनाने के मोह से भी वे छूट न सके। न, का, ण, य श्रुति के निर्धारण में अनिश्चितता, संध्यक्षरों की विवृत्ति की सर्वत्र सुरक्षा आदि पर वे बहुत ध्यान देते थे, इस प्रकार विकासशील भाषातत्त्वों को आदर्श के निकट पहुँचाना वे अपना कर्तव्य मानते थे। संदेशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति संलक्षित होती है।

संदेशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पांडित्य-पूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत-प्रभावापन्न और रूढ़ है। हालाँकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न बहुत पण्डित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए काव्य करता हूँ :

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढिब्वउ सब्बवार
(सं० रा० २१)

१. आर्यभाषा और हिन्दी, दिल्ली, १९५४, पृ० ९२।

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृत भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ, एक बात अवश्य बहुत महत्त्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ट के दोहों का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक-भाषा के कुछ तत्त्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक-भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डॉ० हरिवल्लभ भायाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे : जैसा स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है संदेशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सों की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहों की भाषा के अति निकट और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज़्यादा विकसित और बढ़ी हुई मालूम होती है।[1] दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अग्रसरीभूत क्यों है ? क्योंकि ये दोहे अपभ्रंश के विकसित रूप अवहट्ट में लिखे हुए हैं।

प्राकृत पैंगलम्

अवहट्ट या पिंगल अपभ्रंश में लिखी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक प्राकृतपैंगलम् है, जिसमें १२ वीं से १४ वीं तक की बहुत सी प्राचीन ब्रज-रचनाएँ संकलित की गयीं हैं।

प्राकृतपैंगलम् के कुछ हिस्से को श्री जीगफ़्रीड गोल्डस्मित ने एकत्र किया था जिसका उपयोग पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण में किया। इस ग्रंथ का प्रकाशन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से १९०१ ई० में श्री चन्द्रमोहन घोष के सम्पादकत्व में हुआ। उसके पहले यह ग्रंथ १८९४ ई० में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से 'प्राकृत पिंगल सूत्राणि' के नाम से प्रकाशित हुआ था। प्राकृत पैंगलम् में मूलग्रंथ के साथ संस्कृत भाषा की तीन टीकाएँ भी हैं जो इस ग्रंथ की लोकप्रियता और प्रसिद्धि का द्योतक हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसका रचना

1. As suggested at relevent places that the language of the dohas of S. R. differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied, to, though more advanced than, the language of the dohas of Hemchandra.

Sandesa Rasaka, introduction P. 87.

काल ९००–१४०० ई० के बीच में माना है। प्राकृतपैंगलम् में लेख ने छन्दों के उदाहरण विभिन्न काल की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजशेखर की कर्पूरमंजरी (९०० ई०) से भी लिये गये हैं। डॉ० चाटुर्ज्या के मत से अधिकांश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २९४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ संख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।[1] इसी सिलसिले में उन्होंने बी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बंगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डॉ० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२वीं शती से पीछे खींचने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस संग्रह की कुछ रचनाएँ १४वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरतीं, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और पिंगल अपभ्रंश १४०वीं शताब्दी की जीवित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है।[2] प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन ब्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से क़रीब ९ हम्मीर से संबद्ध हैं। पृ० १५७, १७०, २४९, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के संबंधी एक पद में 'जज्जल भणइ' यह वाक्यांश भी दिखाई पड़ता है—

हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह महं जलउं।
सुरताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिय चलउं॥

श्री राहुल सांकृत्यायन ने हम्मीर संबंधी कविताओं को जज्जल-कृत बताया है,[3] हालांकि उन्होंने स्पष्ट कहा कि जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, उनके बारे में संदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जज्जल-भणिता युक्त पदों को तो राहुलजी जज्जल की कृति मानते ही हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, राहुलजी का मत प्राकृतपैंगलम् में प्रकाशित टीकाओं के

१. चाटुर्ज्या, ओ० डे० व० लें० ६०।
२. तेसीतोरी, इंडियन एंटिक्वैरी, १९१४, पृ० २२।
३. हिन्दी काव्यधारा पृ० ४५२, पाद टिप्पणी।

'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोढ़ोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं किसी और कवि की होगी किन्तु यह कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं।[1] मेरा ख्याल है कि यह काफ़ी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शार्ङ्गधर[2] का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होसा, और प्राप्त होने पर यह सिद्ध नहीं हो जाता कि प्राकृत पैंगलम् के हम्मीर संबंधी पद्य उक्त शार्ङ्गधर के लिखे हुए हैं। इस विवाद को व्यर्थ का तूल देना न केवल असामयिक है बल्कि निराधार वितंडा-मात्र भी है।

जज्जल की तरह कुछ पदों में विज्जाहर या विद्याधर का नाम आता है। विद्याधर कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र के मंत्री थे।[3] प्रबन्धचिन्तामणि में विद्याधर जयचन्द्र का मंत्री और 'सर्वाधिकारभारधुरंधर' तथा 'चतुर्दश विद्याधर' कहा गया है।[4] विद्याधर काव्य प्रेमी था इसका पता पुरातन प्रबंध संग्रह के 'जयचन्द्रनृपवृत्तम्' से भलीभाँति चलता है। परमर्दिन् ने कोप कालाग्नि रुद्र, अवंध्यकोपप्रसाद, रयद्रहबोल आदि विरुद धारण की, इससे कुपित होकर जयचन्द ने उसकी कल्याण कटक नाम की राजधानी को घेर लिया। परमर्दि के अमात्य उमापतिधर ने भयाकुल राजा के आग्रह पर विद्याधर को एक सुभाषित सुनाया जिससे अत्यन्त प्रसन्न होकर विद्याधर ने सुसुप्त राजा को पलंग सहित उठवाकर पाँच कोश दूर हटा दिया।[5] लगता है कि विद्याधर स्वयं भी कवि था और उसने देशी भाषा में कविताएँ की थीं जिनमें से कुछ प्राकृतपैंगलम में संकलित हैं। इन रचनाओंका संग्रह राहुल सांकृत्यायन ने काव्यधारा में प्रस्तुत किया है।[6]

प्रसिद्ध संस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्दम् के बारे में बहुत पहले विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की थी कि यह अपने मूल में किसी प्राकृत या

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० १५।
२. पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृतपैंगलम् के इन पदों को शार्ङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।
३. अल्तेकर—दी हिस्ट्री ऑव राष्ट्रकूट्स, पृ० १२८।
४. चिन्तामणि, मेरुतुंगाचार्य, ११३–११४।
५. पुरातन प्रबंध संग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ९०।
६. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३९६–९८।

देशी भाषा में रहा होगा। पिशेल ने इन छन्दों को भाषावृत्त में देख कर ऐसा अनुमान किया था। (ग्रेमेटिक § ३२) जयदेव के नाम से संबद्ध दो पद गुरुग्रन्थ साहब में भी मिलते हैं। राग गूजरी और राग मारू में लिखे ये दोनों गीत भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से उत्तम नहीं कहे जा सकते। किन्तु इनमें पश्चिमी हिन्दी का रूप स्पष्ट है। इन पदों को दृष्टि में रख कर डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि यह बहुत संभव है कि ये पद मूलत: पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गये हों जो उस काल में बंगाल में बहुत प्रचलित था। पश्चिमी अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ, खास तौर से 'उ'कारान्त प्रथमा प्रातिपदिक की, इन छन्दों में दिखाई पड़ती हैं, यही नहीं उन पर संस्कृत का भी घोर प्रभाव है।[1]

प्राकृतपैंगलम् के दो छन्द गीतगोविन्द के श्लोकों के बिलकुल रूपान्तर मालूम होते हैं। मैं बहुत विश्वास से तो नहीं कह सकता किन्तु लगता है, ये छन्द जयदेव के स्वत: रचित हैं, गुरुग्रन्थ साहब के दो पदों की ही तरह ये भी उनके पश्चिमी अपभ्रंश या पुरानी ब्रजभाषा की कविताओं के प्रमाण हैं। संभव है पूरा गीतगोविन्द परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश या अवहट्ट में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

> जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहिं दंतहिं ठाउ धरा
> रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, वंधिय सत्तु सुरज्ज हरा
> कुल खत्तिय तप्पे, दहमुख कप्पे, कंसअ केसि विणास करा
> करुणा पअले मेछह बिअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा
>
> (पृ० ५७०।२७०)

गीतगोविन्द[2] का श्लोक :

> वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
> दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्रं क्षयं कुर्वते॥

१. It seems very likely they (Poems in Guru Granth) were originally in Western Apabhrams'a as written in Bengal. Western characteristics are noticable in them e. g. the-u-affix for nominative. There is straight influence of Sanskrit as well.

Origin and Development of the Bengali Language, P. 126.

२ मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा सम्पादित, बम्बई १९१३।

पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥
(अष्टपदी १, श्लोक १२, पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें विरही लोग अत्यन्त कष्ट से बिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौरों की गुंजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

जं फुल्लक फल वण बहुत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
झंकार वलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुअ दर विरसं
आणंदिय जुअ अण उलसु उठिय मणु
सरस नलिणि किम सयणा
पल्लट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा
(पृ० ५८७।२१३)

गीतगोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुव्याधूतचूतांकुरः
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमं समागमरसोल्लासैरमी वासराः॥
(पृ० २९)

कृष्ण सम्बन्धी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, वह सीधे जयदेव के गीतगोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोकों का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो-एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

जिण कंस विणासिअ किस्ति पआसिय
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे, गिरि हत्थ धरे,
जमलज्जुण भंजिय, पअभर गंजिय,
कालिय कुल संहार करे जस भुवन भरे,
चाणूर विहंडिय, णिअ कुल मंडिय
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे,

सो तुम्ह णरायण, विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीय हरा,
(पृ० ३३४।२०७)

गीत गोविन्द पृ० ७५ के १३वें श्लोक और कृष्णलीला सम्बन्धी प्रारम्भिक वन्दना से ऊपर के पद का भाव-साम्य स्पष्ट मालूम होता है ।

कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं जिसमें वब्बर का नाम आता है । राहुल सांकृत्यायन ने इस वब्बर को कलचुरि नरेश कर्ण का मंत्री बताया है । वब्बर नाम से हिन्दी काव्यधारा में संकलित रचनाओं में से बहुत-सी किसी अन्य कवि की भी हो सकती हैं, उन्हें वब्बर का ही मानने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है । राहुलजी ने वब्बर की इस प्रकार की अनुमानित रचनाओं का संकलन काव्यधारा में किया है ।

उक्तिव्यक्तिप्रकरण

उक्ति ग्रन्थों का जो साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पं० दामोदर का उक्तिव्यक्ति प्रकरण है जिसकी रचना काशी में १२वीं शताब्दी में हुई थी । इस ग्रन्थ के अलावा कुछ प्रमुख उक्ति रचनाओं का पता चला है ।[1]

(१) मुग्धावबोध औक्तिक, कर्ता, कुल मंडन सूरि, रचनाकाल संवत् १४५० वि०

(२) बालशिक्षा ,, संग्राम सिंह, रचनाकाल विक्रमी सं० १३३६

(३) उक्ति रत्नाकर ,, श्री साधुसुन्दर गणि, रचनाकाल १६वीं शती ।

(४) अज्ञात विद्वत्कर्तृक उक्तीयक, रचनाकाल १६ वीं शती ।

(५) अविज्ञात विद्वत्संगृहीतानि औक्तिक पदानि, १६वीं शती ।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण को छोड़कर बाकी सभी रचनाएँ राजस्थान-गुजरात में

१. इन छहों उक्ति ग्रन्थोंका संपादन मुनि जिनविजयजी ने किया है । उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है । मुग्धावबोध औक्तिक का अंश प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ (अहमदाबाद) में संकलित है । उक्ति रत्नाकर, जिनमें नं० ४ और ५ भी संगृहीत हैं, तथा बाल-शिक्षा शीघ्र ही राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर जयपुर से प्रकाशित होनेवाले हैं । पिछले दोनों ग्रन्थों का मूल-पाठ मुझे मुनिजी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है ।

लिखी गयी हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनमें पश्चिमी भाषाओं की बोलियों का ही मुख्यतया प्रतिनिधित्व हुआ है।

उक्ति का अर्थ सामान्य या पामरजन की भाषा है। जैसा मुनिजी ने लिखा है कि 'उक्ति शब्द का अर्थ है लोकोक्ति अर्थात् लोकव्यवहार में प्रचलित भाषा-पद्धति जिसे हम हिन्दी में बोली कह सकते हैं। लोक भाषात्मक उक्ति की जो व्यक्ति अर्थात् व्यक्तता 'स्पष्टीकरण' करे – वह है उक्ति व्यक्ति-शास्त्र।[1] किन्तु इस उक्ति का अर्थ बहुत सीमित बोली के अर्थ में मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि बोली शब्द तो एक अत्यन्त सीमित घेरे के सामान्य अशिक्षित जन की भाषा के लिए अभिहित होता है जब कि इन ग्रन्थों के रचयिता इस शब्द से साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न जन-व्यवहार की अपभ्रंश की ओर संकेत करना चाहते हैं।[2] इन लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकारसे भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित करके ब्राह्मणी ही कहलाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी ! उक्ति-व्यक्तिप्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनविजयजी लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूर्वीया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास-क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विवरण ब्रजभाषा के अत्यन्त निकट पड़ता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो क़रीब-क़रीब वैसा ही था जैसा प्राकृतपैंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल सम्बन्धी अन्य रचनाओंकी भाषा का, किन्तु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों को (व्यंजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं

---

१. उक्ति-व्यक्तिप्रकरण, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ७।

२. देशे देशे लोको वक्ति गिरा भ्रष्टया यया किंचित्।
सा तत्रैव हि संस्कृतरचिता वाच्यत्वमायाति ॥ ६ ॥
संस्कृत भाषा पुनः परिवर्त्य प्रयुज्यते तदाऽपभ्रंशभावैव दिव्यत्वं प्राप्नोति। पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति। उक्ति व्यक्ति प्रकरण; व्याख्या, पृ० ३।

कर सकी वे या तो सन्धि या संकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिये गये या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नयी भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति-व्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं! इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नयी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण से :

(१) दूजेण सउं (सौं) सब काहू तूट (त्रुट कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हों करओं (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहिं दुलाल (इ) तेम तेम (तिमी तिमि) दूजण कर हिय साल (इ) उक्तिव्यक्ति (३८।१७)

(४) चोरु (चोरो) धन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सूओ (सूआ <शुक) माणुस जेउं (ज्यों) बोल (इ) ५०।२९

उक्ति-व्यक्तिप्रकरणके अन्तिम पत्र त्रुटित हैं इसलिए भूतकालके रूपों का तूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कारान्त प्रातिपदिक (प्रथमा में[1]) हउं सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसर्गों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हिं' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाटुर्ज्या प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं।[2]) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। यह लोकभाषा की एकदम नयी और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी जिसका प्रभाव अन्य औक्तिक ग्रन्थों की भाषा में भी समान रूप से दिखाई पड़ता है!

1. I am inclined to look upon—u—as a form taken from Westem Apabhramsa....later strengthened the similar affix from old Braj.

   Ukti vyakti Prakarana, Study, pp. 40.

2. This-he-is a sort of made-of-all-work-so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and from old Braj.

   Ukti vyakti Parkarana, Study, pp. 37.

राउरवेलकी भाषा

•

हिन्दी अनुशीलन के धीरेन्द्र वर्मा विशेषांकमें डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने रोडाकृत 'राउरवेल' (राजकुल विलास), [११वीं शती का एक शिलाङ्कित भाषा काव्य] नाम से एक लेख छपवाया। इस काव्य का परिचय इसके पहले डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने 'भारतीय विद्या' पत्रिका में (भाग १७, अंक ३-४, पृ० १३०-१४६) उपस्थित किया था। डॉ० गुप्तके निबन्धसे ज्ञात होता है कि उन्होंने यह जानकर कि इस विषय पर डॉ० भायाणी पहले से कार्य कर रहे हैं अपने शोध कार्यको कुछ दिनों तक रोक रखा और जब डॉ० भायाणीका निबंध छप गया, तो उन्होंने अपने निबंध को हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया।

यह काव्य एक शिला पर अंकित है जो प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम बम्बई में सुरक्षित है। शिलाखंड टूटकर चार टुकड़ों में विभक्त हो गया है जिसके कारण कोने की पर्तें तो निकल ही गई हैं, तोड़ पर भी पर्तों के निकल जाने से यह महत्त्वपूर्ण शिलालेख कई स्थलों पर अवाच्य हो गया है। यह शिलालेख ४५" × ३३" के परिणाम का है। डॉ० गुप्त ने लिखा है कि यह कहाँ से प्राप्त हुआ ठीक ज्ञात नहीं है। पर डॉ० भायाणी इसे धार से प्राप्त 'कूर्मशतक' वाले शिलालेख के साथ आया ही बताते हैं। कूर्मशतक के शिलालेख के विषय में में 'इपिग्राफिका इंडिका' जिल्द ८, पृ० २४१ पर विचार किया गया है। राउरवेल के शिलालेख और कूर्मशतक वाले धार के शिलालेख की लिखावट के आधार पर डॉ० गुप्त और डॉ० भायाणी दोनों ने ही इसे ११वीं शतीके आस-पास का स्वीकार किया है।

डॉ० गुप्त इसका लेख-स्थान त्रिकलिंग मानते हैं। उनका अनुमान है कि इस काव्यमें प्रयुक्त 'टेल्लि' और 'टेल्लिपुतु' शब्दों से ऐसा संकेत मिलता है। चूँकि इसमें गौड़ शब्द भी आता है इसलिये डॉ० गुप्त का मत है कि यह कलचुरि वंशके अधीन किसी राजा के गौड़ सामंत से सम्बद्ध हो सकता है क्योंकि त्रिकालिंग उस समय कलचुरियों के आधिपत्य में था और कचुरि तथा गौड़ एक नहीं हैं। डॉ० गुप्त के अनुसार इस काव्य में उक्त गौड़ सामन्त की कुछ नायिकाओं का नखशिख है। पहली नायिका ठीक से स्पष्ट नहीं होती, दूसरी हूणि है, तीसरी राउल नामकी क्षत्रिय कन्या, चौथी टक्किणी, पांचवी गौड़ी

और छठीं कोई मालवीया है। प्रथम पांच नखशिख पद्य में तथा छठा गद्य में है। लेख की भाषा डॉ० गुप्त के मत से पुरानी दक्षिण कोसली है, जिस प्रकार उक्ति व्यक्ति प्रकरण की पुरानी कोसली है।

डॉ० भायाणी की मान्यता इससे भिन्न है। लेख की अंतिम पंक्ति 'आठहँ भासहँ' से उन्होंने अनुमान लगाया है कि इस शिलालेख में कुल आठ नखशिख रहे होंगे जो अपभ्रंशोत्तर आठ बोलियों में लिखे गये थे। आरंभ के दो नष्ट हो चुके हैं और जो छः बचते हैं वे क्रमशः अवधी, मराठी, पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, बंगाली तथा मालवी के पूर्व रूपों में लिखे गये हैं। डॉ० भायाणी ने अलग-अलग नखशिखों की भाषा में तत्तत् भाषाओं के प्रयुक्त कुछ तत्वों को दृष्टि में रखकर ही यह अनुमान लगाया था।

डॉ० गुप्त का कहना है 'आठहँ भासहँ' पाठ ठीक नहीं है। पाठ होना चाहिये : तहँ भासहँ जइसी जाणी। और इसका अर्थ है उस भाषा जैसा मैंने जाना।

वस्तुः अपभ्रंश से 'तहँ भासहँ' का अर्थ 'भाषा' ही नहीं 'भाषाओं' भी हो सकता है और इन नखशिखों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अलग-अलग नायिका के रूप का वर्णन करते समय यह प्रयत्न किया है कि यथार्थ और चमत्कार के लिये वह उनकी भाषाओं की कुछ छौंक भी ले आये। अंतिम पंक्ति का अर्थ कवि के मन में शायद यही था कि ये नखशिख उनकी भाषाओं में जितना मैं इन भाषाओं को जान सका हूँ, बखानित किये गये हैं। इसलिये नायिका की भाषा को दृष्टि में रखकर उसके वर्णन के प्रसंग में कुछ तत्व उस भाषा के भी स्वभावतः आ गये हैं।

राउरवेल हमारी भाषा और साहित्य दोनों के अध्ययन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण आलेख है इसका महत्त्व सिर्फ़ इसी बात में नहीं है कि यह ११वीं शती की कृति है बल्कि इसलिए भी कि पत्थर पर टंकित होने के कारण यह उस काल की भाषा का बहुत ही प्रामाणिक रूप उपस्थित करता है। लेखन-सौकर्य और अनुलेखन पद्धति से उत्पन्न उन विकृतियों से भी यह बचा हुआ है जिनका शिकार हमारे अधिकांश काव्य-ग्रंथ हो चुके हैं।

जहाँ तक इसकी भाषा के अध्ययन का प्रश्न है, इस पर दो दृष्टियों से विचार होना चाहिये। पहला तो यह कि क्या यह अपभ्रंशोत्तर भिन्न-भिन्न बोलियों में लिखा गया है जैसा डॉ० भायाणी कहते हैं। दूसरा यह कि यदि यह सिर्फ एक ही भाषा में लिखा हुआ है, जैसा कि डॉ० गुप्त कहते हैं, तो वह भाषा क्या पुरानी कोसली ही है या और कुछ ?

मैं डॉ० गुप्त की राय से सहमत हूँ कि यह भिन्न-भिन्न भाषाओं में नहीं लिखा हुआ है, पर मैं यह नहीं मानता कि इस पर दूसरी भाषाओं के प्रभाव हैं ही नहीं। मैं मानता हूँ कि राउरवेल परवर्ती अपभ्रंश (अवहट्ठ) में लिखी हुई कृति है। यह अपभ्रंश मध्यदेशीय है। इस पर पछाहीं अपभ्रंश का प्रभाव घना है। चूँकि इसमें पूर्वी नायिकाओं का वर्णन भी है, और यदि डॉ० गुप्त का कथन सत्य है कि यह किसी गौड़ सामन्त के राजकुल के विलास का वर्णन है, तो स्वाभाविक रूप से इसमें पूर्वी भाषा या भाषाओं के भी अनेक तत्त्व दिखाई पड़ेंगे। पर मूल भाषा पछाहीं अपभ्रंश का विकसित परवर्ती रूप है इसमें सन्देह नहीं।

दूसरी बात यह कि लेखक ने टक्किणी, गौड़ी नायिका के वर्णन और तीसरे नखशिख में (यह चाहे जिस प्रदेश की नायिका का वर्णन हो, वह हूणि तो नहीं ही है) क्रमशः पूर्वी, पंजाबी मागधी अपभ्रंश और मराठी के तत्त्वों का सम्मिश्रण भी किया है।

मैं अपने निष्कर्षों पर विस्तार से कुछ कहने के पहले राउरवेल का मूल (जिसमें छठे नखशिख को पूरा नहीं उतारा गया है) यथासंभव अविकल रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ :

(१)

आँखहि काजल तरलउ दाजइ।
आछउ तूछउ··········फूल·······इ ॥
अहर तँवोले मणु मणु रातउ।
सोइ देइ कवि आन················॥ ३ ॥
जाला काँठी गलइ सुहावइ।
आनु कि सोहइ ताकरि पावइ॥ ४ ॥
रातउ कँचुआ अति सुठु चाँगउ।
गाढ़उ बाँधऊ··················आँगउ ॥
– दुंहा पहिरणु मालउ भावइ।
तासु सोह कि कछडा पावइ॥ ५ ॥
विणु आहरठो जो पायेन्हु सोह।
आनु बनाँ तहँ·············मो मोह ॥
अइसी वेटिया आ घर आवइ।
ताहि कि तूलिम्वँ कोउ पावइ॥ ६ ॥

(२)

× × छहिं गोहा.........देखसि ।
वलि अहि बाँध लिअहि जे चागिम्बं ॥
....अहि आँतु जे विअइल फूल्ले ।
अछउँ ताउँ कि तेह चें वोल्लें ।। ७ ।।
× × × काचू वोडा ला ।
घडिवनहिं चि जे रेख ।।
ते चिन्तवतहं आनिक ओख ।
.......क चि काँठी काठिहिं सोहइ ।।
कोकहि चो दिठि माँडी चि खोहइ ।। ८ ।।
आविल कछडा दढ गाढा ।
आनिक जोवणु उरू थाढा ।।
हाथिहिं रीठे ऊजल लान्ह ।
जीपुडि तागे आविल सान्ह ।। ९ ।।
पाइहिं पाहंसिआ चिरु चाँगा ।
लोण चि आनिक माँडी आँगा ।।
गोल्ले आनं दिअ तुम्ह चि देसु ।
आनिक तेह चा तो वेसु ।।
........चा वल मण हुणि तो........ ।
ते आपु ली गम्वारिम्ब आखइ ।। १० ।।
तरूविम्ब माँडी ।
पातली को माउ अछाँडी ॥
....क चि अइसी राउल सोहो ।
देखत तोही मयणुव मोही ॥

(३)

एहु कानोडउ कइसउ झाँखइ ।
वेसु अम्हाणउँ ना जउ देखइ ॥११॥
आउँडउ जो राउल सोहइ ।
थइ नउ सो एथु कोक्कु न मोहइ ॥
डहरउ आँखउ काजलु दीनउ ।
जो जाणउ सो थइ नउ वानउ ॥

करडिम्ब अनु काँचडि भउ कानहिं ।
काइं करेवउ सोहहिं आनहिं ॥१२॥
लाँव झलावउँ काँचू रातउ ।
कोकु न देखतु करइ उमातउ ॥
थणहिं सो ऊँचउ किअउ राउल ।
तरुणा जोव्वंत करइ सो वाउल ॥१३॥
बाहुडि अउ सो म्वालउ दीहउ ।
आथि न तहुँ जणु चाहउ ॥
आथहिं माठिअउ सुट्ठु सोहहिं ।
खता जणु समकइ चाहहिं ।
पहिरणु फरहरें पर सोहइ ॥
राउल दीसतु सउ जणु मोहइ ।
झुणि नेउराणि कान सुहावइ ॥१४॥
× मन भावइ ।
हाँस गइ जा चालत अइसी ।
सा वाखर णहु राउक कइसी ॥
जहि घरे अइसी ओलंग पइसइ ।
तं घर राउलु जइसउ दीसइ ॥१५॥

(४)

केहा टेल्लि पुतु तुहु झाँखहि ।
वेहु तुहु आँखहि ॥
वेहु एक्कु सो एथु वज्जिजइ ।
अक्खं दहं हीया मिज्जइ ॥
अड्ढा केह पाहु जो बड्ढा ।
सौप्पर तेहा गोरी लड्ढा ॥
सोप्पर तेहा गोरी लड्ढा ॥
चंद सवाणा दीहा किज्जइ ॥१६॥
जे मुहु एक्के णवि मंझिज्जइ ।
अंधिहि............रा दिसा ॥
जो निहालि करि ममणू मत्ता ।
कच्चंडि थहि सोहहिं दुई गत्ता ।

मंडन संडन डहि परे अङ्ग ।
कंठी कंठ जलाली सोहइ ॥
एहा तेहा सउ जण मोहइ ॥१७॥
आधू धाड़ें थणहिं ज कय्यूं ।
सो सन्नाहु अणंग × × ॥
कय्यूँ विरचहिं जे थण दीसहिं ।
ते निहालि सब वत्थु उवीसहिं ॥
गोरइ अंग वेरंगा कंय्यू ।
संझहिं जोन्हहि नं संग उहूं ॥
पहिरणु घाघेरहिं जो केरा ॥१८॥
कछडा वछडा ढहि पर इतरा ।
एहा बेहु सुहावा टेल्ल ॥
आज्ञ तुसंदा ढहि परइ बोल्ल ।
एही टक्किणी पइसति सोहइ ॥
सा निहालि जणु मल मल चाहइ ॥

(५)

कीस रे वंडिरो टाक तुहु लसि ।
राहु आगे वान तू भूलसि ॥
तंइ की कतहु वेस रे दीठे ।
जेहर तेहर वानस धेठे ॥
गौड सुआणु स तइं कत दीठे ।
ते देखि वेस कि भावथि मीठे ॥२०॥
वेडेन्हु वाधेन्हु ज लुड हिम्ब ।
खोंप वलीए कहु····· सम्ब ॥
खोंपहिं ऊपर अम्बेअल कइसे ।
रबि जणि राहू घे तले जइसे ॥
दिठ हुल फूल अम्हा म्वाझथि ।
ते देखि तरुणे सावइ मूझथि ॥
तुछे फूल तारे मणहारे ॥२१॥
रमणि मुहाँ जणु गणिये तारे ॥
रे रे वर्बर देखु रे···············।

तारि निलाडी सरिसो काहु ।।
भउहीं तू रूरी देखु वर्वर कइसी ।
ताहि काम्ब करो धणु भडणी जइसी ।।
अरे - अरे वर्वर देखसि न टीका ।
चादहिं अपर एहि भइ टीका ।।२२।।

वेटुला टीका केहर भावइ ।
मुह ससि ओलँग या.........नावइ ।।
विणु वनवारा अछण नो वारिसि ।
बुद्धि रे वंडिरो आपणी हारिसि ।।
कान्हन्हु पहिले ताडर पात ।
जणु सोहइं एवं सोहि रे पात ।।
गूआ राँगे दसण रे राते ।।२३।।

आँडी पु त त....माते ॥
काँठहिं माडणु....लर ताग ।
सोलह मयणहिए वंभोऊल लागु ॥
मांसे सोना जालउ कीजइ ।
मोक्का सरसो हुतेहु हसीजइ ॥
गंठिआ तागउ गलेहि सोम सणु ॥ २४ ॥
सो देखि वंडिरो को न मूझसि जणु ।
थण हर माझे जो हार सुतेरउ ।
सोहन्हु....सो कुज ठेरउ ॥
पारडी आँतरे थण हरु कइसउ ॥२५ ॥

सरय जलय विच चाँदा जइसउ ॥
सूतेर हार रोमावलि कलियउ ।
जणि गाँगहिं जल जउणहि मिलियउ ॥
पैहियल वाही जे चंद हाई ।
बीजेर चाँद हि ते चंद हाई ॥
आँगाहि मांडगु अंगेर उजालु ॥ २६ ॥

काठो वेंटी वंडिरो आलु ।
काछा पैहिण केरि ज सो ॥
आन सराहंत सुणहिं अति कोह ॥

विउकणु सेंदुरी सेकदही कीजइ ।
रूअं देखि तारउ सब खीजइ ॥
धवलर कापड़ ओढियल कइसं ।
मुह ससि जोन्ह पसारेल जइसे ॥ २७ ॥

अइसो वेसु जो गउडहिं केरउ ।
छाडि''''नत दिठ सव तोरउ ।
जेहर रुचइ तेहर वोलु ।
तारे वेसहि आथि कि मोलु ।
अइसी गउडि ज राउल पइसइ ।
सो जणु काछी माँडेउ दीसइ ॥ २८ ॥

(६)

गौड़ तुहुँ एकु कोप न अवरउ
को तंहसहु मइं वोलइ ।
ज पुणु मालवीउ वेसुहिं आवंतु
काम्वदेउ जाउँ आपणाह हथियार भूलइ ॥ २९ ॥

इहाँ अम्हारइ दुमगी खोंप करिउ मइ ।
तर्ति सारिखउ कहाँ इउ अथ एउ किस''''।
खोपहिं अवर सोलडहउ देखउ वानु तं किसउ भावइ ।
जिसउ सिंदूरिअउ रजायसु काम्वदेवह करउ नावइ ॥३०॥
निलाडु रतु रूरउ सुववाणु न सान्हउ न ऊचंउ ।
सा देखिउ आठम्विहि करउ चाँदु इसउ भावइ ॥
एहु ओडि अउ जून उठें चउ ।
मउँह हुरं दुइ तु रूरिहिं सान्हिहि आडाह आँखिहिं करइ
गुणइ ॥ ३१ ॥

जइसउ काम्व करउ धणुहु चडाविमउ ।
निडाली टीके तु रूरे कीएँ ते काम्वह ।
संकराहि भाले हि करउ काजु पावियउ ।
सान्हाहं पुडहं नाकु लु रुरउ सुरेखु ।
सोइर वाना हंस वटँ उतरिअउ ॥३२॥ अइसउ करिउ लेखु ।
आँखिर फाटा तीखा ऊजला तरला ते वानति जमि सूखइ

तइ सउ हथियारु पावउ काम्वदेउ अगही काइ करिसी।
अइ सउ बृहस्पतिही नउ मूझइ ॥ ३३ ॥
आखिहिर तु रूरउ काजलु दीनउ कइसउ।
जणु चाखुहु करइं मयइ कियउ जिसउ।
पूनिवहि करउ चाहु फाडिउ हरिणु पाखइ घालिउ।
दुई कपोल जिसा किया।
ते देख तँह ॥ ३४ ॥ सवहं तरूणा
पाविवे करी खणुसइ घस-घस पडहिं हिआ।
कनवासहीं कानहीं बाइ करउ खूटउ बोलु।
कें कें केतउन खपिअउ एहिं जगी आथु न मोलु।
तेन्हर पइहिआ घडिवन किसा मावंथि।
जणु पूनिवहि कस चाँद को डइंतहि करउ सुहावउ ॥आदि॥
×　　×　　×
रोडें राउल बेल वखाणी
पुणु तहँ भासहँ जइसी जाणी

विभिन्न बोलियों का प्रभाव :

नखशिख नं० २ – दूसरे नखशिख को भायाणी ने अपभ्रंशोत्तर मराठी में लिखा माना है। यह शुद्ध मराठी में लिखा तो नहीं है; पर इस पर मराठी का प्रभाव अवश्य है। उदाहरण के लिये इसमें मराठी संम्बन्ध कारक की चा, चे, चि या ची आदि विभक्तियाँ कई बार प्रयुक्त हुई हैं। दूसरे नखशिख के पाठ में इन विभक्तियों को मुद्रण में उभार कर रक्खा गया है। उस पर ध्यान देने से मालूम होगा कि ये रूप कुल १० बार प्रयुक्त हुए हैं।

मराठी के और भी कुछ तत्त्व इस नखशिख में दिखाई पड़ते हैं। जैसे अधि-करण की विभक्ति 'आंत'। पंक्ति है :

अहि आंत जे विअइलि फुल्लें [पंक्ति ७]

इसका अर्थ डा० गुप्त ने किया है "जो आंत (बलवान) अहि विकचित और फूले हुये हैं।"

कवि वेणी में गुंथे फूलों का वर्णन कर रहा है। मेरी दृष्टि से अहि आंत का अर्थ 'अहि मे' अर्थात 'वेणी में' होगा।

यह 'आंत' से मराठी अधिकरण कारक का परसर्ग है जो संस्कृत अन्तः से विकसित हुआ है। इसका अर्थ बलवान कुछ उचित नहीं लगता।

सातवीं पंक्ति के ठीक बाद एक शब्द है वो डाला, और दसवीं पंक्ति में आपु ली। ला, ली आदि मराठी सम्प्रदाय के परसर्ग हैं। अर्थ होगा बोडा के लिए, आप के लिए या अपने लिए।

उसी प्रकार "........चा बल भण हुणि........" में मेरा अनुमान है कि हुणि का अर्थ हूण-नारी नहीं है बल्कि हुणि मराठी अपादान प्रत्यय है [तुलनात्मक भाषा विज्ञान डॉ० गुणे पृ० २२७]

नखशिख नं० ४—चौथा नखशिख टक्किणी नायिका के विषय में है। टक्क पूर्वी पंजाब का नाम था। भायाणी ने इसे पंजाबी के पूर्व रूप में लिखा बताया है। इस अंश को पढ़ने पर इसकी भाषा सम्बन्धी दो विशेषताएँ स्पष्ट ही परिलक्षित होती हैं।

(१) शब्दों में द्वित्वव्यंजनों की अधिकता—शब्दों के द्वित्वव्यंजनों को सरलीकरण के आधार पर बदला नहीं गया है। द्वित्वव्यंजनों की उच्चारण-परुषता को सुरक्षित रखने की यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश की प्रवृत्ति के विरूद्ध है। जैसे एक्कु, वन्निजइ, भिज्जइ, अड्डा, बद्धा, सोप्पर, लद्धा, किय्यइ, एक्के, मंडिज्जइ, दित्ता, कय्यू, विच्चहिं गन्न, अन्न आदि। यह प्रवृत्ति पंजाबी में न केवल प्राप्त होती है, बल्कि सचेष्ट रूप से सुरक्षित रक्खी जाती है।

युग्म-व्यंजनों के प्रयोग की इस विशिष्टता को लक्षित करते हुए डा० चाटुर्ज्या ने "भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी" के पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि, "पंजाबी में अब भी मभाआ के युग्म-व्यंजन सुरक्षित हैं" जब कि दूसरी भाषाओं में सरलीकृत कर लिये गये हैं।

(२) 'में' के अर्थ में 'विच्च' का प्रयोग भी पंजाबी की अपनी विशेषता है। 'कय्यू विय्यहि मा विच्चहिं' ऐसा ही प्रयोग है। कच्चूँ स्वयं में एक विशेष ध्वन्यात्मक विशेषता से संयुक्त है। कच्चू का कय्यूं रूप भी पंजाबी ध्वनि-प्रक्रिया को विशेषता है। यह प्रवृत्ति हमें लहंदा भाषा में मिलती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि चौथे नखशिख में 'टक्किणी' नायिका के वर्णन में कवि ने भाषा में तत्कालीन पंजाबी के कुछ तत्वों का सम्मिश्रण अवश्य किया था।

नखशिख नं० ५—अब गौड़ी नायिका से सम्बद्ध पांचवां नखशिख देखिए। इसकी भाषा में भी गौड़ अपभ्रंश या मागधी अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। भूतकाल की 'ल' विभक्ति कई क्रियाओं में व्यहृत हुई है। गौड़ संज्ञा एक काफी बड़े क्षेत्र के लिये प्रयुक्त होती थी। इसमें मिथिला, बंगाल, आसाम, उड़ीसा के क्षेत्र भी सम्मिलित थे। सब को मिला कर 'पंचगौड' कहा

जाता था। इन सभी क्षेत्रों की भाषाओं में भूतकाल में 'ल' विभक्ति चलती है। इस 'नखशिख' में ऐसे उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :

पहिले, पैह्लिअल, ओढ़ियल, पसारेल आदि। एक अर्धाली देखिए।

धवरल कापड़ ओढ़ियल कइसे।
मुह ससि जोन्ह पसारेल जइसे।

बंगला की षष्ठी विभक्ति में अपभ्रंश केर > एर > र चलता है। सूतेर हारू, अंगेर उजाल आदि रूपों में यह प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। इस प्रकार दूसरे, चौथे और पांचवें नखशिख की भाषा पर क्रमशः मराठी, पंजाबी और बंगला आदि पूर्वी भाषाओं के प्रभाव की बात निराधार नहीं लगती।

राउरवेल की भाषा का समष्टिगत रूप से अध्ययन करने से पता चलता है कि इसमें पछाहीं अपभ्रंश का प्रभाव ज्यादा है। मैं यहाँ संक्षेप में इसे दृष्टि में रखकर कुछ विचार उपस्थित कर रहा हूँ।

व्रजभाषा और गुजराती आदि पश्चिमी अपभ्रंश से निसृत भाषाओं की रूपगत सबसे बड़ी विशेषता भूतकालिक क्रिया, विशेषण तथा संज्ञा शब्दों में प्रयुक्त ओकारान्त की प्रवृत्ति है। सरसरी तौर से भी राउरवेल पढ़ने वाले को लगेगा कि इसमें उकार बहुलता हो नहीं इ + उ = यो तथा अ + ओ = ओ की प्रवृत्ति ज्यादा तौर से परिलक्षित होती है। कुछ उदाहरण देखिए :

अइसउ ३३ (अइसो) अइसोउ २८ (अइसौ या ऐसो) आंगउ ५ (आंगों या अंगो) ऊँचउ १३ (ऊँचो) उतरियउ ३२ (उतरयो) कउणू ४२ (कौनू या कौनो) घालिउ ३४ (घाल्यो) चढाविअउ ३२ (चढ़ाव्यो या चढ़ायौ) जइसउ २४, ३१ (जैसो) तइसउ ३३ (तैसो) तोरउ २८ (तोरो) दीनउ १२, ३४ (दीन्यो, कन्नौजी) पाविउ ३३ (पावियौ) पाविअउ ३२ (पावियौ या पायौ) भणिउ ४३ (भन्यौ) बोलउ ४२ (बोल्यो) रूरउ २२, ३१, ३४ (रूरो सरिसो २२।

दूसरी बात कर्मवाच्य के प्रयोग की है। अपभ्रंश इज्जइ > ईजइ > ईजे रूप ब्रजभाषा में पाया जाता है और इसे भाषाविदों ने पश्चिमी अपभ्रंश की मौलिक विशेषता स्वीकार किया है। राउरवेल के उदाहरण देखिए :

वन्निजइ १६, भिज्जइ १६, कियइ १६, कीजइ २४, २७ आदि।

तीसरी बात सर्वनाम के साधित रूपों की है। ब्रज में जा, ता, का आदि साधित रूप प्रयुक्त होते हैं जे, ते, के आदि नहीं। इनसे रूप जाको, ताको, याको या जापै, तापै, यापै आदि बनते हैं। जे कहँ, ते कहँ आदि नहीं। ऐसे रूप राउरवेल में आते हैं।

जा १५ जा घर ६, ताकरि ४। करण में जेण, तेण से निःसृत जे, तें या तैं रूप जैसे तें ३०, ४०, ४१, तेइं ४५, जें १६ कें कें ३५ आदि रूप पश्चिमी प्रभाव के सूचक हैं।

इसी प्रकार प्रश्नवाचक सर्वनाम भी ब्रजभाषा में 'को' से बनते हैं के से नहीं; जैसे को २५, २९, ४३, ४५, कोउ ६, कोउ १३, कोक्कु १२। जो से बने सर्वनाम जो १२, १३, (कुल ९ बार) जो केरा १८।

परसर्गों के प्रयोगों में भी भाषा पर पश्चिमी प्रभाव की छाप दिखाई पड़ती है। क्रिया वर्त्तमान काल के तिङन्त रूप तथा वर्त्तमान में ही कृदन्तज रूपों की भी अधिकता है।

वैसे जैसा कि मैंने पहले ही कहा इस पर पूर्वी हिन्दी यानी अवधी आदि का प्रभाव भी कम नहीं है।

इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि राउरवेल हिन्दी भाषा के अध्ययन की अमूल्य कड़ी है। मध्यदेशीय अपभ्रंश के अभाव की बात सभी विद्वान् किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण के साथ राउरवेल का संयोग इस कमी को दूर करेगा और हमारे साहित्य और भाषा के अध्ययन को एक सबल आधार प्रस्तुत करेगा यह निर्विवाद है।

इन प्रमुख रचनाओंके अलावा अवहट्ट की बहुत सी छोटी-छोटी कृतियाँ भी मिलती हैं। इनमें विनयचन्द सूरि की नेमिनाथ चतुष्पदिका, अंबदेव सूरि का समररास, जिनपद्मसूरि का थूलभद्द फागु आदि प्रसिद्ध हैं। अवहट्ट के तत्त्व पुष्कल मात्रा में चन्द के रासो, श्रीधर व्यास के रणमल्ल छन्द में भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अवहट्ट सम्बन्धी अनेकानेक सामग्री विविध पत्र-पत्रिकाओं में परवर्ती अपभ्रंश में लिखी रचनाओं के परिचय-परीक्षण सम्बन्धी निबन्धों में भी दिखाई पड़ती है। ऊपर की अनेक कृतियों के बारे में मैंने 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक प्रबन्ध में विचार किया है।

अवहट्ट का गद्य

संस्कृत भाषा में विपुल गद्य साहित्य उपलब्ध है। वाण, सुबंधु, दण्डी आदि ने गद्य-साहित्य को जो चरम विकास दिया, वह किसी भी भाषा के गद्य-साहित्य के लिए स्पर्धा की वस्तु हो सकता है। गद्य के विभिन्न प्रकार निश्चित किये गये। वामन ने वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक ये तीन भेद बताये। इन्हीं के आधार पर गद्य शैलियों की मीमांसा करते हुए विश्वनाथ कविराज ने एक चौथा भेद मुक्तक भी स्वीकार किया। गद्य में भी संस्कृत आलंकारिकों ने

'रस' के महत्त्व को स्वीकार किया। इसी कारण गद्य को वहाँ 'गद्य काव्य' कहा गया। विषय, अर्थ, आकार, उपादान, शैली, आस्वाद्यता, ग्राहक आदि तत्त्वों का विस्तृत विश्लेषण और विवेचन किया गया। बाण, सुबंधु और दण्डी के साथ ही धनपाल का नाम भी लिया जा सकता है। धनपाल की तिलक मंजरी की प्रशंसा करते हुए मुनि जिनविजयजी ने लिखा है—"समस्त संस्कृत साहित्य के अनन्त ग्रंथ संग्रह में बाण की कादम्बरी के सिवाय इस कथा की तुलना में खड़ा हो सके, ऐसा कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है। बाण पुरोग भी है, उसकी कादम्बरी की प्रेरणा से ही तिलकमंजरी रची गयी है, पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि धनपाल की प्रतिभा बाण से चढ़ती हुई न हो तो उतरती हुई भी नहीं है।"

सहसा इस बीच गद्य का अभाव-सा हो जाता है। प्राकृत में नाम के लिए थोड़ा सा गद्य प्राप्त है जिसे न होना ही कहना चाहिए। कौतूहल की लीलावाई में कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं। 'समाराइच्च कहा' और 'वसुदेव हिंडी' में भी गद्य है। अपभ्रंश में कुवलय माला कथा में कुछ गद्य मिलता है। इसके गद्य में तत्सम शब्दों की भरमार है। पर संस्कृत की तरह बहुत लम्बे-लम्बे समस्त पद नहीं मिलते न तो इसमें बीच-बीच में तुकान्त करने की प्रवृत्ति ही दिखाई पड़ती है। एक छोटा सा उदाहरण नीचे है :

> भो भो भट्टऊत्ता तुम्हें ण याणह यो राजकुले वृतान्त
> तेहिं भणियं भण हे व्याघ्रस्वामि का वार्ता राजकुले
> तेण भणियं कुवलयमालाए पुरिसद्वेवषिणीर पातओ लंविताः
> इमं च सोऊण अप्फोडिऊण एक्को उट्ठिउ चट्टो। भणियं च
> णेणं यदि पांडित्येन ततो मई परियेतव्य कुवलयमाल।

पूर्ववर्ती अपभ्रंश में गद्य का प्रयोग बहुत कम दिखाई पड़ता है। परन्तु अवहट्ट काल में आते-आते गद्य साहित्य का विकास होने लगता है। जैसा कि पहले ही कहा गया अवहट्ट का विपुल साहित्य अद्यावधि अप्रकाशित ही पड़ा है। इस विशाल साहित्य का कुछ भाग कभी कभी विद्वानों द्वारा यत्र तत्र परिचय के लिए प्रकाशित अवश्य होता है जो उसके विकास और गठन की प्रौढ़ता का द्योतक तो होता है किन्तु शास्त्रीय अध्ययन का विषय कठिनाई से बन सकता है। फिर भी इस साहित्य का बहुत भाग प्रकाश में भी आ गया है! प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह की २१ रचनाओं में ७ गद्य की रचनाएँ हैं, जो भिन्न-भिन्न कालों के विकास क्रम को दिखाती हैं। अवहट्ट मिश्रित गुजराती गद्य

'प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ' में संग्रहीत हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने संवत् १९९८ में ही किसी अप्रकाशित ग्रन्थ के कुछ नमूने 'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' शीर्षक से नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया था।[1] इधर उन्होंने यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी के जर्नल के बारहवें भाग में तरुणप्रभ सूरि नामक जैन विद्वान की पुस्तक 'दशार्णभद्रकथा' की सूचना प्रकाशित कराई है। इससे मालूम होता है कि चौदहवीं शती के इस जैन कवि के गद्यों में भी तत्सम शब्दों की प्रधानता है।

पूर्वी क्षेत्रों में गद्य की दो पुस्तकें मिलती हैं। पहली ज्योतिरीश्वर ठाकुर की वर्णरत्नाकर और दूसरी विद्यापति की कीर्तिलता। वर्णरत्नाकर सम्पूर्ण गद्य में ही है। वर्णरत्नाकर की भाषा में जैसा निवेदन किया गया शब्द सङ्कलन की प्रधानता के कारण गद्य-प्रौढि का दर्शन नहीं होता। फिर भी गद्य की यह एक बड़ी ही अमूल्य निधि है। कीर्तिलता में गद्य का प्राधान्य है और यह अपनी अलग विशेषता रखता है। नीचे अवहट्ट गद्य के कुछ उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं।

१—उक्ति व्यक्ति प्रकरण

गांग न्हाएं धर्म हो, पापु जा। जस जस धर्म बाढ़, तस तस पापु घाट। जब जब धर्म बाढ़, तब तब पापु ओहट। जैसें जैसें धर्म जाम तैसें तैसें पापु खाम। जेइं जेइं धर्म पसर तेइं तेइं पापु ओसर। यैहा यैहा धर्मु चड, तैहा तैहा पापु खस। जाहाँ जाहाँ धर्मु नाद, ताहाँ ताहाँ पापु मान्द।

२—वर्णरत्नाकर

गौमेदक पारी चारिहु दिसि छललि अछ! इन्द्रनीलक साटि पद्मराग चल हिमालयक पुरुष अधिष्ठान वइसल अच्छ। चुत चन्दन चाप श्रीफल, अशोक, अगरु, अश्वत्थादि ये अनेक वृक्ष तें अलंकृत पंक तट अइसन सर्व्वगुण सम्पूर्ण पोखरा देषु।

३—आराधना १३६०।

पंचपरमेष्ठि नमस्कारु जिन शासनसारु चतुर्दशपूर्व समुद्धार सम्पादित सकल कल्याण सँभारु विहित दुरितापहारु क्षुद्रोपद्रवपर्वत वज्रप्रहारु लीलाइलित संसारु सु तुम्हि अनुसरहु पंचपरमेष्ठिनमस्कारु स्मरहि, तज तुम्हि स्मरेवउ, अनइ परमेश्वरि तीर्थंकरदेवि, इसउ अर्थ भणियउ अच्छइ। अनइं संसारतणउ प्रतिमउ

---

1. श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६ अंक ३।

म करिसउ अनइ सिद्ध नमस्कारा इहालोकि परलोकि सम्पादियइ। आराधना समप्तेति।

४—पृथ्वी चरित्र पृ० ६६ संवत् १४७८। माणिक्य चन्द्रसूरि

तिणि पाटणि राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र इसियं नामियं राज्य प्रतिपालइ। भुजबल करि वयरी वर्ग टालइ। जिणि राजा गोडु देश नउ राउ गंजिउ, भोटनउ भंजिउ, पंचालनउ राज पालउ पुलइं, करनडा देशनउ कोठारि रुलइं ढोसमुद्रतउ ढोमणां ढोयइ, वाबरउ वारि वइठउ, टगमग जोयइ, चौवनउ दंड चांपिउ, कास्मीरनउ फांपिउ सोरठोयउ सेवइ, तुडि न करेइ देवइ।

पृथ्वी चरित्र काफी लम्बी और परवर्ती अपभ्रंश गद्य की बड़ी प्रौढ़ रचना है।

५—अतिचार सम्वत् १३४०।

वारि भेदु तप छहि भेद। वाह्य अणसण इत्यादि! उपवास आंबुलनिविय, एकासणु पुरिगड्ढ व्यासणं, यथा शक्तिपु तथा ऊनोदरितपु वृत्तिसंखेउ। उपवास कोधइ, वीरासइं सवित्त पाणिउ पीधउ हुअइ।

६—संवत् १३५८ सर्वतीर्थनमस्कारस्तवन।

पहिलउ त्रिकालअतीत अनागत वर्तमान वहत्तरि तीर्थंकरि सर्वपाप क्षयंकर हउं नमस्करउं तदनन्तर पांचे भरते, पांचे ऐरावते पांच महाविदेहें सन्तरिसउ उत्कृष्टकलि विहरभाग हउं नमस्करउं।

कीर्तिलता के उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं क्योंकि उसके गद्य का परिचय अपेक्षित नहीं है।

अवहट्ट की विशेषतायें ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती है। जहाँ तक भाषा का सवाल है इसकी गठन से ही स्पष्ट है कि इस प्रकार का गद्य पूर्ववर्ती काल में नहीं लिखा जा सका। प्रथम तो गद्य की भाषा में जब तक संस्कृत शब्दों का मिश्रण नहीं होता आर्यभाषाओं में से किसी भाषा का भी गद्य विचार-पूर्ण रचनाओं के लिए समर्थ नहीं हो पाता। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान तथा भक्ति आन्दोलन के कारण तत्सम का प्रचार होने लगा। कुवलयमाला कथा, उक्तिव्यक्ति प्रकरण के उदाहरणों से स्पष्ट है कि १२वीं शतीके आस-पास ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगती है। बाद में तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचार ही नहीं उस भाषा के गद्य की बहुआदृत समस्त पदों वाली पद्धति का भी अनुसरण किया गया। कीर्तिलता में ही लम्बे तीन-तीन वाक्यों के समस्त पद

सभी उद्धरण गुर्जर काव्य संग्रह से लिए गए हैं।

मिलते तो कोई बात भी थी। अन्य जो उदाहरण दिए गये हैं उनमें भी यह बात परिलक्षित होती है। इस गद्य की दूसरी विशेषता है एक वाक्य में ही पदों के तुकान्त अथवा कभी-कभी वाक्यान्तों में भी तुकान्त का प्रयोग। कीर्तिलता में यह खूब प्रचलित है।

'अरे अरे लोकहु वृथाविस्मृत स्वामिशोकहु कुटिलराज नीति चतुरहु मोर वअन आकराणे करहु। तन्हि वेश्यान्हि करो मुखसारमंडन्ते अलक तिलका पत्रावली खंडन्ते, दिव्यांवर पिन्धन्ते, उभारि उभारि केश पास बन्धन्ते, सरिवजन प्रेरन्तें, हसि हेरन्ते आदि।' यह प्रवृत्ति आराधना, पृथ्वीचन्द्र, अतिचार आदि रचनाओं के उदाहरणों में लक्ष्य की जा सकती है। यह अन्तर्पदीय तुकान्त की प्रवृत्ति निःसन्देह विदेशी है। मुसलमानों के सम्पर्क में आने पर फ़ारसी तुकों की तरह निर्मित मालूम होती है। हिन्दी गद्य के आरम्भ में ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी थी। खड़ी बोली के बहुत से नाटकों में भड़ौवा तर्ज के अन्तर्तुकान्त गद्य मिलेंगे। रासो की वचनिकाओं में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है। गद्य की तीसरी विशेषता है वाक्य गठन की। इनमें वाक्यों को तोड़-तोड़ कर, सर्वनाम के प्रयोगों के साथ नये वाक्य जोड़ने (Periphresis) की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ऊपर के कुछ गद्यों में 'इसियं' से वाक्य शुरू किया गया है।

■

अवहट्ट की मुख्य विशेषताएँ और उनका हिन्दी पर प्रभाव

•

पिछले वर्षों में भाषाशास्त्र के अध्येता के सम्मुख अपभ्रंश की विपुल सामग्री उपस्थित हो गई है। इसलिए हिन्दी या आधुनिक आर्य भाषाओं के अध्ययन में अपभ्रंश की देन पर वह पिशेल या याकोवी से अधिक विश्वास के साथ विचार व्यक्त कर सकता है। किन्तु इस पुष्कल सामग्री के उपलब्ध हो जाने के कारण भाषा का अध्ययन करने वालों का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। अपभ्रंश, जैसा कि इसके इतिहास से प्रतीत होता है, ६ वीं ७ वीं शताब्दी से १६ वीं तक किसी न किसी रूप में साहित्य रचना के माध्यम के रूप में स्वीकृत रहा है, इसलिए सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य अपभ्रंश का ही कहा जाता है और उसे हम ज्यों का त्यों वर्तमान आर्य भाषाओं का पूर्ववर्ती साहित्य मानकर उसमें इन भाषाओं के उद्गम और विकास के सूत्र भी ढूंढ़ने लगते हैं। यह ठीक भी है किन्तु यदि अपभ्रंश की पूरी सामग्री की छान-बीन की जाय तो अपभ्रंश के दो रूप स्पष्ट मिलेंगे। एक रूप बहुत कुछ प्राकृत भाषाओं से प्रभावित है। इसमें प्राकृत के तद्भव शब्दों की अधिकता है, वाक्य-गठन भी प्राकृत की तरह ही है। कभी-कभी तो अपभ्रंश की प्राचीन रचनाओं में क्रियापदों के कुछ रूपों को छोड़ कर भाषा का पूरा स्वरूप प्राकृतवत ही लगता है। इसलिए याकोवी ने कहा था कि अपभ्रंश मुख्यतः प्राकृत के शब्द कोश और देशभाषाओं के व्याकरणिक ढाँचे को लेकर खड़ा हुआ। देशभाषाएँ जो मुख्यतः पामरजन की भाषाएँ थीं वे शुद्ध रूप में साहित्य के माध्यम-रूप में गृहीत नहीं हुईं, इसलिए वे साहित्यिक प्राकृत के भीतर सूत्र रूप से गूथ दी गईं और उसी का फल अपभ्रंश है।[1] याकोवी के इस कथन में जो भी तथ्य हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि पूर्ववर्ती अपभ्रंश पर प्राकृत के घोर प्रभाव को देखकर ही याकोवी को इस तरह का विचार व्यक्त करना पड़ा। अपभ्रंश से हिन्दी के विकास का सूत्र सुलझाने वाले विद्वान् भी पुरानी अपभ्रंश में हिन्दी के बीज ढूंढ़ने का कष्ट कम ही करते हैं। कारण

---

१. याकोवी, भविसयत्त कहा पृ० ६८, मायाणी द्वारा सन्देश रासक के व्याकरण में उद्धृत।

स्पष्ट है। प्राचीन अपभ्रंश में उनको ऐसे सूत्र कम मिलते हैं। परवर्ती अपभ्रंश में ही इस तरह के सूत्र मिल सकते हैं क्योंकि परवर्ती काल में अपभ्रंश बहुत कुछ प्राकृत प्रभावों को झाड़ने लगा था और उसमें देशभाषाओं का वह मूल ढाँचा विकसित हो रहा था, जो अपभ्रंश से भिन्न जन भाषाओं में नया रूप ग्रहण कर रहा था। अपभ्रंश की न्यून सामग्री के आधार पर भी, गुलेरी जी ने इस तथ्य को पहचाना था और उन्होंने स्पष्ट कहा कि अपभ्रंश दो तरह की थी : "पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिन्दी से"[1] दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा, "विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह पुरानी हिन्दी (परवर्ती अपभ्रंश) में परिणत हो गई।"[2]

हम इस स्थान पर यही दिखाना चाहते हैं कि परवर्ती अपभ्रंश किन बातों में पूर्ववर्ती से भिन्न था। वे कौन सी मुख्य विशेषताएँ हैं जो अवहट्ट में तो दिखाई पड़ती हैं किन्तु जिनका परिनिष्ठित अपभ्रंश में अभाव है या वे अविकसित अवस्था में दिखाई पड़ती हैं। इसी के साथ-साथ प्रसंगानुसार हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि ये प्रवृत्तियाँ बाद में हिन्दी के विकास में कैसे सहायक हुई। हिन्दी अवहट्ट से विकसित नहीं हुई, हिन्दी के विकास में इस अवहट्ट का प्रभाव अवश्य माना जा सकता है। वैसे हिन्दी शब्द भी भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उलझा हुआ है। स्पष्टीकरण के लिए इतना और निवेदन कर दूँ कि हिन्दी से मेरा मतलब पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी है विशेषतः अवधी, ब्रज और खड़ी बोली।

अवहट्ट की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं पर विचार करने के पहले इतना और कह देना आवश्यक है कि अवहट्ट के पूर्वी और पश्चिमी भेदों को अलग-अलग दिखाना उचित नहीं जान पड़ा। क्योंकि पूर्वी और पश्चिमी भेद नये नहीं हैं, यानी ये भेद पूर्ववर्ती अपभ्रंश में भी थे। ये क्षेत्रीय विशेषताएँ हैं, इन्हें अवहट्ट की मुख्य विशेषताएँ नहीं कह सकते; फिर भी क्षेत्रीय प्रयोगों में जो प्रयोग व्यापक और प्रभावशाली हैं, उनका प्रासंगिक रूप से वर्णन अवश्य किया जायेगा।

अवहट्ट की प्रवृत्तियों के निर्धारण में मुख्यतया नेमिनाथ चतुष्पदिका सन्देश रासक, प्राकृत पैंगलम्, थूलिभद्दु फागु, कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, चर्यागीत और उक्ति व्यक्ति की भाषा को ही आधार रूप में ग्रहण किया गया है।

१. पुरानी हिन्दी पृ० १७। २. वही पृ० ७

ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ

अपभ्रंश और अवहट्ठ में ध्वनि-विचार की दृष्टि से कोई बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं दिखायी पड़ता; फिर भी परवर्ती अपभ्रंश में कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती हैं जो पूर्ववर्ती में नहीं हैं या कम हैं।

§१—पूर्व स्वर पर स्वराघात—प्राकृत के संयुक्त व्यंजनों को उच्चारण की दृष्टि से थोड़ा सहज बनाने के लिए हटा दिया जाता है और उनके स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग होता है। ऐसी अवस्था में कभी संयुक्त व्यंजनद्वित्व के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। कभी दीर्घ नहीं भी करते, परन्तु मुख-सुख के लिए द्वित्व को सरल कर लेते हैं। डॉ० तेसीतरी ने इसे अवहट्ट की सर्वप्रमुख विशेषता स्वीकार किया।[1]

क–क्षतिपूरक दीर्घीकरण की सरलता

ठाकुर (कीर्ति २।१० <ठक्कुर) दूसिहइ (कीर्ति १।४ <दुस्सिहइ = दुस्सं = दुष्यं) काज (कीर्ति० ३।१३४ <कज्ज = कार्य) लाग (कीर्ति० २।१०८ ∠ लग्ग = लग्ने) ऊसास (सं० रा० ९७ क <उस्सास = उच्छ्वास) नीसास (सं० रा० ८३ ग = निस्सं = निश्वास:) वीसरइ (सं० रा० ५४ ग <विस्सं = विस्मरति) दीसहि (सं० रा० ६८ घ = दिस्सं = दृश्यं) पीसियइ (सं० रा० १८७ क <पिस्सं = पिष्यं) आसोय (सं० रा० १७२ क <*अस्सउय < = अश्वयुज)। नाचइ (थूलि० फा० ९ <नच्चइ = नृत्यति) आछइ (नेमि० चतु० ११ <अच्छइ = *अक्षति) दीठइ (नेमि० चतु० १६. ∠ दिट्ठइ दृष्टं) दीजइ (नेमि० १६ दिज्जइ = दीयते)। सीझ (उ० व्यक्ति ५१।१९ सिज्झ = सिद्धयति) बीदा (उ० व्यक्ति १४।१६ <विद्दा <विद्या) झूठ (जूठ उ० व्यक्ति ५२।३ = उच्छिष्टम्) मीत (उ० व्यक्ति २३।८ <मित्त <सं मित्र) सीध (उ० व्यक्ति ४७।१७ <सिद्ध) ईसर (उक्ति० व्यक्ति ५०।१७ ∠ इस्सर <सं० ईश्वर) णीसंक (प्रा० पै० १२८।४ <नि:शंक) तासु (प्रा० पै० ३०।९ <तस्स <तस्य) वीसाम (प्रा० पै० १७३।४ <विश्राम:) सूणी (४८१।४ प्रा० पै० <श्रुत्वा) आछे (प्रा० पै० ४६५।२ <अच्छइ)।

ख—कभी कभी द्वित्व और संयुक्त व्यञ्जन को मुख-सुख की दृष्टि से सरल तो कर लेते हैं; परन्तु पूर्व स्वर को दीर्घ नहीं भी करते। द्वित्व या संयुक्त व्यंजन को आसान करने के लिए एक व्यंजन कर देते हैं परन्तु पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ

---

1. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वैरी, १९१४ O. W. R.

नहीं करते। अपन, कीर्ति. २।४८<अप्पण (<आत्मनः) सबे, कीर्ति. २।६० <सब्बे (<सर्वे) वकवार, कीर्ति २।८३ (<वक्रद्वार) मछहटा, कीर्ति २।१०३ <मक्छहट< (मत्स्यहाटक) रिज, कीर्ति० २।११९ (<ऋजु) काअथ, कीर्ति २।१२१ <काअत्थ (<कायस्थ) वेसा, कीर्ति० २।१३५ (<वेश्या) आअत, ३।५७ (<आयत्त) राउत, कीर्ति० ३।१४५ <राउत्त (<राजपुत्र) तुरुक २।२११ तुरुक्क (<तुरुक) सकुलिय सं० रा० २३ ख (<सक्कु° <शस्कुलिका) कणयार सं० रा० ६० ख (<कण्णियार<कर्णिकार) वखाणियइ सं० रा० ६५ ख (< वक्खा°– व्याख्यान। इकत्ति सं० रा० ८० ख (<इकत्ति<एकत्र) आलस सं० रा० १०५ (<आलस्य) कपूर सं० रा० ७० क<कर्पूर। संयुत प्रा०पैं० ४००।४ (<संयुक्त)। सहब प्रा० प्रै० २७०।४ (<सोढव्यं) उऊस प्रा० प्रै० ५८१।५ <लल्लास, यहाँ ह्रस्व हो गया है। उवरल प्रा० पैं० ८०।७<उर्व्वरितं। अठाइस प्रा० पैं० २६९।१ <अट्ठाइस <अष्टाविंशतिः। इंदासण प्रा० पैं० २४।२< इन्द्रासनं। उपजति, उक्ति व्यक्ति १०।९ (<उत्पद्यन्ते) उडास उक्ति ४९।२७ (<उद्दासति) उवेल उक्ति ५२।१५ (<उद्वेलय) काठहू, उक्ति-व्यक्ति १३।२१ <काष्ठम्; मगसिरि नेमि० चतु० १४।क <मग्गसिर <मार्गशीर्ष। सामिय नेमि० चतु २०।ग (<स्वामिन्)

सरलीकरण Simplification की प्रवृत्ति जो अवहट्ट के इस काल से आरंभ हुई, वह बाद में चलकर आधुनिक आर्य भाषाओं में बहुत ही प्रबल दिखाई पड़ती है। आधुनिक आर्य भाषाओं में प्राकृत के बहु-प्रयुक्त तद्भव शब्द जिनमें दित्व के कारण कर्कशता दिखाई पड़ती है, सरल या सहज बना लिए गए हैं। पूर्ववर्ती अपभ्रंश की कोई पंक्ति ऐसी न मिलेगी जिसके हर पद में द्वित्व या संयुक्त व्यंजन न दिखाई पड़ें। किन्तु बाद में आ० आर्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। प्रायः यह सरलीकरण संयुक्त व्यंजन की जगह एक व्यंजन करके पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ करके होता है। कभी दीर्घ नहीं भी करते और कभी दीर्घ का ह्रस्व तक हो जाता है। प्राकृत पैंगलम् में उल्लास ५८१।५>उलस हो गया है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी इस तरह की प्रवृत्ति मिलती है। भिक्षा>भिक्खा>भीखा>भीख होता है परन्तु भिक्षाकारिक शब्द भिक्खा-आरिअ>भीख-आरिअ>भिखारी (४९।२०) होता है। चटर्जी ने इसका कारण बलाघात का परिवर्तन बताया है। ग्राम शब्द का रूप गाँव होता है इसमें स्वर ज्यों का त्यों है किन्तु जब ग्राम-कार का रूप बदलता है तब ग्रामकार> गँवार>गमार ४१।८ होता है चटर्जी, [उक्ति व्यक्ति स्टडी ३५§।] इस तरह

की प्रवृत्ति अवहट्ठ में प्रायः दिखाई पड़ती है। इसका प्रभाव हिन्दी की अवधी, ब्रज आदि सभी बोलियों पर दिखाई पड़ता है।

§ २—**सरलीकरण** (Simplification) का प्रभाव स्वरों की सानुनासिकता के प्रसंग में भी दिखाई पड़ता है। प्रा० भा० आर्य भाषा काल में अनुस्वार और सानुनासिकता दोनों का तात्पर्य स्वर की सानुनासिकता से था। स्पर्श व्यंजनों में अनुस्वार केवल य र ल व श ष स ह के होने पर ही लगता था; किन्तु म० आ० भाषा काल में अनुस्वार देने की प्रवृत्ति बढ़ गई। परवर्ती अपभ्रंश में इस अनुस्वार को भी श्रुतिसुख के लिए ह्रस्व कर देते हैं, इसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देते हैं।

आँग (२।११० की० <अंग) आँचर (की० २।१४९ <अञ्चल) काँड (की० ४।१६३ <कण्ण<कर्ण) वाँधा (की० ४।४६<बन्ध) बाँकुले (की० ४।४५<वक्र) लाँघि (की० ४।४८<लंघ्) काँधअ (चर्या० ३ <कंधा< स्कन्ध) साँगा (चर्या ८ <संग) गाँग (उ० व्य० ५।२३<गंगा) चाँद (वर्णरत्ना० १८ क ∠चन्द्र) सोंधा (व० र० ५० क ∠सुगन्ध) काँट (वर्ण० ७५ ब ∠कण्टक)। १३ वीं चौदहवीं शती के आस पास इस प्रकार के ह्रस्व सानुनासिकता की प्रवृत्ति बढ़ी। पूर्वी अवहट्ठ में यह प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई पड़ती है; पश्चिमी में अपेक्षाकृत कम; परन्तु ब्रजभाषा आदि बाद की भाषाओं में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। निसाँक, आँक, बाँक आदि शब्द ब्रजभाषा में प्रचुर रूप से मिलते हैं। ज्ञानेश्वरी की भाषा में भी इस प्रकार की ह्रस्व सानुनासिकता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। खाँव∠स्कंव; खाँडिजे∠ खण्ड, पाँगु∠पंगु आदि प्रयोगों के आधार एम० जी पंसे ने उसे ज्ञानेश्वरी की भाषा की एक विशेषता स्वीकार किया है;[1] यह प्रवृत्ति उस काल की प्रायः अधिकांश रचनाओं में मिलती है।

§३ **अकारण सानुनासिकता**—आ० आर्य भाषाओं में कई में इस प्रकार की अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रवृत्ति का आरम्भ अवहट्ठ में ही हो गया था।

उंच्छाह (की० १/२६∠उत्साह) जूंआं (की० २/१४६∠द्यूत) उपाँस (की० ३/११४∠उपवास) काँस (की० २/१०१∠कस्य) बंभण (की० २/१२१∠ ब्राह्मण) अंसू (प्रा० पै० १२५/२∠अश्रु)

१. बुलेटिन आव दि डेकेन कालेज रिसर्च इंस्टि० भाग १० सं० २ पृ० १५५-५६

गंते (प्रा० पैं० ४३९/३ ∠ गात्र) जपंइ (प्रा० पैं० ४१३/३ ∠ जल्पति) वंभु (प्रा० पैं० २३/३ ∠ ब्रह्म) मांकडि (उ० व्यक्ति० ४६/९ ∠ मर्कट) दूंजणें (उ० व्य० ४६/९ दुर्ज्जन) मुँह (उ० व्यक्ति ४४/१४ ∠ मुख) गीवं (उकि० ४६/९ ∠ ग्रीवा)

परवर्ती भाषाओं ब्रज, अवधी आदि में तो अकारण अनुस्वार देने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। रासो आदि में तो चन्द्रविन्दु या अनुस्वार लगाकर संस्कृत का भ्रम फैलाने की भी कोशिश की गई। इस अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति को ज्ञानेश्वरी की भाषा में भी लक्षित किया जा सकता है। अकारण सानुनासिकता के बारे में जूल ब्लाक का विचार है कि यह प्रवृत्ति दीर्घस्वर के बाद र व्यंजन अथवा ऊष्म वर्ण या महाप्राण ओष्ठ्य स्पर्श व्यंजन के आने पर होती है। (ला लाँग मराते § ६९)[1]

§४—संयुक्त स्वर—प्राकृत काल में उद्वृत्त या संप्रयुक्त स्वरों का प्रचार बढ़ जाने से शब्दगत अस्पष्टता को दूर करने के लिए 'य' या 'व' श्रुति का विधान था। परवर्ती अपभ्रंश में इस प्रकार के उद्वृत्त स्वरों का संयुक्त स्वर (Diphthongs) हो जाता था। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में ऐ और औ इन दो संयुक्त स्वरों का प्रयोग विरल है। अपभ्रंश (पूर्ववर्ती) में भी ये संयुक्त स्वर प्रायः नहीं मिलते किन्तु परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में इनका रूप लक्ष्य किया जा सकता है। प्राकृत अपभ्रंश में अइ अउ का प्रयोग संप्रयुक्त स्वर की तरह होता था बाद में परवर्ती अपभ्रंश में ए ऐ और औ संयुक्त स्वर के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

ऐ—भुववै (की० १/५० ∠ भुववइ ∠ भूपति) बैठाव (की० २/१८४ ∠ उप + विश्) भै (को० ३/८६ ∠ भइ = भूत्वा) बोलै (की० ३/१६२ ∠ बोलति) पूतै (उ० व्यक्ति १०/८ ∠ पूतइ) वैस (उ० व्यक्ति० ५०/२६ ∠ उपविश्) पै (उक्ति० २०/२१ ∠ पइ ∠ पाचिअ) तूटै (चर्या० ∠ टुट्टइ ∠ त्रुट्) इसी तरह ज्ञानेश्वरी में आपैसा (∠ आत्मा + इदृश) पैंजा ∠ प्रतिज्ञा (हिन्दी पैज) आदि रूप मिलते हैं।

औ—चौरा (की० २।२४६ < चउवर < चत्वर); कौडि (की० ३।१०१ < कउडि < कर्पदिका); भौंह (की० ३।३५ < भउँ < भ्रू); दौरि (की० २।१८१ < दउरि < द्रव् ?); चौक (उ० व्य० ४१।४ < चउक्क < चतुष्क); लौडी (उ० ३५।१६ < लकुटिका); हौं (उक्ति० १६।७ < अहकम्)

१. बुलेटिन आव दि डेकन कालेज पृ० १५६

एम० जी० पंसे ने ज्ञानेश्वरी में बहुत से ऐसे उदाहरण ढूँढ़े हैं :[२] काँपौलि <कम्पक + उल्लि; चौदा < चतुर्दशः; मौअले < मृदु; बाजोले < वन्धा + उल्ल; रारवौडि < रक्षा + उडि

§५—स्वर संकोचनः—(vowel Contraction)

कहीं-कहीं इस प्रकार (Diphthongs) की प्रक्रिया तो नहीं होती किन्तु मध्यग क, ग च ज त द, प य व आदि के लोप होने पर संप्रयुक्त स्वरों की सन्धि या समीकरण करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

अन्धार (कीर्ति० ४।२०) < अन्ध आर < अन्धकार = अ + आ > आ
उपास (कीर्ति० ३।११४) < उपआस < उपवास = अ + आ > आ
कौसीस (कीर्ति० २।९८) < कोअसीस < कपिशीर्ष = अ, + इ > औ
ऊँठ (की० (२।१०५) < उइट्ठ < उत्तिष्ठ = उ + इ > ऊ
मोर (सन्देश० २१२ क) < मऊर < मयूर = अ + ऊ > ओ
इन्दोअ (सन्देश० १४३ घ) < इंदओव < इन्द्रगोप = अ + ओ > ओ
सामोर (सन्देश० ४२ क) < सम्मउर < संबपुर = अ + उ > ओ
चोविह (प्रा० पैं० ५७५।६) < चउविह < चतुर्विंशति = अ + इ > ओ

स्वर संकोचन की इस प्रवृत्ति का प्रभाव शब्दों के रूपों के विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। आधुनिक भाषाओं में तद्भव शब्दों में जो एक बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है, उनका मुख्य कारण संप्रयुक्त स्वरों को संकोच देने की यह प्रवृत्ति ही है।

§६—अकारण व्यञ्जन द्वित्व या संयुक्त व्यञ्जन बनाने की प्रवृत्ति भी इस काल की भाषा की एक विशेषता है। चन्द के रासो, तुलसीदास के छप्पयों और इतर कवियों की रचनाओं में व्यञ्जन द्वित्व की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति के मूल में कुछ तो छन्दानुरोध भी कारण हैं कुछ ओज या टंकारा लाने की भावना है। डिंगल की रचनाओं में इस प्रवृत्ति का इतना प्रचार हुआ कि यह भाषा की एक मुख्य विशेपता बन गई।

सुसब्बलो (प्रा० पैं० ३०६।३ < सु + सबल) सुक्खाणंद (प्रा० पैं० ३११।८ < सुखानन्द) सिक्खा (प्रा० पैं० २७०।५ < शिखा) ल्लह (प्रा० पैं० २२०।२ < लभ्) विग्गाह (प्रा० पैं० ३६।४ < विगाथा) कालिक्का (प्रा० पैं० ३६१।३८ कालिका) दोक्काण (की० २।१६३ < दुकान) कम्माण (की० २।१६० < कमान) चिरग्गय (२८१ क० सन्दे० < चिरगत) परब्बस (सन्दे०

१. डेकन बुलेटिन १०।२ पृ० १५६.

२१७ ग <परवश) सब्भय (२०८ ग सन्दे० <सभय) तुस्सार (१८४ घ सन्दे० <तुषार)

अवहट्ट की रचनाओं में यह प्रवृत्ति खासतौर से पश्चिमी अवहट्ट में पाई जाती है। और इसका प्रभाव भी पश्चिमी भाषाओं डिंगल, राजस्थानी आदि पर अधिक पड़ा।

§ ७—रूप विचार

अवहट्ट यानी परवर्ती अपभ्रंश तक आते आते अपभ्रंश के संज्ञा पदों में असाधारण परिवर्तन दिखाई पड़ता है। विभक्तियाँ घिस गयीं, और उनके स्थान पर परसर्गों का प्रयोग बढ़ा। परसर्गों का प्रयोग प्रायः निर्विभक्तिक पदों के साथ होता है। किन्तु कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर आदि पूर्वी तथा उक्ति व्यक्ति प्रकरण जैसी मध्यप्रदेशी रचना में परसर्गों का प्रयोग निर्विभक्तिक या लुप्त-विभक्तिक पदों के साथ अपेक्षा कृत कम, और विकारी कारकों के साथ ज्यादा हुआ है। कीर्तिलता में 'न्हि' विभक्ति का प्रयोग बहुवचन में होता है (देखिए कीर्ति० भा§२९) यह विभक्ति प्रायः सभी कारकों के बहुवचन रूपों में जुड़ी रहती है और इसके साथ ही परसर्गों का प्रयोग होता है। न्हि, नि की यह विभक्ति परवर्ती भाषाओं अवधी, ब्रज आदि में बहुवचन (कारकों) में दिखाई पड़ती है।

युवराजन्हि माँझ (कीर्ति० १।७०) तान्हि करो पुत्र (१।७०) जन्हि के (२।१२९)

युवतिन्ह का उत्कंठा (वर्ण) (३०।ख) वायसन्हि कोलाहल करु (वर्ण० र० २९ ख) उक्ति व्यक्ति में हिं और इं इन दो रूपों का प्रयोग मिलता है (चटर्जी स्टडी § ५६)

सामिहिं सेवक विनव (३९।२७) धूतु गमारहिं अकल (४१।८)
ये रूप अवधी और ब्रज में नि स्त्रीलिंग, न पुंलिग विभक्तियों के साथ दिखाई पड़ते हैं।

बिहरति सखियनि संग (सूर)
गहि गहि बाँह सबनि कर ठाढ़ो (सूर)
कपि चरनन्हि पर्‌यौ (तुलसी)
मिटे न जीवन्ह केर कलेस। (तुलसी)

चटर्जी ने इस न्हि >न >नि की व्युत्पति संस्कृत षष्ठी। विभक्ति अणाम् >ण + तृतीया भिः >हि रूप से बताई है। (वर्णरत्नाकर § २७)

§ ८—निर्विभक्तिक प्रयोग

अवहट्ठ की सबसे बड़ी विशेषता उसका निर्विभक्तिक प्रयोग है ऐसे प्रयोग अवधी, ब्रज, आदि में प्रचुरता से मिलते हैं। ऐसे प्रयोग अवहट्ठ काल से ही आरंभ हो गए थे। निर्विभक्तिक प्रयोगों के कारण कभी कभी अर्थ का अनर्थ होने की संभावना भी रहती है। इसलिए प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार ने निर्वि-भक्तिक प्रयोगों से भरी अवहट्ठ भाषा में पूर्वनिपातादि नियमों के अभाव के कारण उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वय आदि की यथोचित योजना कर लेने की सलाह दी है। 'अवहट्ठ भाषायां पूर्व निपातादिनियाभावत् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम् (प्राकृत पैंगलम् पृ० ४७८)

कर्ता— ठाकुर ठक भए गेल (कीर्ति)
कपं वियोइणि हीआ (प्रा० पै०)
दूलह दुलाल (उक्ति)
लखन कहा हँसि हमरे जाना (तुलसी)
कुबजा हरि की दासी (सूर)

कर्म— महुअर बुज्झइ कुसुम रस (कीर्ति)
मंजरि लेअइ चूआ (प्राकृ०)
लेख वाचे (उक्ति)
कुस सांथरी निहारि सुहाई (तुलसी)
सुफलकसुत दुख दूरि करौ (सूर)

करण— महुअ सद्द मानस मोहिआ (कीर्ति)
पीण पओहर भार लोलइ मोतिअहार (प्र० पै०)
मोरे कर ताकर वध होई (तुलसी)
तिहि अनुराग वस्य भए ताके (सूर)

सम्बन्ध— सुरराय नयर नाअर रमनि (कीर्ति)
असुर कुल मद्दणा (प्राकृत)
पुरुष जुगल बल रूप निधाना (तुलसी)
विथा विरह जुर मारी (सूर)

अधिकरण— वप्प बैर निज चित्त धरिअ (कीर्ति)
केअइ धूलि सब्ब दिस पसरइ (प्राकृत)
गावि खेत चरि (उक्ति)

आइ राम पद नावहि माथा (तुलसी)
मथुरा बाजति आज बधाई (सूर)

तुलसी सूर आदि में तो अपादान, सम्प्रदान आदि में भी इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं; परन्तु अवहट्ठ या अपभ्रंश में इन कारकों में निर्विभक्तिक पद कम मिलते हैं। सम्बन्ध में भी हम चाहें तो इसे समस्त पद कह लें। इन कारकों में अपेक्षाकृत परसर्गों का प्रयोग अधिक हुआ है और निर्विभक्ति पदों का कम।

§ ९—चन्द्र विन्दु का कारक विभक्ति के रूप में प्रयोग

कीर्तिलता में कारक विभक्ति के रूप में चन्द्र विन्दुओं का अक्सर प्रयोग हुआ है (देखिए की० भा० § ३६) विद्यापति पदावली आदि में भी इस प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी की प्रमुख विभाषाओं अवधी-ब्रज में तो इसकी प्रचुरता दिखाई पड़ती है। वैसे ये विभक्तियाँ अन्य कारकों में भी पाई जा सकती हैं; परन्तु मूल रूप से इनका प्रयोग कभी कभी कर्म और ज्यादातर अधिकरण में हुआ है।

कर्म— तुम्हें खग्गो रिउँ दलिअ (कीर्ति)
करण— सब्र घरँ उपजु डर (कीर्ति)
सेजँ ओलर (उक्ति)
गो बम्भन वधँ दोस न मानथि (कीर्ति)
सेवाँ वइसलि छथि (वर्ण० २।क)
बड़ी बड़ाई रावरी बाढ़ी गोकुल गावँ (सूर)
गिरिवर गुहाँ पैठि तब जाई (तुलसी)

इन रूपों को देखते हुए लगता है कि प्रयोग प्रायः अधिकरण में ही होता है। चटर्जी इसे अपभ्रंश अहि (जो संभवतः >अहँ हो गया और बाद में संकोच के कारण आँ के रूप में) से उत्पन्न मानते हैं। या तो षष्ठी अणाम् >आँ के रूप में आया होगा। (वर्ण रत्नाकर § ३५/४) इसकी व्युत्पत्ति कर्म के अम् (ग्रामं) और स्त्रीलिंग रूपों के सप्तमी 'याम्' से भी संभव है।

§ १०—परसर्ग

कर्ता कारक में ब्रजभाषा और खड़ी बोली में 'ने' का प्रयोग होता है। यह विभक्ति है या परसर्ग यह विवाद का विषय हो सकता हैं; किन्तु खड़ी बोली में इसका प्रयोग परसर्गवत ही होता है। यह परसर्ग कब शुरू हुआ, और इसके

प्रारंभिक रूप क्या थे पता नहीं। इसके प्रयोग विकृत रूप में कीर्तिलता में मिलते हैं।

ने < एन्ने < एण = जेन्ने जाचक जन रंजिअ
जेन्हे सरण परिहरिअ
जेन्हे अत्थिजन विमन न किज्जिअ
जेन्हे अतत्थ न भणिअ

§ ११—करण कारक

सन < समम्

सन परसर्ग अवहट्ठ में प्रायः समता सूचक दिखाई पड़ता है।

कामेसर सन राय (कीर्ति)

किन्तु बाद में यह साथ सूचक हो गया और अवधी आदि में यह साथ सूचक ही चलता है।

एहि सन हठि करिहौं पहचानी (तुलसी)
वादहि शूद्र द्विजन्ह सन (तुलसी)
जो कुछ भयो सो कहिहौ तुम्हसन (सूर)

२—सहुँ > सउँ—परवर्ती अपभ्रंश में केवल सउँ रूप ही नहीं मिलता; बल्कि इसके बहुत से विकसित रूप भी मिलते हैं। ऊपर 'सन' की बात कही गई। सें, सों, आदि परसर्ग, अवधी, ब्रज आदि में बहुत प्रचलित हैं; किन्तु प्रारम्भिक रूप अवहट्ठ में ही मिलने लगते हैं।

मानिनि जीवन मान सञो (कीर्ति)
दूजने सउँ सब काहू तूट (ऊक्ति)
हिंसि हिंसि दाम से (कीर्ति)
खोणि खुन्द तास से (कीर्ति)

सों < सञो < सउँ—

सो मो सों कहि जात न कैसे (तुलसी)
बैसहिं बात कहति सारथि सौं (सूर)
कलियुग हम स्यूं लड़ पड़ा (कबीर)
एक जु वाक्षा प्री सूं (कबीर)

§ १२—सम्प्रदान

अपभ्रंश में सम्प्रदान में दो प्रमुख परसर्ग होते थे 'केहिं' और 'रेसि'। आश्चर्य है कि इनमें से कोई भी कीर्तिलता में नहीं मिलता। परवर्ती अपभ्रंश में सम्प्रदान

कारक में बहुत से नए परसर्गों का प्रयोग हुआ। लागि, कारण, काज ये तीन परसर्ग इस काल की भाषा में प्रयुक्त हुए।

१—लागि—तबे मन करे तेसरा लागि (कीर्ति)
एहि आलि गए लागि (वर्ण)
काहे लागी बब्बर वेलावसि मुझ्झ (प्रा० ४६३।३)
केंहि लागि रानि रिसानि (तुलसी)
दरसन लागि पूजए नित काम (विद्यापति)

लग या लगे का अर्थ निकट भी होता है जो आज भी पूर्वी बोलियों में बहुत प्रचलित है। यह प्रयोग भी प्राकृत पैंगलम् में दिखाई पड़ता है।

लग्गहिं जल बड़ (प्रा० पै० ५४१।२)

२—कारण—लिए के अर्थ में
वीर जुज्झ देक्खह कारण (कीर्ति)
धुन्दकार कारण रण जुज्झइ (कीर्ति)
साजन कारण रजाएस भउ (वर्ण)
माखन कारन आरि करत जो (सूर)
कारणि अपने राम (कबीर)

कारण या कारन का प्रयोग भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियों में आज भी होता है।

३—काज—लिए के अर्थ में
सरवस उपेक्खिअ अम्ह काज (कीर्ति)
सामि काज संगरे (कीर्ति)
रंचक दूधि के काज (सूर)

इन परसर्गों के अलावा प्रति आदि का भी प्रयोग हुआ है। कक्षं > कहँ का भी प्रयोग मिलता है।

§ १३—अपादान

कीर्तिलता में अपादान का प्रसिद्ध परसर्ग सञो, सउँ है जो करण का भी है। किन्तु वहाँ अपभ्रंश के पुराने प्रत्यक्ष हुन्तउ का रूप 'हुत' मिलता है। एक स्थान पर हुन्ते भी मिलता है।

दुरु हुन्ते आआ बड़ बड़ राआ (कीर्ति)
याम्राहुतह परको क वलआ मौंग („)

इस 'हुँत' का प्रयोग अवधी ब्रज आदि में भी पाया जाता है।

सिर हुँत विसहर परे भुइं वारा (जायसी)
मोरि हुंति विनय करब कर जोरि (तुलसी)

§ १४—सम्बन्ध—'करेए' का प्रयोग षष्ठी के परसर्ग के रूप में हेम व्याकरण में हुआ है।

जसु केरएँ हुँकारडए मुहहु पडन्ति तृणाइं (३।४२२,१५)

सम्बन्ध के लिए करे और तण इन दो का प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। अवहट्ठ के रचनाओं में केर के प्रायः दो रूप करे और कर मिलते हैं। कै, का, को, की आदि का प्रयोग अवहट्ठ में मिलता है। लेकिन अपभ्रंश में नहीं मिलता।

१—केर—

लोचन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम (कीर्ति)
तँ दिस केरी राय घर तरुणी हट्ट विकाथि (कीर्ति)
नृपन केरि आसा निसि नासी (तुलसी)
ताकू केरे सूत ज्यों (कबीर)

ऊपर के उदाहरण में केरा, केरी पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों तरह के रूप दिखाई पड़ते हैं, इनमें अग्रवर्ती संज्ञा के समान ही लिंग वचन आदि का निर्धारण होता है।

२—कर < केर

मध्यान्हे करी वेला (कीर्ति)
पृथ्वीचक्र करेओ वस्तु (कीर्ति)
दुजन कर (उक्ति)
आकरे रूपें (वर्णरत्नाकर)
वाणिएँ करें कवड़ा निखेव (उक्ति)
जेहि कर मन रमु जाहि सन (तुलसी)

३—कइ > कै

पूज आस असवार कइ (कीर्ति)
उथ्थि सिर नवइ सब्ब कइ (कीर्ति)
सम कै सकति संभु धनु भानी (तुलसी)
जाकैं घर निसि बसे कन्हाई (सूर)
ता साहब कै लागौं माथा (कबीर)

४—क, का, की, के, को—

मानुस क मीसिपीसि (कीर्ति)
वीर पुरिस का रीति (कीर्ति)
एहि दिस उद्धार के (कीर्ति)
दान खग्ग को मम्म न (कीर्ति)
मनु मधु कलस स्यामताई की (सूर)
होनिहार का करतार को (कबीर)
सब धरम क टीका (तुलसी)

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि क, का, के, जैसे बहुविकसित परसर्ग तथा 'कर' आदि के बहुत से रूपान्तर पूर्वी अवहट्ठ में ज़्यादा मिलते हैं। 'कर' वस्तुतः पूर्वी आर्यभाषाओं का महत्वपूर्ण परसर्ग है जिसका प्रयोग कोसल से आसाम ओरिसा तक फैला हुआ है और इसी का परवर्ती रूप 'अर' है जिसका प्रयोग मागधी भाषाओं में आज भी मिलता है। दूसरी ओर को कौं केर के कुछ रूप और विशेषतः की, कैं, करी वगैरह रूप ब्रज में अधिक मिलते हैं। खड़ी बोली में केवल के, का, की का प्रचलन है।

§ १५—अधिकरण—अधिकरण कारक में अपभ्रंश में मज्झे (हेम० ८।४।४०६) का रूप प्रचलित है। मज्झे का मज्झि और मज्झहे (४।३५०) रूप मिलते हैं। 'माँझ' अवहट्ठ का विकसित (मज्झे) रूप है। बाद में इसके मझारी मजु, मझु आदि रूपान्तर हो गए हैं।

१—माझ < मज्झे—

माँझ सङ्गाम भेट हो (कीर्ति)
वाद्य वाजु सेना मजु (कीर्ति)
तेन्हुँ माझ (उक्ति)
मन्दिर माँझ भई नभवानी (तुलसी)
कूदि परेउ तब सिंधु मझाँरी (तुलसी)

२—मैं, मँह, माहि—

मण महि (सन्देश रासक)
देवल माहै देहुरी (कबीर)
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि (तुलसी)
राधा मन मैं इहै विचारत (सूर)

३—भीतर—

जाइ मुह भीतर जबहीं (कीर्ति)
आस्थान भीतर इतरलोक (वर्ण)
भित्तरि अप्पा अप्पी लुक्कीआ (प्रा० पै०)
तन भीतर मन मानिआ (कबीर)

४—पर, पै, ऊपर < उप्परि—

चूह ऊपर ढारिआ (कीर्ति)
उप्परि पंचइ मत्त (प्रा०)
नाथ सैल पर कपि पति रहई (तुलसी)
हरि की कृपा जापर होइ (सूर)
मो पै कहा रिसाम्यौ (सूर)

§ १६—सर्वनाम

किसी भी भाषा के परिवर्तित रूप और विकास का पता विशेषतः सर्वनामों को देखने से मिलता है। अवहट्ट के सर्वनामों को देखने पर जो बात स्पष्टतया मालूम होती है वह है कई बहु-विकसित, कभी-कभी तो सर्वथा परिवर्तित सर्वनाम रूपों का प्रयोग।

उत्तम पुरुष

१— हौं —

सुपुरिस कहनी हौं कहहुँ (कीर्ति)
गुण हओ कओ (कीर्ति)
हौं (उक्ति २१-१२)
जानत हौं जिहि गुनहि भरे हौ (सूर)

हौं का प्रयोग अवधी ब्रज आदि में धड़ल्ले से हुआ है। कीर्तिलता का हओ>हौं के रूप में दिखायी पड़ता है।

अवहट्ठ की रचनाओं में मइं का प्रयोग हुआ है, उक्ति व्यक्ति में "को मैं भोजन मांगव (२२-६), का प्रयोग मिलता है। बाद में यही मैं ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का उत्तम पुरुष का सर्वनाम हो गया।

२—मो, मोहि—अपभ्रंश में भी और मोहि का मिलना कठिन है; किन्तु अवहट्ठ में मो और मोहि के प्रयोग विरल नहीं हैं।

धरणि सुख रखि वल नाहि मो (कीर्ति)
ते मोञ्मे मलञो निरुढि गए (कीर्ति)
मोहि तहिँ के बढ़ा विहंति (उक्ति २१-२१)
मञो तोहि लए लाओ (वर्ण ४१ क)
मो को अगम सुगम तुम को (तुलसी)
जो पै मोहि कान्ह जिय भावे (सूर)

३—मोर, मेरा

मोरेहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ (कीर्ति)
मोर वअन आकण्णे करहु (कीर्ति)
मोर क्षेयी को करिह (उक्ति)
मेरौ मन न धीर धरे (सूर)
मेरा मुझमें कुछ नहीं (कबीर)
चारि पदारथ करतल मोरे (तुलसी)
ऊधौ एक मेरी बात (सूर)

मेरा का प्रयोग खड़ी बोली में ही होता है, मेरहु कीर्तिलता में भी आया है। हमारी (प्रा० पै० ४३५-४) प्रयोग वर्तमान खड़ी बोली के प्रयोगों की तरह बहु व० का षष्ठी रूप है।

§ १७—मध्यम पुरुष

तुम—अपभ्रंश में तुम के लिए तुम्ह का प्रयोग होता था। बाद में यही तुम्ह > तुम हो गया। अवहट्ठ में तुम का प्रयोग कम मिलता है प्रायः वहाँ भी तुम्ह ही रूप हैं। किन्तु मध्य पुरुष में तोर, तोहार, तोहि, तोकों आदि रूप परवर्ती अपभ्रंश में दिखायी पड़ते हैं जिनके परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्रयोग नहीं मिलते।

१—तुम < तुम्ह

रखो तुमा (तुम) (प्रा० पै० ३४५-४)

२—तोहि, तोके—त्वां

तोहिं न होसउँ असहना (कीर्ति)
तोके रोष नहीं (कीर्ति)
तोहि त्वामेव (उक्ति २२-४)

तुहीं पिय भावति नाहीं आन (सूर)
तोहिं मोहिं नाते अनेक (तुलसी)

३—तोर, तोहार, तैं

सो हर तोहर संकट संहर (प्रा० ३५१।२)
तोहार कुड़िया (चर्या)
एन्ह माँझ कवन तोर भाइ (उक्ति ६।३०)
मैं अरु मोर तोर तैं माया (तुलसी)
कही तिहारीबात (सूर)
मधुकर देखि स्याम तन तेरौ (सूर)
मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया (तुलसी)

§ १८—दूरवर्ती निश्चय

खड़ी बोलीमें दूरवर्ती निश्चय तथा अन्य पुरुष दोनों ही में वह, वे रूप प्रचलित हैं। वह किस शब्द से विकसित हुआ, इस पर मतैक्य नहीं है। चटर्जी इसे वैदिक 'ओ' से विकसित मानते हैं। हेमचन्द्र के 'वड्डा घर ओइ' में कुछ लोग ओ को सर्वनाम और कुछ अव्यय मानते हैं। ओ कीर्तिलता में सर्वनाम की तरह ही प्रयुक्त हुआ है।

ओ परमेसर हर सिर सोहइ (कीर्ति)
ओकरा काजर चाँद कलंक (कीर्ति)
ओके भूमिपालि राखि (वर्ण ५६ ख)
ससी ओ जणी ओ (प्रा० ३४८।१)
ओहु खास दरबार (कीर्ति)

इसी ओहु से वह का विकास हुआ है। ओ रूप पुरानी ब्रज वगैरह में नहीं मिलते हैं, वह, वे आदि रूप वहाँ अवश्य मिलते हैं। उसका सम्बन्ध ओ से चाहें तो जोड़ सकते हैं।

§ १९—निकटवर्ती निश्चय

यह ∠ एह	ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ	(कीर्ति)
इन ∠ एन्ह	राय चरित्त रसाल एहु	(कीर्ति)
	विश्वकर्मा एही कार्य छल	(कीर्ति)
	को ए काह करत	(उक्ति)

एन्हु माँझ (उक्ति)
एहि आलिंगए लागि (वर्ण)
एन्हिकाँके रजायसु भउ (वर्ण)
अमिअ एहू (प्रा० १६७-६)
एहि कर फल पुनि विषय विरागा (तुलसी)
ए कीरीट दसकन्धर केरे (तुलसी)
स्याम को यहै परेखौ आवे (सूर)
यै अवगुन सुन हरि के (सूर)

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ओह 7 वह और एह 7 यह के रूप में विकसित हुए। बहु० व० रूपों का विकास अवहट्ठ के एन्ह रूप से संभव है।

§ २०—निज वाचक

१—अपना ∠ अप्पणउँ (हेम)

अपने दोष ससंक (कीर्ति)
अपनेहु साठे सम्पलहु (कीर्ति)
अपना उपदर्शि गयि (वर्ण ६१ ख)
आपणे आलाप (उक्ति ४४-२८)
तब आपनु प्रभाव विस्तारा (तुलसी)
अपने स्वारथ के सब कोऊ (सूर)
अपनी गैयां घेरि लै (सूर)

२—आप ∠ आत्मन्

जाव ण अप्पं णिदंसेइ (प्रा० १०७।१)
अप्पहु णिद्दय किं पिभणे (सन्देश० ६५)
आपु कहावति बड़ी सयानी (सूर)
आपु कदम चढ़ि देखत स्याम (सूर)

आप का प्रयोग खड़ी बोली और ब्रजभाषा में आदरार्थ किया जाता है। और इसका प्रयोग पुरुषवाची सर्वनाम के रूप में होता है। इस प्रकार के प्रयोग भी अवहट्ठ में मिलते हैं।

§ २१—सार्वनामिक विशेषणों 'अइस' आदि के रूपों के भी परिवर्तन और

उनके विकास पर ध्यान देने पर अवहट्ठ में बहुत सी बातें नई मिलेगी। ऐसा, अस, आदि रूप परवर्ती अपभ्रंश में मिलने लगते हैं। उसी प्रकार इतना, कितना आदि रूपों में भी बहुत कुछ विशेषताएँ लक्ष्य की जा सकती हैं। संख्या-वाचक विशेषणों में तीसरा, दूजा आदि रूप मिलते हैं जो पूर्ववर्ती अपभ्रंश में नहीं मिलते। इस प्रसंग में कीर्तिलता के उदाहरण आगे दिए हुए हैं (देखिए कीर्ति० भाषा० § ५४–०९)

§ २२—क्रिया

जब हम अवहट्ठ की क्रियाओं पर विचार करते हैं तो यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं होता कि क्रियाओं की दृष्टि से अवहट्ठ में आधुनिक आर्यभाषाओं की क्रियाओं का ढाँचा स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संस्कृत क्रियाओं के विधानों से स्वच्छन्द होने के लिए प्राकृत काल में ही ढिलाई बरती जाने लगी थी। गणों का विधान पाली काल में आते-आते सरल हो गया और कई गणों की क्रियाओं में रूप-साम्य दिखाई पड़ने लगा : दस गणों में कम से कम पाँच के रूप तो बहुत कुछ समान दिखाई पड़ते हैं। प्राकृतों में सरलता की इस प्रवृत्ति की ओर बढ़ाव मिला। फिर भी संस्कृत क्रियाओं की संयोगात्मक प्रवृत्ति से प्राकृत क्रियायें मुक्त नहीं कही जा सकतीं। अपभ्रंश में आते-आते क्रियाओं के रूपों में आश्चर्यजनक परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। संयोगात्मक क्रिया-रूप वियोगात्मक हुए। हिन्दी क्रियाओं में पाई जाने वाली बहुत सी प्रवृत्तियाँ परवर्ती अपभ्रंश काल में पूर्ण विकास पा चुकी थीं। कृदन्तों के सहारे क्रिया निर्माण की पद्धति अपभ्रंश काल में ही शुरू हुई; परन्तु उसके रूपों में इतना परिवर्तन और विकास नहीं दिखाई पड़ता। अवहट्ठ में संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बढ़ा। कृदन्त और सहायक क्रियाओं के संयोग से भावों को प्रकट करने का ढंग हिन्दी में इतने विचित्र रूप से विकसित है; कि कुछ विद्वानों को इसमें अन्य भाषा-परिवारों की छाप दिखाई पड़ती है; किन्तु यदि इसके विकास-क्रम पर ध्यान दें तो स्पष्टत: इससे बीज (संयुक्त कालों के) अवहट्ठ में ही दिखाई पड़ने लगे थे। हम अवहट्ठ की विशेषताओं में केवल उन्हीं रूपों पर विचार करेंगे जो परिनिष्ठित अपभ्रंश में नहीं दिखाई पड़ते, या बीज रूप में दिखाई पड़ते हैं जिनमें विकास इस काल में हुआ।

§ २३—वर्तमान काल

अवहट्ठ में वर्तमान काल में तीन प्रकार के रूपों का प्रयोग दिखाई पड़ता है :

१—प्राचीन तिङन्त-तद्भव रूप—जिनमें अन्तिम संप्रयुक्त स्वयं संयुक्त हो जाते हैं।

बोलै ∠ बोलइ ∠ बोलति

२—वर्तमान कृदन्तों का वर्तमान काल की क्रिया ती तरह, बोलत > बोलन्त, बोलन्ते

३—मूल धातु के रूप में प्रयोग, जिसका रूप अकरान्त होता है। शायद यह अइ > अ के रूप में विकसित हो।

१—पष्ष न पालै पउवा (कीर्ति)
अंग न राखै राउ (कीर्ति)
जो आपन चाहै कल्याना (तुलसी)
दारुन दुख उपजै (तुलसी)
मेरो मन न धीर धरै (सूर)

कहीं कहीं अइ 7 अएँ के रूप में मिलता है।

विनु कारणहि कोहाएँ (कीर्ति)
कुम्भ पिट्ठि कंपए धूलि सूर झंपएँ (प्रा० पै०)
रहे तहाँ बहु भट रखवारे (तुलसी)
कुछ मारेसि कछु जाइ पुकारे (तुलसी)
तुमकौं नृप केहि हेतु बुलाए (सूर)

यद्यपि नीचे के (सूर तुलसी) के उदाहरणों में क्रिया भूतार्थ द्योतक लगती है; पर विकास की दृष्टि से यह अवस्था महत्त्व की वस्तु है।

२—वर्तमान काल में कृदन्त रूपों का प्रयोग होता है। वर्तमान आर्य भाषाओं में वर्तमान काल में (हिन्दी-गुजराती आदि में) कृदन्त रूपों का प्रयोग होता है। आज के ता वाले रूप मध्यकाल के 'अन्त' वाले रूपों से विकसित हैं। ये रूप धातु में 'अन्त' (शतृ प्रत्ययान्त) लगानेसे बनते हैं। इनके दो रूप दिखाई पड़ते हैं एक त या ता वाले दूसरे 'अन्त' वाले। वर्तमान में दोनों का ही प्रयोग होता है।

क—मधुर मेघ जिमि जिमि गाजन्ते (थूलि)
पंच वाण निज कुसुम वाण तिमि तिमि
साजन्ते (थूलि)
कितेवा पढ़न्ता (कीर्ति)
कलीमा कहन्ता (कीर्ति)
पुहवी पाला आवन्ता, वरिसहु भेट्ट न
पावन्ता (कीर्ति)

उद्धा हेरन्ता (प्रा० पै० ५०७/४)
मज्झे तिणि पलन्त प्रा० पै० (५६९/२)
संत सुखी विचरन्त मही (तुलसी)
ज्यों-ज्यों नर निधरक फिरे त्यों-त्यों काल
हसन्त (कबीर)

ख—
कइसे लागत आँचर बतास (कीर्ति)
मिलअ महासुख साँगा (चर्या ८)
बाटत को इहाँ काह करत (उक्ति ३०/१२)
मोर अभाग जिआवत ओही (तुलसी)
मनहु जरे पर लोन लगावत (तुलसी)
भुज फरकत, अँगिया तरकति (सूर)

न्त और न्ते वाले रूपों में अधिकांश बहुवचन के रूप हैं। जबकि त वाले रूप ज्यादातर एक वचन के हैं। त वाले रूपों में स्त्रीलिंग का सूचक 'इ' प्रत्यय भी लगता है।

३—तिङन्त (वर्तमान एक वचन अन्य पुरुष) के तद्भव रूप अकरान्त होते हैं।

कंप विओइणि हीआ (प्रा० पै०)
महुमास पंचम गाव (प्रा० पै० ८७)
हिन्दू बोलि दुरहि निकार (कीर्ति)
देवहि नम, प्रजा पीड (उक्ति)
काँचन कलश छाज (कीर्ति)
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा (तुलसी)
पुलकित तन मुख आव न वचना (तुलसी)

इस प्रकार के प्रयोग अवधी भाषा में बहुल रूप से प्राप्त होते हैं। उक्ति व्यक्ति की भाषा में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अइ और अउ के उद्वृत्त स्वर, जो सामान्य वर्तमान के अन्य पुरुष एक वचन की क्रिया में दिखाई पड़ते हैं पुरानी कोसली में एक विचित्र प्रकार का रूपान्तर उपस्थित करते हैं। अइ > अ। अइ का अ के रूप में परिवर्तन सम्भवत कठिन है। फिर भी यह पुरानी कोसली का बहु प्रचलित प्रयोग है। इसमें प्रायः अन्त्य 'इ' का ह्रास प्रतीत होता है। ईश्वरदास, जायसी और तुलसी की रचनाओं में प्रायः दोनों—

अ और अइ तथा ऐ साथ ही—हिं भी मिलते हैं। [चटर्जी उक्ति स्टडी § ३९]
चटर्जी ने इस अइ>अ के विकास के लिए क्रम भी बताया है।

चलइ>चलएँ>चलँ>चल आदि।

इन रूपों को देख कर मुझे लगता है कि यह 'त' वाला (शतृ प्रयान्त) कृदन्त रूप है जो त के लोप के कारण अकारान्त दिखाई पड़ता है। क्योंकि इसका प्रयोग भूतकाल में भी होता है।

रहा न जोब्वन आव बुढ़ापा (जायसी)

इस पंक्ति में रहा स्पष्टतः भूतकाल द्योतक है, अगिले खण्ड में प्रयुक्त क्रिया 'आव' का वर्तमान में 'आवइ' बनाना उचित नहीं प्रतीत होता।

काहु होअ अइसनेओ आस (कीर्तिलता)

यहाँ अकारान्त स्पष्ट होने पर भी क्रिया वर्तमान की ही है। जब की चटर्जी सर्वत्र 'इ' का लोप मानते हैं।

§ २४--भूतकृदन्त में परिवर्तन

वर्तमान हिन्दी में तथा पछाहीं बोलियों में भूतकाल में प्रायः दो रूप प्राप्त होते हैं :

१—आ—अन्त वाले रूप गया, कहा, थका आदि

ओ—अन्त वाले रूप (ब्रज) चल्यो, कह्यो आदि।

अपभ्रंश में प्रायः इअ वाले रूप, जो संस्कृत<इत (क्त प्रत्ययान्त) से विकसित हुए, प्राप्त होते हैं।

हिन्दी—करा < प्रा० करिओ < सं० कृतः

ब्रज—कर्यो < प्रा० करिओ < सं० कृतः

परवर्ती अपभ्रंश में अपभ्रंश और हिन्दी की बीच की कड़ी मिलती है।

थका < थक्किआ <थक्किउ

अंबर मंडल पूरीआ (कीर्ति०)
पअ भरे पाथर चूरीआ (कीर्ति)
दिअबर हार पअलिआ पुणवि तहट्टिअ करिआ (प्रा० पै० ४०९।१)
चान्दन क मूल इन्धन बिका (कीर्ति)
धुव कहिआ (प्रा० पै०)
तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा (तुलसी)

अपभ्रंश में भूत कालिक कृदन्तज क्रियाओं में स्त्रीलिंग का कोई खास विधान

न था। किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में स्त्रीलिंग का ध्यान रखा गया हिन्दी में भी गया का गयी होता है।

लगो जही मही कही (प्रा० पै० ५४५।३)
कही सहित अभिमान अभागे (तुलसी)

२—भूत कृदन्त के रूपों में अन्तिम उद्वृत्त स्वर अउ 7 ओ हो जाता है और इस प्रकार ब्रजभाषा के भूतकालिक रूपों के सदृश क्रियायें दिखाई पड़ती हैं।

आओ पाउस कीलंताए (प्रा० पै० ५१६। ४)
लह वे पओहर जाणिओ (प्रा० पै० ४००।९)
हंस काग को संग भयौ (सूर)
दूर गयौ ब्रज को रखवारो (सूर)

३—पूर्वी अवहट्ठ की रचनाओं में ल विभक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ता है। बाद में पूर्वी भाषाओं में प्रायः सभी में ल का प्रयोग बहु प्रचलित हो गया। कीतिलता, वर्णरत्नाकर, चर्यागीत, में ल प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्ध में विस्तार से कीर्तिलता की भाषा वाले भाग में विचार किया गया है। (की० भा० § ६५)

§ २५—दुहरी या संयुक्त पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग

अवधी ब्रज आदि में दुहरी पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग होता है। एक तो पूर्वसमाप्त कार्य की गहनता या पूर्णता सूचित करती है, एक उसका नैरन्तर्य सूचित करती है। हिन्दी में भी 'पहने हुए' पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग होता है। ऐसे रूप अवहट्ठ में मिलने लगते हैं।

पाछे पयदा ले ले मम (कीर्ति)
आवहिं रहि रहि आवन्ता (कीर्ति)
विरह तपाइ तपाइ (कबीर)
हँसि हँसि कन्त न पाइए (कबीर)

'सन्देस रासक' में श्री भायाणी ने इस प्रकार का एक प्रयोग ढूँढ़ा हैं।

विरहहुयासि दहेविकरि आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

इन्होंने इस करि का सम्बन्ध वर्तमान कह कर, जा कर के कर से जोड़ा है।

रैयत भेले (होकर) जीव रह (कीर्ति)
गहि गहि बाँह सबनि कर ठाढ़ी (सूर)
भई जुरि कै (जुड़कर) खड़ी (सूर)

तहइ गंध सज्जा किआ (प्रा० पै० ५०९ । २)

उक्तिव्यक्ति में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

लइ लइ पला (१८।११ उक्ति)

मारि मारि खा (११।१८ उक्ति)

§ २६—संयुक्तक्रिया

संयुक्त क्रियाओं का आधुनिक आर्य भाषाओं में अपना विशेष महत्त्व है। वैदिक और लौकिक दोनों ही संस्कृतों में उपसर्गों के प्रयोगों की छूट थी। अतः वहाँ क्रियाओं को बिना संयुक्त किए भी काम चल जाता था। उपसर्गों के प्रयोग से हो वहाँ धात्वर्थों में अन्तर हो जाता था; किन्तु आधुनिक आर्य भाषा काल में उपसर्गों का प्रयोग नहीं होता। अतः यहाँ संयुक्त क्रियाओं के बिना काम नहीं चल सकता। प्राचीन संस्कृत में कहीं-कहीं संयुक्त क्रियाओं जैसे रूप मिलते हैं, ब्राह्मणों में वरयां चकार, गमयां चकार आदि रूप मिलते हैं, किन्तु बाद में इस तरह के प्रयोगों का अभाव है। प्राकृत यहाँ तक कि अपभ्रंश काल में भी इस तरह की क्रियाओं का विकास नहीं दिखाई पड़ता। अवहट्ठ काल से इस प्रवृत्ति का आरंभ होता है :

किनइते पावथि (२/११४ कीर्ति)

वसन पाओल (कीर्ति० २/६२)

खाए ले भांग क गुण्डा (कीर्ति २/१७४)

सैच्चान खेदि खा (कीर्ति ४/१३३)

पुनि उट्ठइ संभलि (प्रा० पै० १८०/५)

भए गेलाह (वर्ण १८ क)

तुम अलि कासौं कहत बनाइ (सूर)

उधौ कछुक समुझि परी (सूर)

तिन्हहि अभय कर पूछेसि जाई (तुलसी)

तेज न सहि सक सो फिर आवा (तुलसी)

हम देख आए (खड़ी)

§ २७—संयुक्त काल

१—वर्तमान कालिक कृदन्त और सहायक क्रियाओं से बने हुए संयुक्त काल : Present Progressive.

खिसियाय खाण है (कीर्तिलता)

आँखि देखत आछ (उक्ति)
भोजन करत आछ (उक्ति)
मयूर चरइतें अछ (वर्ण)
स्याम करत हैं मन की चोरी (सूर)
राजत हैं अतिसय रँग भीने (सूर)

२—वर्तमान कृदन्त + सहायक क्रिया का भूतकालिक रूप (Past Progressive)

आवत हुअ हिन्दू दल (कीर्ति)
को तहाँ जेवंत आछ = आसीत (उक्ति २१/७)
स्याम नाम चकृत भई (सूर)
प्रमदा अति हरषित भई सुनि बात (सूर)

§ २८—सहायक क्रिया

है, अछ— हिन्दी में आजकल जो 'है' सहायक क्रिया का रूप है, उसका विकास अस्ति > असति > अहइ > अहै > है से माना जाता है। इसके साथ ही अवहट्ठ की रचनाओं में अछ या अछै रूप भी मिलता है। अपभ्रंश में अच्छइ रूप मिलता है, इसका विकास लोग संभावित रूप अक्षति से मानते हैं। ऊपर संयुक्त काल के प्रसंग में है, अछ के रूप उद्धृत किये गये हैं। ब्रज भाषा में अहि रूप काफी प्रचलित है।

भूतकाल में छल, हुअ, भई, भए आदि रूप मिलते हैं।

§ २९—वाक्य विन्यास

१—अवहट्ठ वाक्य विन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता। कारकों में सामान्य रूप से विभक्तियों का प्रयोग लुप्त दिखायी पड़ता है। इस प्रकार के प्रयोगों के आधिक्य के कारण वाक्य में शब्दों के संगठन पर भी प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में पीछे विचार किया गया है। अपभ्रंश में लुप्तविभक्तिक प्रयोग नहीं मिलते।

तणहँ तइज्जी भंगी नवि ते अवडयडि वसन्ति
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति
जइ तहँ तुट्टइ नेहडा मइँ सहुँ न वि तिल हार
तं किहँ वङ्केहि लोअणेंहि जोइज्जउँ सय वार

२—अपभ्रंश के ऊपर के इन दो दोहों में शायद ही किसी कारक में

लुप्तविभक्तिक संज्ञा शब्द दिखायी पड़ते हैं; किन्तु अवहट्ट में इनका प्रचुर प्रयोग मिलेगा। इस प्रकार के प्रयोगों के कारण वाक्य विन्यास की दूसरी विशेषता का विकास हुआ। वाक्य में पदों के स्थान पर भी महत्त्व दिया गया। हिन्दी वाक्यविन्यास की तरह कर्ता + कर्म और क्रिया के इस क्रम का बीजारोपण हुआ। संस्कृत भाषा में, प्राकृतों तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश में इस प्रकार के वाक्य गठन का रूप कम-से-कम दिखायी पड़ता है।

वरं कन्या तुलव (उक्ति) गुरु सीसन्ह ताड, केवट नाव वटाव।
अहिर गोरू वाग मेलव (उक्ति) मेघु नदी बढ़ाव। (उक्ति)
दास गोसाञुनि गहिअ (कीर्ति) भाट्ठु भैसुर क सोझ जाहि (कीर्ति) अद्यपर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य छल। काञ्चन कलश छाज। (कीर्ति)

३—संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग के कारण भी वाक्य गठन के स्वरूप में परिवर्तन दिखायी पड़ता है। संयुक्त क्रियाओं पर पीछे विचार किया जा चुका है, उन्हें देखने से मालूम होगा कि संयुक्त क्रियाओं के द्वारा नये प्रकार के क्रियात्मक भावों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति इसी काल में शुरू हुई।

§ ३०—शब्द समूह

परवर्ती अपभ्रंश की रचानाओं को देखने से मालूम होता है कि अवहट्ट शब्द समूह अपभ्रंश से तीन कारणों से भिन्न दिखायी पड़ता है।

१—विदेशी शब्दों का प्रयोग—कीर्तिलता, समररास, रणमल्लछन्द आदि रचनाओं में जहाँ मुसलमानी सम्पर्क काव्य की घटनाओं में दिखायी पड़ता है, वहाँ तो अरबी फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ ही है, बहुत से शब्द इतने साधारण प्रयोगों में आ गये हैं, जिनको अन्यत्र भी लक्ष्य किया जा सकता है। वर्णरत्नाकर में नीक, तुर्क, तहसील, नौवति, हुद्दादार < ओहदादार, आदि शब्द मिलते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण के आधार पर चटर्जी का विचार है कि १२वीं शती तक गंगा की घाटी की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग कम दिखायी पड़ता है; पर उक्तिव्यक्ति अव्वल तो व्याकरण ग्रन्थ है, दूसरे उसमें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का जिक्र कम-से-कम हुआ है, इसलिए उसकी भाषा के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रचलित नहीं था।

२—तत्सम शब्दों का, ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के कारण प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा, अवहट्ट के शब्द समूह में यह नया मोड़ है। इसके कारण

प्राकृत तद्भव रूपों की गड़बड़ी भी दूर हो गई। तत्सम का प्रभाव न केवल शब्द रूपों पर बल्कि क्रिया में धातुओं पर भी दिखाई पड़ता है।

३—देशी शब्दों के प्रयोग की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार हमने देखा कि अवहट्ठ भाषा अपभ्रंश के प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए भी बिल्कुल बदली हुई मालूम होती है। उसमें बहुत से नवीन प्रकार के व्याकरणिक प्रयोग और विकास दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के विकास के भाषा शास्त्रीय अध्ययन के लिए पूर्ववर्ती अपभ्रंश की अपेक्षा अवहट्ठ ज्यादा महत्त्व की वस्तु है।

■

कीर्तिलता की भाषा

•

कीर्तिलता भारतीय ऐतिहासिक काव्यों की मणिमाला का सुमेरु है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक काव्यों का उदय एक अकस्मात् घटना है। अपने छोटे से विकास-काल में इस जाति के साहित्य ने भारतीय वातावरण के भीतर एक ऐसी शैली का निर्माण किया जो अपनी अनेक कथानक रूढ़ियों, यथार्थ और कल्पनाजन्य घटनाओं के विचित्र मणिकांचन संयोग तथा नाना लोक-चित्तोद्भूत छन्दों की झंकार से पूरे वाङ्मय में अपने तरह की अकेली है। कीर्तिलता इस शैली की चरम परिणति है। इसमें कथानक-रूढ़ियों और कल्पना के रंगीन चित्रों की कमी नहीं; पर इनके भीतर यथार्थ इतने प्रौढ़ रूप से अनुस्यूत है कि इतिहास की तथ्यात्मक घटनाओं के चढ़ाव उतार में भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

यह तो साहित्यिक महत्त्व की बात है। कीर्तिलता की भाषा इससे कम महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं। परवर्ती अपभ्रंश स्वयं ही एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है जो मध्य-कालीन और आधुनिक आर्य भाषाओं को विकास-क्रम में संबद्ध करती है। कीर्तिलता परवर्ती अपभ्रंश के स्वरूप को स्पष्ट करने का सर्वोत्तम आधार है। पिछले खंड में अवहट्ठ की जिन प्रवृत्तियों का आकलन किया गया है, इनको और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए कीर्तिलता की भाषा का विवेचन अपेक्षित है। कीर्तिलता की भाषा विवेचन से बहुत से ऐसे तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं जो आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझा सकते हैं।

अनुलेखन पद्धति (Orthography)

"भारतीय अनुलेखन-पद्धति की परम्परा सदा रूढ़ रही है। प्रायः अपने समय की प्रचलित भाषा में न लिखकर ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से आर्ष और प्राचीनतर बनाने का प्रयत्न होता रहा है।[1] इस प्रकार के अनुलेखन के दो कारण हो सकते हैं। या तो लेखक स्वयं अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के कारण ऐसा करते हों या लेखक के बाद की लिखी गई प्रतियों में तत्कालीन भाषा का ख्याल न करके लिपिकार अपने समय की भाषा का प्रभाव लाद देते

१—चटर्जी, इंडोआर्यन एंड हिन्दी, पृ० ८५।

हों। अपभ्रंश के हस्तलेखों में प्रायः ऐसी गड़बड़ी हुई है। सन्देश रासक की अनुलेखन पद्धति पर विचार करते हुए श्री भायाणी ने अपभ्रंश-लेखों की कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है।[1]

१—अनुनासिक निर्धारण में गड़बड़ी—केवल गणना द्वारा ही यह निश्चित किया जा सकता है कि वस्तुतः कौन-सी प्रवृत्ति सही और प्रधान है और कौन-सी गौण। उदाहरणके लिए तृतीया और सप्तमी के एक वचन में कहीं—हिं मिलता है तो कहीं—हि। इसी तरह षष्ठी एक वचन में कहीं—हँ मिलेगा तो कहीं—ह।

२—इ और य का परस्पर-विनिमय—यह दूसरी समस्या है। य और इ के इस विपर्यय के कारण बहुत से रूपों के विकास के क्रम-निर्धारण में कठिनाई होती है। इस तरह का विपर्यय दोहा कोश, चर्यागीतों और प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी हुआ है। प्रा० प० रा० के लिए देखें तेसीतरी O. W. R § ४-५।

३—'य' श्रुति के निर्धारण में अनिश्चितता।

४—ण और न के प्रयोगों में भी कोई नियम नहीं चलता

५—व और ब के अन्तर पर ध्यान नहीं दिया जाता। दोनों के लिए प्रायः व का प्रयोग कर दिया जाता है।

कीर्तिलता भी इन दोषों से मुक्त नहीं है। उसमें भाषा को ज्यादा आर्ष और प्राचीन बनाने का मोह भी दिखाई पड़ता है और उपर्युक्त पाँच प्रकार की त्रुटियों में भी कई पाई जाती हैं।

§१—हि और-हिं ये दोनों तरह के प्रयोग कीर्तिलता में मिलते हैं। असंझहि (२।२५३) कलशहि (२।८६) तोषारहि (२।१७६) विबट्टवट्टहि (२।८४) आदि पदों में-हि के साथ अनुनासिक का प्रयोग नहीं हुआ है। साथ ही करवालहीं (३।७४) कव्वहीं (२।९१) कालहिं (३।५१) खेत्तहिं (१।१) ठट्ठहिं (२।९४) ठामहिं (२।२३६) सहसहिं (४।८५) आदि पदों में—हि के साथ अनुनासिक का प्रयोग दिखाई पड़ता है। न केवल कारक-विभक्तियों (तृतीया-सप्तमी) के रूपों में ही अनुनासिक की अनियमितता पाई जाती है; बल्कि क्रिया के रूपों में भी इसी प्रकार की ढिलाई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के प्रयोगों के लिए

१. सन्देश रासक, व्याकरण § १–१४

लिपिकार का भी हाथ होता है, जिसके निकट अनुनासिक की एकरूपता कोई मूल्य नहीं रखती।

§२—कीर्तिलता में न और ण के प्रयोगों में कोई नियम नहीं चलता। एक ही शब्द दोनों रूपों में लिखे पाये जाते हैं।

न (२।१९) ण (२।५१); नअर (२।१२३ <नगर) णअर (२।१२३) ये दोनों शब्द तो एक ही पंक्ति में मिलते हैं। नअ (१।६५ <नय) णय (३।१४३); निअ (२।२३६ <निज) णिअ (१।४०); निच्चिन्ते (२।४० <निश्चिन्तेण) णिच्चइ (निश्चय) (१।१२ <नित्य + एव); नाह (१।२५ <नाथ) णाह (१।४४)। फिर भी इन रूपों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि न लिखने की प्रवृत्ति कुछ अधिक मालूम होती है। मध्यग न, ण के रूपों में भी इस प्रकार की गड़बड़ी मिलती है।

§३—व और ब दोनों रूपों के अन्तर को सुरक्षित रखने का कोई प्रयत्न नहीं मालूम होता। वव्वरा (२।९० <बर्वर) वम्भ (४।१२९ <ब्रह्म) बन्धव (४।२५७ <बान्धव) बअन (४।४५ <वचन); वलभद्द (२।५१ <बलभद्र); वमइ (१।६ <बमति) बणिजार (२।११३ <वाणिज्यकार) बटुआ (२।२०२ <वटुक) बकबार (२।८३ <वक्रद्वार)

बाज (२।१६४ <बाज़–फा०) वहुल (३।१०१ <बहुल) आदि शब्दों को देखने से मालूम कहीं व का ठीक है कहीं ब का व हो गया है। प्रायः व ज्यादा हैं। यह अन्तर कर सकना तो नितान्त असंभव है कि ब और व का अनुपात क्या है। इसीलिए इन शब्दों को केवल व से ही आरंभ मान कर शब्द सूची में इन्हें एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है।

ध्वनि विचार—(Phonology)

§४ **स्वर**—साधारण रूप से निम्नस्वरों का प्रयोग मिलता है

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ

§५—इन स्वरोंके अलावा ह्रस्व ऍ और ह्रस्व ओॅ के प्रयोग भी मिलते हैं। अपभ्रंश काल में ह्रस्व ऍ और ओॅ के प्रयोग अधिकता से मिलते हैं। कीर्तिलता ने इन प्रयोगों को सुरक्षित रक्खा है।

अइसे॑ ओ जसु परतापे॑ रह (२।११३)। अति गह सुमरि खो॑दाएँ खाएँ (२।१७४) खत ऍक मन दएँ सुनओ॑ विअक्खन (२।१५४) एकक धम्मे अओ॑का उपहास (२।१९३) किछु बोलओ॑ तुरुकाणओ॑ लक्खन (२।१५५)।

इस प्रकार के ह्रस्व एँ और ओं के प्रयोग कीर्तिलता में हर पृष्ठ पर पर्याप्तमात्रा में मिल जायेंगे।

§६—**संयुक्त स्वर**—इन स्वरों के अतिरिक्त कीर्तिलता की भाषा में दो संयुक्त स्वर (Diphthongs) भी पाये जाते हैं; ऐ, औ। प्राचीन आर्यभाषा में ये दोनों संयुक्त स्वर प्रचुरता से मिलते थे किन्तु मध्यकालीन आर्यभाषा काल में इनके रूप में परिवर्तन आ गया। मध्यकालीन युग में केवल ए और ओ ही मिलते हैं। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग बढ़ने लगा। बहुत से शब्दों में तो श्रुति (य, व) का प्रयोग करके इस समस्या को सहल बनाने की कोशिश की गई। वहाँ अइ, अउ जैसे संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग विरल नहीं है। कीर्तिलता की भाषा में अइ और अउ तो मिलते ही हैं। इनके साथ ही, ऐ और औ दो संयुक्त स्वरों का प्रयोग भी मिलता है। कीर्तिलता में ऐ के प्रयोगों के उदाहरण इस प्रकार हैं।

भुववै (१।५० = भुववइ <भूगति, भुजपति); वैठाव (२।१८४ = उप + विश्) रहै (२।१८४ = रहइ <रहति) तैसना (३।१२२ = <तादृश्) वोलै (३।१६२ <वोलइ) ऐसो (४।१०५ <अइस) पै (२।१८५ = पइ) पैठि (२।६९ <प्र + √विश्) भै (३।८६ <भइ = भूत्वा) लै (२।१८४ = लइ = लेकर) भैसुर (४।२४७ <भातृश्वसुर)। औ के प्रयोगों वाले उदाहरण इस प्रकार हैं :

करौ (१।७७ = करउ <करोतु) चौरा (२।२४६ = चउवर <चत्वर) तौन (२।२३ = तवन <तउन) तौ (३।२३ = तउ <तोऽपि) औका (२।१२६ = अओका <अपरक) कौडि (३।१०१ <कउड्डि <कपर्दिका) कौसीस (२।९८ < कोअसीस <कोट्टशीर्ष) चौहट्ट (२।८८ चउहट्ट = <चतुःहाटक) जौ (२।१८५ = जउ) दौरि (२।१८१ = दउरि = दौड़कर) भौ (३।३७ <भउ <भूतः) भौंह (३।३५ <भँउ <भ्रू) हौं (१।३६ <हँउ <अहकम्)

§७—**संप्रयुक्त स्वर**—संयुक्त स्वरों के साथ-साथ ही बहुत तरह के संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग भी मिलता है। प्राकृत काल में कई स्वरों का साथ-साथ प्रयोग होता था। ये स्वर चूँकि संयुक्त नहीं हैं इसलिए इन्हें यहाँ संप्रयुक्त कहा गया है। संप्रयुक्त यानी एक साथ प्रयुक्त स्वर। नीचे इस तरह के संप्रयुक्त स्वरों के उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं—

१—अइ = दूसिहइ (१।४) पसंसइ (१।४) वोलइ (१।५) लग्गइ (२।५३) होसइ (१।१५) अइस (२।५२) अइसनेओ (३।५४) कइ (२।११) किनइते (२।११४)

२—अआ = पआसञो (२।४६ < प्रकाश)

३—अउ = अउताक (३।१२१) गउँ (२।३६) कियउ (३।९)

४—अए = दए (१।३०) करावए (३।२८) कहए (३।२०) गणए। (४।१०७) नएर (२।९ = नगर), चलए (२।२३०); पएरहु (२।२०९)

५—अओ = जओ (३।६६) करओ (३।२५), दसओ (१।६३), द्वारिओ (२।१९०) दासओ (३।१०४), पव्वतओ (४।२५)

६—आअ = काअर (२।२६) नाअर (१।१२ < नागर),

७—आओ = गाओष (२।८५ = गवाक्ष) पसाओ (३।४६ = प्रसाद)

८—आए = (उपाय १।५४) = उपाय); खोदाए (२।१७४ = खुदा, फा०); नाएर (२।९ = नागर)

९—आउ = कुसुमाउह (१।५७ = कुसुमायुध)

१०—आइ = घुमाइअ (३।९५); जाइअ (२।६३)

११—इअ = इअ (२।२२६ = इतः); इअरो (१।३५ = इतर); उद्धरिअउँ (२।२ = उद्धरामि); किज्जिअ (४।२५६)

१२—इआ = पाइआ (२।१०३ = √पा); पिआरिओ (२।१२० = प्रिय कारिक) पेष्खिआ (२।२२६ = प्रेक्षित)

१३—ईआ = पण्डीआ (२।२२९ = पण्डित); पारीआ (२।२१९ = पारितः)

१४—उअ = उअआर (१।१८ = उपकार); धुअ (१।४३ = ध्रुव); दुअओ (२।५९ = द्वौ)

१५—एओ = करेओ (२।१०३); धारेओ (१।८४); सारेओ (१।८७) विथ्थेरेओ (१।८८)

१६—ए आ = पेआजू (२।१६५ = प्याज)

१७—ओइ = ओइनी (१।४९); गोइ (१।४४)

१८—आए = गुरुलोए (२।२३ = गुरुलोक)

१९—आइअ = घुमाइअ (३।९५); माइअ (१।६३)

२०—इअउ = करिअउ (१।४१); उद्धरिअउँ (२।२) गमिअउ (३।१०५)

२१—उअउ = हुअउ (३।४)

२२—ऊअओ = दूअओ (२।११४ = द्वौ अपि)

२३—इउआ = पिउआ (४।१०३ = प्रिय प्रियक)
२४—अउअआ = परउअआर (२।३९ = पर + उपकार)
ऊपर कोई चौवीस तरह के संप्रयुक्त स्वरों का उदाहरण उपस्थित किया गया। निचले कुछ उदाहरणों में तीन-तीन, चार-चार संप्रयुक्त स्वर दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः इन्हें खास प्रकार के स्वर-समूह का ही उदाहरण कह सकते हैं। दो स्वरों के प्रयोगों में भी कभी-कभी संयुक्त (Diphthongs) स्वर का भ्रम हो जाता है; परन्तु वहाँ भी उच्चारण की दृष्टि से सूक्ष्म अन्तर की स्थिति अवश्य रहती है। इस तरह के संप्रयुक्त स्वरों के विषय में डा० चटर्जी का विचार है कि जब इनका उच्चारण संयुक्त स्वरों की तरह होता है तब तो उच्चारण अवरोहित संयुक्त स्वर (falling diphthongs) की तरह होता है जिसमें प्रथम स्वर पर बलाघात दिया जाता है, या कभी-कभी दोनों पर बलाघात दे कर सम उच्चारण (even) होता है, किन्तु इनका आरोहित संयुक्त स्वर (rising diphthongs) की तरह उच्चारण नहीं होता। [उक्ति व्यक्ति स्टडी §९] ऊपर कीर्तिलता के उदाहरणों में संभवत कुछेक और संप्रयुक्त स्वर हों, जो इस संग्रह में न आ सके हों।
§८ = ए = कीर्तिलता में कुछ शब्दों में य के स्थान पर ए का प्रयोग मिलता है। वालिराए (१।३८ = वलिराय < वलिराज) राए (२।१२ = राय < राजन्) माए (२।२३ = माय <माइ> मातृ) गुरुलोए (२।२३ = गुरुलोय < गुरुलोक) भाए (२।४२ < भाय < भ्राता) य श्रुति के स्थान पर यह ए रूप दिखाई पड़ता है। प्राकृत में क् ग्, च् ज्, त् द् प व् के लोप हो जाने पर उनके स्थान पर 'अ' रह जाता है ऐसी अवस्था में य या व श्रुति का विधान था। यहाँ प्रायः ए रहते हैं। ऊपर के उदाहरणों को देखते हुए लगता है कि पादान्त में आए ए पर मागधी के प्रथमा के एकारान्त का शायद प्रभाव हो, किन्तु यह ए स्वर पद के मध्य में भी दिखाई पड़ता है।

सुर राए नएर नाएर रमनि (२।९) इस एक पंक्ति में दो शब्दों नएर < नयर < नगर और नाएर < नायर < नागर में य के स्थान पर यह ए स्वर दिखाई पड़ता है। यह सर्वत्र ह्रस्व रूप में ही मिलता है। इस प्रकार के प्रयोगों में बहुधा इ और य के परस्पर विनिमेयता का प्रभाव प्रतीत होता है। 'य' श्रुति होने पर 'य' का 'इ' के रूप में और 'इ' की ह्रस्व 'ए' के रूप में कदाचित् परिणति हुई है।

वर्णरत्नाकर में भी इस तरह के रूप मिलते हैं। चटर्जी का विचार है कि ऍ और ऒ मुख्यतः किसी संयुक्त स्वर का जब भाग बन कर आते हैं तो वे प्रायः ह्रस्व होते हैं जैसे : बॆटिया = बेटी (वर्ण० ७६ ख) कऍल = किया

हुआ। पद के बीच में एँ और ओँ प्रायः य और वँ के स्थान पर आते हैं। कएल और कयल दोनों ही रूप मिलते हैं। वर्णत्नाकर §६। इस प्रकार के प्रयोग का चटर्जी ने कोई कारण नहीं बताया।

§ ९—इ स्वर का परिवर्तन ए के रूप में हो जाता है।

दएँ (१|३० = दइ = √दा) करावएँ (३|२८=करावइ√कृ) कहएँ (३|२० = कहइ) चलएँ (२|२३० = चलइ = चल्) (पसंसए ४|६३ पसंसइ<*प्रशंसति) पुरवाए (३|११३ = पुरवइ = पूर्ण करता है) मनुसाए (४|१३९ = मनुसाइ = क्रुद्ध होकर)

इस तरह के परिवर्तन प्रायः क्रिया रूपों में ही दिखाई पड़ते हैं और अन्य स्वर में ही यह परिवर्तन होता है। यहाँ भी यह एँ ह्रस्व ही है।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में वर्तमान काल की अन्य पुरुष की क्रियाओं में अकारान्त रूप के कुछ प्रयोग मिलते हैं। ये प्रयोग कीर्तिलता में भी इसी काल की क्रिया में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। चटर्जी ने इस तरह के प्रयोगों पर विचार करते हुए लिखा है कि उद्वृत्त स्वर-समूह अइ एइ क्रिया के प्रत्यय के रूपों में वर्तमान काल के अन्य पुरुष में कुछ विचित्र प्रकार का परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन अइ, अए, या ए, न होकर अ होता है। बोल, कह, चल आदि रूप।

चटर्जी ने मत से अइ को अ के रूप में आने में इस प्रकार का विकास-क्रम पार करना पड़ा होगा :

अइ प्रथम विवृत्त अइ>अएँ के रूप से होते हुए अँ के रूप में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार—

चलति>चलइ>चलए>चल। उक्ति व्यक्ति स्टडी § ३९।

मैं इ के एँ रूप के परिवर्तन में एक सीढ़ी ऊपर के इन अएँ वाले रूपों को विचारार्थ उपस्थित कर रहा हूँ। कीर्तिलता की क्रियाओं पर विचार करते समय हम देखेंगे कि चलँ∠चलएँ∠चलइ इन तीनों रूपों का प्रचुर प्रयोग वर्तमान काल के अन्य पुरुष में प्राप्त होता है।

§ १०—आ कभी-कभी ह्रस्व अ की तरह प्रयुक्त होता है। इस तरह के के प्रयोग प्रायः समस्त पदों में तब होते हैं, जब इस पर से बलाघात हट जाता है।

तमकुण्डा (२/१७५ = ताम्रकुण्ड) तम्बारू (२/१९८ = ताम्रपात्र ?) मछहटा (२/१०३ माछ-हाट <मत्स्यहाट) वणिजार (२/११३ <वाणिज्य कार) सोन हटा (२/१०२ <स्वर्ण हाट)

§ ११—ऋ का उच्चारण इस काल में अवश्य ही रि था। किन्तु लिखने में ऋ का प्रयोग हुआ है। यह बहुत-कुछ कीर्तिलता के लेखक के तत्सम प्रेम का परिणाम है। इस तरह कीर्तिलता में ऋ रक्षित भी है उसका लोप और रूपान्तर भी हुआ है। ॠ का रूप भृङ्गी (१।१) में मध्य स्वर की तरह और ऋण (२।६९) में आदि स्वर की तरह दिखाई पड़ता है। कीर्तिलता के गद्यों में जहाँ संस्कृत शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है ऋ के प्रयोग मिलते हैं। पितृ बैरी (१।८०) शृंगाटक (२।९६) पृथ्वीचक्र (२।१०६) प्रभृति (४।५०)

ऋ का लोप भी होता है। तद्भव शब्दों में प्रायः ऋ का लोप हुआ है और वहाँ निम्न प्रकार से रूपान्तर दिखाई पड़ते हैं।—

ऋ > अ = कृष्ण > कन्ह (१।३८) गृह > घर (२।१०)

ऋ > आ = नृत्य > नाच (२।१८७)

ऋ > इ = हृदय > हियय (१।२८) अमृत > अमिअ (१।६)
वृतान्त > वितन्त (३।३) कृत्रिम > कित्तिम (२।१३१)
भृत्य > भित्त (३।११६)

ऋ > उ = पृच्छ > पुच्छु (३।१२) पृथ्वी > पुहवी (४।१०९)
पाकृत > पाउँअ (१।२०) शृणु > सुनु (३।६८)

ऋ > ए = भातृ > भाए (२।४२) मातृ > माए (२।२३)

ऊपर के इन रूपों को देखते हुए इतना स्पष्ट मालूम होता है कि इसमें ऋ का इ अधिक हुआ है। उसके बाद ऋ का उ हुआ है। डा० तगारे का कहना है कि ऋ का इ रूपान्तर अपभ्रंश में अधिक मिलता है। पश्चिमी अपभ्रंश में ऋ का इ रूपान्तर ४३ प्रतिशत से ६६ तक दिखाई पड़ता है। [हि० ग्रा० अप० पृ० ४१]

कृश का किरिस (३।१०८) श्री का सिरि (३।११८) रूप भी मिलते हैं जिनमें स्वरभक्तिके कारण यह परिवर्तन उपस्थित हुआ है।

सानुनासिकता (Nasalization)

§ १२–स्वरों की सानुनासिकता—

कीर्तिलता में प्रायः स्वरों की सानुनासिकता प्रकट करने के लिए अनुस्वार का प्रयोग हुआ है किन्तु साथ ही साथ अनुनासिक स्वर के लिए ञ का प्रयोग भी मिलता है ! इस तरह अँ, आँ, इँ, उँ एँ ओँ के लिए ञ, ञा, ञि, ञु ञे, ञो के प्रयोग प्रायः मिलते हैं।

जानिञ (२।२३६ = जानिउ) हिञ (३।११ = हिय <हृदय) निञ (२।२२६ = निज) मेञाणे (२।३९ = मेंओणे) काञि (१।१ = काइँ ∠ किमि) गोसाञुनि (२।११ = गोसाउँनि < गोस्वामिन्) ञुण (२।४३ = उँण < पुनः) ञेहा (३।२१ = जेँहा = जहाँ) ञेञोन (२।२३९ = जेञोण) पाञे (२।५९ = पाए <पादेन) उद्धरञो (३।४३ = उद्धरओं) उपसञो (४।१०३ उपसओं) कसेञो (३।१४९ = कहओं) ञेञोन (२।२३९ = ञे ञोण <जेमुन) गाञो (२।६२ = गाँवों <ग्राम)

§ १३–सम्पर्क जनित सानुनासिकता (Contiguous Nasalization) के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। ऐसी अवस्था में अपने परवर्ती अनुनासिक या सानुनासिक स्वर के सम्पर्क के कारण कोई स्वर सानुनासिक हो सकता है। इस प्रकारके स्वर प्रायः अनुस्वार या चन्द्र विन्दु से व्यक्त किये जाते हैं।

उतम काँ (३।११३) कमन काँ (२।५३) नहीँ (२।२०० = नहि) साथ ही नहु १।२८ भी मिलता है। नाञों (२।६८ नाँव ∠ नाम) कुसुमाउँह (१।५७ <कुसुमायुध)

§ १४–**अकारण सानुनासिकता**—इस प्रकार के उदाहरण भी कीर्तिलता में भरे पड़े हैं। अकारण सानुनासिकता आधुनिक आर्य भाषा काल में तो एक बहु-प्रचलित प्रवृत्ति-सी हो गई है, किन्तु इसका आरंभ अवहट्ठ काल से ही हो गया था। कीर्तिलता की भाषा में इस प्रकार की सानुनासिकता में बड़ी गड़बड़ी परिलक्षित होती है। क्योंकि कभी-कभी एक ही शब्द में निश्चित स्वर सानुनासिक होता है, कभी वह स्वर सानुनासिक नहीं होता।

उँच्छाहे (१।२६ = उत्साह) उँपताप (३।५४ ∠ उपताप) उँपास (३।११४ ∠ उपवास) काँसे (२।१०१ ∠ कास्य) जूंआं (२।१४६ ∠ द्यूत) पिउँआ (४।१०३ ∠ प्रिय + वा) बंभण (२।१२१ = ब्राह्मण) वधँ (४।८२ वध) रुंट्ठ (३।१५३ = रुष्ट) हरँख (३।७३ = हर्ष)

§१५—अपभ्रंश को उकार बहुला भाषा कहा गया है, इसलिए इस भाषा में प्रायः अन्त्य उ स्वर की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के उ कीर्तिलता में प्रायः अनुनासिक मिलते हैं। 'उ' का प्रयोग भी विरल नहीं है, और यह बताना कठिन है कि इस तरह के अन्त्य उ और उँ में किसकी संख्या अधिक है पर अनुनासिक उं की संख्या कम नहीं है, इतना अवश्य कहा जा सकता है। यह सानुनासिकता भी अकारण ही है।

उद्धरिअउँ (२।२) करिअउँ (१।४) गोचरिअउँ (३।१५४) परिअउँ (३।३५) पल्लानिअउँ (४।२७) बधिअउँ (२।१६) वनिअउँ (२।५१) भरिअउँ (३।३१)

ये उदाहरण संस्कृत कृदन्त 'क्त' प्रत्यय वाले रूपों के हैं जो अपभ्रंश में इत 7 इअ रूप में आते हैं। इनमें अक्सर 'उ' लग जाता है; पर यहाँ उँ की अधिकता दिखाई पड़ती है।

§१६—स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ अनुस्वार को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति अवहट्ठ की अपनी विशेषता है। मुख-सुख के लिए जिस प्रकार द्वित्व को सरल करने की प्रवृत्ति परवर्ती काल में बढ़ी, उसी प्रकार प्रायः पूर्ण अनुस्वार या वर्गीय आनुनासिक के स्थान पर ह्रस्व अनुस्वार चन्द्रबिन्दु के रूप में रखते हैं और स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ कर देते हैं।

आँग (२।११० ∠ अंग) आँचर (२।१४९ ∠ अंचल) काँधा (४।४६ ∠ स्कन्ध) काँड (४।१६३ = कण्ण ∠ कर्ण) चाँद (२।१३० = चंद ∠ चन्द्र) बाँधा (४।४६ ∠ बन्ध) बाँकुले (४।४५ ∠ वक्र) भाँग (२।१४७ = भग्न) लाँघि (४।४८ ∠ लंघ्)

व्यंजन

§१७—कीर्तिलता में प्रायः वर्तमान कालीन आर्यभाषा के सभी व्यंजन पाए जाते हैं।

क ख ग घ ङ	त थ द ध न
च छ ज झ ञ	प फ ब भ म
ट ठ ड ढ ड़, ण	य र ल, व श, ष, स, ह

§१८—ण और न में किसी प्रकार के अन्तर-निर्धारण का कोई नियम बना सकना कठिन है। अनुलेखन-पद्धति (टिप्पणी § २) में इस प्रकार के शब्दों का उदाहरण दिया गया है जिनमें एक अवस्था में ण और दूसरी अवस्था में न का प्रयोग मिलता है। फिर भी अपभ्रंश के प्रभाव से कुछ शब्दों के बहुप्रचलित

न को ण करके भी लिखा गया है। अणवरत (४।१६ ∠अनवरत) कम्माण (२।१६० ∠कमान) भोअण (४।७६ ∠भोजन) मअरन्दपाण (२।८२ ∠मकरन्दपान) माणा (४।१२२ ∠मान) रअणि (३।४ ∠रजनी) षाण (२।२२२ ∠खान) सेण्ण (३।६५ ∠सैन्य)। ण को न करने की प्रवृत्ति तो बहुत प्रचलित है। कल्लान (३।१४ ∠कल्याण); कन्न (१।३८ ∠कृष्ण) तारुन्न (२।१३१ ∠तारुण्य); तिहुअण (४।२४९ ∠त्रिभुवन); पुन्न (१।३६ ∠पुण्य)।

§ १९—ञ कीर्तिलतामें खास व्यंजन है जो किसी भी स्वर की सानुनासिकता द्योतित करने के लिए उक्त स्वर के साथ प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण टिप्पणी § १२ में दे दिए गए हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों में ञ का प्रयोग वर्गीय अनुनासिक के रूप में ही होता है। अञ्चल (२।१४२) नयनाञ्चाल (२।१४३)।

§ २०—क्ष का उच्चारण 'क्ख' की तरह होता था और लिखने में प्राय: यह ष्ख हो जाता था। प्राचीन आर्य भाषा का 'क्ष' प्राय: 'क्ख' या 'छ' के रूप में रूपान्तरित होता है। वर्णरत्नाकर, पदावली (विद्यापति) आदि के प्रयोगों से मालूम होता है कि 'ष्ख' प्राचीन मिथिला में बहुप्रचलित था जो क्ख का लिपि में प्रतिनिधित्व करता है।

पेष्खन्ते (२।५३ ∠प्रेक्षन्त); बिअष्खण (३।६० ∠विअक्खण ∠विचक्षण); विपष्खब (४।३७ ∠विपक्ष); भष्खिअ (३।१०७ ∠भक्षित); रष्खओ (२।४ ∠ √रक्ष्); लष्खव (४।४२ ∠लक्ष); लष्खवण (२।१५७ ∠लक्षण)।

क्ष का कहीं-कहीं ष मात्र भी होता है। जषणे (४।१० यं + क्षणे) जाषरी (२।१८६ ∠यक्षिणी ?) लष (३।७३ ∠लक्ष) षणे (३।३६ ∠क्षण) षेत (४।७६१ ∠क्षेत्र); क्ष का 'क्ख' रूप भी मिलता है। पक्खारु (३।६ ∠प्रक्षालनं); पक्ख (३।१६१ <पक्ष) भिक्खारि (२।१४ <भिक्षा = कारिक); लक्खिअइ (१।३१७ √लक्ष्) सिक्खवइ २।१४ <√शिक्ष्)

§ २१—श और स दोनों का प्रयोग मिलता है। श का प्रयोग केवल तत्सम शब्दों में ही मिलता है। स का प्रयोग तद्भव में प्राप्त होता है।

किन्तु ष का प्रयोग कीर्तिलता में बहुत महत्व का विषय है। इसका प्रयोग क्ष के लिए हुआ है, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। इसका प्रयोग 'ख' के लिए भी हुआ। ष के 'ख' में प्रयोग संख्या की दृष्टि से अधिक है।

षण्डिअ (३।६१ <खंडित) षराब (२।१७८ <खराब) षरीदे (२।१६६ खरीदना) षाण (२।२२२ <खान) षास (२।३२२ <खास) षीसा (२।१६८ = खीसा)

इन प्रयोगों को देखने से मालूम होता है कि लिखने में भले ही 'ष' का प्रयोग किया, गया हो किन्तु उच्चारण की दृष्टि से यह ख् के निकट था। बहुत सी आधुनिक आर्यभाषाओं में ष का प्रयोग अघोष ऊष्म वर्णके लिए न होकर महाप्राण कंठ्य ख के लिए हुआ है। इसके बहुत से उदाहरण चन्द, कबीर, जायसी और तुलसी की रचनाओं में मिल सकते हैं। कीर्तिलता या मैथिली में यह परम्परा-स्वीकृत प्रयोग प्रतीत होता है। यह प्रयोग जनता द्वारा गृहीत है। ग्रियर्सन ने लिखा हैं कि 'ष्' जब किसी व्यंजन से संयुक्त न होकर अलग लिखा जायेगा तो उसका उच्चारण 'ख्' ही होगा। षष्ठ का उच्चारण मैथिली में सर्वत्र खष्ठ ही होता है। यह सार्वजनिक है। साधारण पढ़ा-लिखा भी लिखता 'ष' है लेकिन उच्चारण ख् ही करता है।[1]

§२२—कीर्तिलता की भाषा में र, ल, ड, के अन्तर को सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। पश्चिमी मागधी की वर्तमान आर्यभाषाओं मैथिली, भोजपुरी और मगही आदि में जिस प्रकार र, ल, ड, परस्पर विनिमेय हैं उसी प्रकार कीर्तिलता की भाषा में भी ये परस्पर विनिमेय कहे जा सकते हैं।

घोल (२।६५<घोड़ा<घोटक) चोल (२।२२८=चोर) तुलकन्हि (४।१२०<तुर्क) दरवाल (२।२३८<दरबार) दवलि (२।१७७=दवड़ि =दौड़) देउरि (२।२०७<देवकुल); पइज्जल (२।१६८<पैज़ार) पकलि (४।१४८=पकड़) सुरुतानी (३।६६<सुल्तानी); थोल (३।८७=) थोड़ा) तोर (२।२०४=तोड़<त्रुट्) कपाल (२।६५<कापड़<कर्पट) करुआ (४।१०३=कड़ुवा<कटु) काजर (२।१३०<काजल)। 'आधा 'र' यानी रेफ जब बदल कर ड हो जाता है तो कुछ बड़े महत्वपूर्ण रूप दिखाई पड़ते हैं :

कांड (४।१३६<कर्ण) आकण्डन (१।२६<आकर्णन)

§२३—न का ल के रूप में परिवर्तन हो जाता है। इस तरह के रूपों में नहिअ (२२३=लहिअ<√लभ्) साथ ही लहिअ (३।१५६) भी मिलता है। इलामे (२।२२३=इनाम) अब भी बिहार के पूर्वी और पश्चिमी बङ्गाल के कुछ पश्चिमी ज़िलों में न का ल या ल का न उच्चारण मिलता है। वीरभूमि ज़िले में इसका प्रयोग विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। [वीरभूमि डाइलेक्ट]

१. ग्रियर्सन, मैथिली डाइलेक्ट।

§२४—अपभ्रंश की तरह कीर्तिलता में भी अघोष व्यंजन किसी स्वर के बाद प्रयुक्त होने पर प्रायः घोष हो जाते हैं।
सगरे (३।७८<सकल) बेगार (३।२०१=बेकार) सोग (३।१४७<शोक) लोग (२।३१<लोक)

बहुत कम स्थलों में इस नियम के प्रतिकूल उदाहरण प्राप्त होता है। हमारे देखने में सिर्फ एक स्थान पर घोष का अघोष रूप दिखाई पड़ता है। अदप (३।४२=अदब)।

§२५—कीर्तिलता में भी अवहट्ट की मुख्य प्रवृत्ति सरलीकरण (Simplification) के प्रभाव के फलस्वरूप द्वित्व को तोड़कर एक व्यंजन कर दिया गया है और उसके स्थान पर क्षतिपूर्ति के लिए परवर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। काजर (२।१३०<कज्जल) कापल (२।६५<कर्पट) ठाकुर (२।१०= ठक्कुर) दूसिहइ (१।४<दुस्सिहइ<दूसइस्सइ<दूषयिष्यति) जासु (१।२९ <जस्स<यस्य); झूठ (२।१०४<उच्छिष्टम्) तीनू (२।३६<तिन्न) नाच (२।१२७<नृत्य) पाछा (२।१७९<पच्छ<पश्च) पीठिओ (४।४७<पिट्ठ <पृष्ठ) पूहवी (२।२२०<पृथ्वी) पैठि (२।६९<पइट्ठ) भागि (२।७५ <भग्न°) भीतर (२।८०<अभ्यन्तर) भूखल (४।११९<भुक्षित) माथे (२।२४३<मस्तके) मानुस (२।१०७<मनुष्य) राखेहु (१।४४<रक्ष्) लागि (२।१४०<लग्गि) दाप (४।६७<दर्प) पोखरि (२।८३<पुष्करिणी)

कभी-कभी सरलीकृत तो कर देते हैं किन्तु क्षतिपूर्ति के लिए स्वर को दीर्घ नहीं करते। कुछ स्थितियों में जो स्वर दीर्घ हैं वे दीर्घ ही रह जाते हैं कभी-कभी ह्रस्व भी हो जाते हैं पर ऐसे उदाहरण विरल ही हैं।

इस तरह के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

अछए (३।१३१∠अच्छइ) अपनेहु (३।३८∠अप्पण∠आत्मन्) यहाँ आत्मन् का 'आ' ह्रस्व होकर 'अ' हो गया है। उपजु (३।७६∠उप्पज्ज∠ उत्पद्यते) परिठव (२।९५∠परिष्ठव) विका (३।११० विक्रय) विसवासि (२।७∠विश्वास) वाज (२।२४४∠वाद्य) मुझ (३।१२८∠मुज्झ∠मह्यम्) मूले (४।४४∠मूल्य) सोभागे (२।१३२∠सौभाग्य) हासह (४।८४∠हास्य)

रूप-विचार (Morphology)

§२६ संज्ञा—कीर्तिलता से अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उकारान्त रूपों की अधिकता होनी चाहिए थी किन्तु अकारान्त रूप ही सर्वाधिक रूप से

मिलते हैं। उकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या कुल करीब पचास के आसपास पहुँचती है जब कि अकारान्त शब्दों की संख्या डेढ़ हजार से ऊपर है।

कीर्तिलता में प्रायः सभी स्वरों से अन्त होने वाले प्रातिपदिक (संज्ञा) मिलते हैं।

अ—वल्लीअ (२।१६९ ∠ बली-फा०)

आ—अलहना (२।१३४ ∠ अ + √लभ्) असहना (२।१३४ ∠ अ + सह्) कुण्डा (२।१७५ ∠ कुण्ड) करुआ (३।१०३ ∠ कटु) बटुआ (२।२०२ ∠ बटुक) ओझा (३।१४३ ∠ उपाध्याय)

इ—अग्गि (३।१५२ ∠ अग्नि) जाति (२।१३) अधओगति (२।१४२), आगरि (२।११५) गोरि (२।२०८ ∠ गोर = कब्र) गोसाञुनि (२।११ ∠ गोस्वामिन्), कौडि (३।१०१ ∠ कपर्दिका)।

ई—अटारी (२।९७ ∠ अट्टालिका), अन्तावली (४।१९७) कटकाओ (३।१५८ ∠ कटक) गअण्डी (४।१९९) जाषरी (२।१८६ ∠ यक्षिणी ?) देहली (२।१२४) दाढ़ी (।१७७)

उ—वथ्थु (४।११९ ∠ वस्तु) विज्जु (४।२३१ ∠ विद्युत्)

ऊ—तम्बारू (२।१९८ ∠ ताम्रपात्र) गोरू (४।८७ ∠ गोरूप)

ए—खोदाए (२।१७४ ∠ ख़ुदा) दोहाए (२।९६ = दुहाई)

ऐ—भुववै (१।५० ∠ भूपति)

ओ—नाओ (२।६८ ∠ नाम) गावों (२।६७ < ग्राम)

प्राचीन आर्यभाषा काल में संज्ञाओं में अधिक शब्द व्यंजनान्त होते थे। इन व्यंजनान्त शब्दों के कारण उत्पन्न व्याकरणगत जटिलता को मिटाने की प्रवृत्ति तो प्राकृत-पाली काल में ही दिखाई पड़ने लगी। वहाँ भी व्यंजनान्त शब्दों को या तो हटा दिया गया या उन्हें संस्कृत के अकारान्त शब्दों की तरह सुबन्त रूप दिया गया। रामस्स की तरह अग्गिस्स और बाउस्स भी होने लगे। अपभ्रंश काल में आते-आते इस प्रवृत्ति में काफी विकास हुआ और आगे चलकर विभक्तियों में कोई निश्चित विधान ही नहीं रह गया।

कीर्तिलता में भी इकारान्त और उकारान्त शब्दों को अकारान्त बनाया गया है। गरुअ (३।१३७ ∠ गुरु + क) और लच्छिअ (४।५९ ∠ लक्ष्मी) ऐसे शब्दों के उदाहरण हैं।

§ २७—मैथिली के प्रभाव से संज्ञा शब्दों को ह्रस्व स्वरान्त बनाया गया है। ग्रियर्सन ने मैथिली की संज्ञाओं के चार प्रकार के रूप लक्षित किए थे। उन्होंने

बताया कि घोड़ा के चार रूप घोड़, घोड़ा, घोड़वा, और घोड़ौवा मिलते हैं।[1] कीर्तिलता में घोल, घोर आदि रूप तो मिलते हैं। वा प्रत्यान्त रूप भी मिलते हैं पउआ (३।१६१ = प्रभु + वा) पिउवा (४।१०३ = प्रिय + वा) बटुआ (२।२०३ = बटु + वा) आदि रूप विशेष महत्त्व के हैं।

§ २८ लिंग—अपभ्रंश में लिंग व्यवस्था को सभी ने अनियमित माना है। हेमचन्द्र ने इसे अतंत्र कहा है।[2] पिशेल ने इसे लचीचा और अस्थिर कहा। कीर्तिलता में भी अपभ्रंश का यह गुण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। देवता ४।५१ आकारान्त होते हुए भी पुल्लिग है जब कि आशा, रमा, और दया आदि स्त्रीलिंग। तिरहुत स्त्रीलिंग है और उसका विशेषण है पवित्री (४।३)। राह (४।८) का प्रयोग पुल्लिग में हुआ है। सेन्नि (४।४८) स्त्रीलिंग है। कीर्तिलता में संस्कृत के प्रभाव के कारण शायद अधिक गड़बड़ी कम मिलेगी पर अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उनमें अव्यस्था स्वाभाविक है। वड़ि नाओ (२।६४) में नाम स्त्रीलिंग है।

कीर्तिलता के लिंग-विधान की सबसे बड़ी विशेषता है विशेषणों और कृदन्तज विशेषण रूपों में लिंग व्यवस्था। विभूति (१।८६) स्त्रीलिंग है उसका कृदन्तज विशेषण रूसलि भी स्त्रीलिंग है। दोखे हीनि, माझ खीनि, रसिके आनलि (२।१४६) में सर्वत्र स्त्रीलिंग विशेषणों का प्रयोग हुआ है। विद्यापति के पदों में भी इस प्रकार की स्त्रीलिंग क्रियाओं और विशेषणों का बहुत प्रयोग मिलता है।

§ २९ वचन—संस्कृत काल में तीन वचनों में से पाली युग तक आते-आते केवल दो शेष रह गए। बहुवचन ने ही द्विवचन का भी स्थान ले लिया। अपभ्रंश काल में अधिकांश स्थलों पर कर्ता में लुप्तविभक्तिक प्रयोग के कारण वचन का निर्णय केवल क्रिया रूपों को देख कर ही हो सकता है। कर्ता से भिन्न कारकों में कीर्तिलता में बहुवचन के लिए संज्ञा और सर्वनाम दोनों में 'न्हि' या 'न्ह' का प्रयोग मिलता है।

तान्हि वेश्यान्हि (२।१३६) युवराजन्हि मांझ (१।७०), तान्हिकरो पुत्र (१।७०), जन्हि के (२।१२९), मन्तिन्ह (३।९) महाजन्हि करो (२।२८), नगरन्हि करो। (२।९०)।

१. आर्ज गियर्सन मैथिली डाइलेक्ट पृ० ११।
२. लिंगमतंत्रम् हेम ८।४।४४५।

इन रूपों के अलावा कुछ ऐसे भी रूप बनते हैं जिसमें 'सर्व' के किसी रूप को जोड़ कर बहुवचन बनाया जाता है ।

सब्वउं नारि विअक्खनी सब्वउं सुस्थित लोक (२।१५२)

इन रूपों में संज्ञा या सर्वनाम का मूल एकवचन का ही गृहीत होता है । यह प्रवृत्ति मैथिली में भी दिखाई पड़ती है ।

कीर्तिलता में एक स्थान पर कर्ता कारक में 'हुँकारे' शब्द आया है :

वीर हुकारें होहिं आगु रोवंचिय अंगे (४।१६५)

इसमें हुकारें का 'ए' करण विभक्ति तो नहीं ही है । इसे बहुवचन की विभक्ति मानने की संभावना हो सकती है ।

§ ३०—**कारक** : आधुनिक हिन्दी में कारक विभक्तियों के प्रयोग का अत्यन्त अभाव है । अब तो कारक विभक्तियों का स्थान परसर्गों ने ले लिया है । कारकों का विभक्तियों के लोप की प्रक्रिया अपभ्रंश काल में ही आरम्भ हो गई थी और अवहट्ठ काल तक आते-आते तो इसमें और भी अधिक वृद्धि हो गई । कीर्तिलता में कारक विभक्तियों से कहीं ज्यादा प्रयोग परसर्गों का हुआ है । इस पर हम आगे विचार करेंगे । विभक्तियों का अध्ययन उनके समान प्रयोगों को देखकर समूहों में होने लगा है । सर्व प्रथम ऐसा अध्ययन डा० स्पेयर ने पाली की विभक्तियों का किया, जिसमें चतुर्थी और षष्ठी की विभक्तियों का एक साथ विवेचन मिलता है ।[1] डा० तगारे ने सविभक्तिक प्रयोगों को देखकर यह स्वीकार किया है कि इनके मुख्य दो समूह हैं । पहला समूह तृतीया और सप्तमी का दूसरा चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी का ।[2] प्रथम द्वितीया और सम्बोधन प्रायः निर्विभक्तिक होते हैं । अतः इन्हें भी एक समूह में रखा जा सकता है और इनके अपवादों पर विचार किया जा सकता है ।

§ ३१ कीर्तिलता में तृतीया सप्तमी के लिए प्रायः तीन विभक्तियों का प्रयोग हुआ है । ए, ए, हि ।

तृतीया ए-दाने दलिय दारिद्द (१।४७) वित्ते बटोरइ कीत्ति (१।४८) सत्तु जुज्झइ (१।४८) कोहें रज्ज परिहरिअ (२।२५)

हिं—कनक कलशहिं, कमल पत्र पमान नेत्तहिं

१. डा० स्पेयर वैदिक संस्कृत सिन्टेक्स § ४३, तगारे-द्वारा उद्धृत पृ० २१ ।

२. डा० तगारे हि० ग्रै० अप० पृ० २४, भूमिका ।

तृतीया में एन और एहि विभक्तियाँ भी मिलती हैं। पुरिसत्तणेन (१।३२) जम्ममत्तेन (१।३२) जलदानेन (१।३३) और गमनेन (४।१०६) इनमें संस्कृत विभक्ति 'एण' का स्पष्ट प्रभाव है। परक्कमेहि (४।३०) चामरेहि (४।३९) पक्खरेहि (४।४२) में एहि का प्रयोग मिलता है।

सप्तमी—सज्जन चिन्तइ मनहिं मने (१।७) रहसे दव्व दए विस्सरइ (१।३०)

घरे घरे उग्गिह चन्द (२।१२५) आँतरे-आँतरे (२।६२)

आँतरे पतरे सोहन्ता (२।२३०) सथ्थ सथ्थेहिं (२।९३)

परनिष्ठित अपभ्रंश में भी, दइएं पवसन्तेण, में एं विभक्ति तृतीया के लिए आई है। वैसे ही बहुवचन करण में 'गुणहिं न संपइं' में हिं मिलता है। अधिकरण में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं। एं या ए विभक्ति की उत्पत्ति पर भिन्न-भिन्न मत हैं। जूल ब्लाक एं को संस्कृत तृतीया की विभक्ति एण से उत्पन्न मानते हैं।[1] यही मत ठीक माना जाता है। टर्नर का भी ऐसा ही मत है।[2] हिं के विषय में काफी मतभेद है। ग्रियर्सन ने 'इं' के सिलसिले में इसकी व्युत्पत्ति म० मा० आ० भाषा के अधिकरण 'अहिं' से बतायी है।[3]

इन तमाम मतों का अध्ययन करते हुए डा० तगारे ने कहा कि इस समूह की विभक्तियाँ हिं, एं, अइं, इं, इत्यादि संस्कृत तृतीया बहुवचन एभिः तथा सप्तमी एकवचन अस्मिन् इन दोनों के मिश्रण से बनी हैं।[4] चटर्जी 'भिः' और षष्ठी के अणाम् के 'न' के मिश्रण से मानते हैं'।[5]

§ ३२ चतुर्थी षष्ठी और पंचमी समूह की सबसे प्रधान विभक्ति ह, हं और हुँ आदि हैं। इनका प्रयोग कीर्तिलता में इस प्रकार हुआ है।

मन्ती रज्जह नीति (२।१३) मेरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ (२।४२) कोभह सम्मदे (२।१७२) राअह नन्दन (२।५२)

विश्वकर्म्महुँ भेल वड प्रयास (चतुर्थी) (२।१२८)

१. जूल ब्लाक, लांग मराते § १६३।

२. दि फोनटिक वीकनेस आव् टरमिनेशनल एलमेंट इन इंडो आर्यन रा० ए० जर्नल (१९२७ पृ० २२६—३९)।

३. क्रिटिकल रिव्यू आव् जूल ब्लाक ला लांग मराते, रा० ए० ज० १९२१ पृ० २६।

४. डा० तगारे, हि० ग्रे० § ८१।

५. चटर्जी, बबुआ मिश्र, वर्णरत्नाकर अंग्रेजी भूमिका § ३७।

इस वर्ग की विभक्तियों में सम्प्रदान और अपादन की विभक्तियाँ कीर्तिलता में नहीं के बराबर मिलती हैं। आश्चर्य की वस्तु है कि जो विभक्ति-समूह अपभ्रंश काल में सर्वप्रधान माना जाता था इसकी विभक्तियाँ कीर्तिलता में बहुत कम मिलती हैं। ह या हैं : षष्ठी में तथा हुँ सम्प्रदान में मिलती है अन्यथा परसर्गों का ही प्रयोग हुआ है। तुरुकाणो लक्षण (२।१५७) में संस्कृत-षष्ठी 'आणाम्' का प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है।

§३३—षष्ठी की कीर्तिलता में एक विभक्ति 'क' मानी जाती है। इसे कुछ लोग विभक्ति मानने के पक्ष में हैं। इसका आधार यह मानते हैं कि यह विभक्ति संज्ञा के साथ एक झटके से उच्चारित हो जाती है। पर जब हम इसकी व्युत्पत्ति आदि पर विचार करते हैं तो इसे परसर्ग मानना ही अधिक उचित जान पड़ता है। कीर्तिलता के उदाहरण :

१. न दीनाक दया न सकता क डर (४।१६) न पापक गरहा न पुण्य क काज (४।१८) शत्रु क शंका न मित्र क लाज (४।१६) माग क गुंडा (२।१७४) राजपथ क सन्निधान (२।१२६) ब्राह्मण क यज्ञोपवीत (२।१६०)

§३४—यह विभक्ति मैथिली में पाई जाती है। भोजपुरी में भी इसका प्रयोग होता है। इसकी व्युत्पत्ति काफी सन्देहास्पद है। अब तक के नाना मत-मतान्तर का सार नीचे दिया जाता है :

१. संस्कृत के क प्रत्यय : मद्रवृज्यो : कन पाणिनी ४।२।१३ से ही इसकी उत्पत्ति हो सकती है। मद्रक-मद्र देश का।

२. कुछ लोग इसकी उत्पत्ति संस्कृत कृत से भी मानते हैं। हार्नली ने इसका विकास इस प्रकार माना है :

सं० कृतः > प्रा० करितो > करिओ > केरको > अपभ्रंश केरओ केरो > हिन्दी केर > का।[1]

और इसी से क भी संभव है। बीम्स भी 'का' की उत्पत्ति कृत (संस्कृत) से ही मानते हैं।

३. पिशेल तथा अन्य विद्वानों की धारणा है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत कार्य से सम्भव है।

४. चटर्जी इसका सम्बन्ध प्राकृत 'क्क' से करते हैं। अपने तर्क के पक्ष में

---

१. हार्नली इस्टर्न हिन्दी ग्रामर § ३७७।

वे कहते हैं कि संस्कृत कृतः के प्राकृत रूप कअ का आधुनिक काल तक आते-आते 'क' बना रहना सम्भव नहीं है।[1]

इस प्रकार हमने, देखा कि क के विषय में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न रायें हैं।

इन सब रूपों, कृत, कार्य, या प्राकृत क्क को देखते हुए, जिससे क की व्युत्पत्ति मानी गई है, इसे परसर्ग कहना ही अधिक ठीक है।

§३५—हमारे सामने तीसरा वर्ग आता है कर्ता कर्म और सम्बोधन का। कर्ता कर्म में ए और ओ विभक्तियाँ मिलती हैं।

कर्ता : हुकारे होहिं (४।१६५) पवसन्नो बाढ़ल (४।२५)
राम्रो विश्रक्खण (३।६०) सवे किछु किनइते पावथि (२।११४)
राम्रा पुत्ते मंडिम्रा (२।२२८)

कर्म : दासाओ छपाइअ। कर्म के बहुवचन में हिं विभक्ति प्रायः मिलती है।
सन्तुहि मित्त कए (२/२७) फरमाणहिं बाँचिअइ (४/१५५)
असवारहिं मारिअ (४/१३०)

कर्ताकारक की ए, ओ, एं विभक्तियाँ विद्यापति की पदावली और वर्णरत्नाकर में भी मिलती हैं। पदावली में कामे संसार सिरजल, काम्य सवे शरीर, आदि तथा वर्णरत्नाकर में ब्रह्माऐ, चिन्ताएं आदि रूप मिलते हैं। ओ विभक्ति प्राकृत के प्रभाव के कारण कीर्तिलता की गाथाओं (१।३२) में भी दिखाई पड़ती है।

'ए' विभक्ति को डा० तगारे ने पूर्वी अपभ्रंश की विशेषता माना है। दोहा कोश में सुन्नए, परिपुण्णए, साहाबे, परमत्थए आदि रूप मिलते हैं। तगारे का कहना है कि यह रूप स्वार्थे क प्रत्यय से बना है। जैसे मकरन्दए (कण्हपा) <मकरन्दक, होमे<होमक, अभ्यासे<अभ्यासक आदि रूप बनते हैं। उसकी उत्पत्ति अक>अय> अए इस रूप में हुई है।[2] शुक्ल जी ने जायसी की रचनाओं से इस प्रकार के कई प्रयोग छाँटे हैं।

क. सुए तहाँ दिन दस कल काटी
ख. राजे कीन्ह ऊबि के सांसा
ग. राजे कहा सत्य कहु सूआ

१. चटर्जी, वैं-लैं. पृ० ५०३।
२. डा० तगारे, हि० ग्रै० अप० पृ० १८।

बंगला मगही और भोजपुरी में भी यह प्रयोग मिलता है। मागधी में प्रथमा के रूप एकारान्त होते थे।

'ओ' प्राकृत प्रभाव है। हिं विभक्ति कर्म में आती है। यह संस्कृत की नपुंसक लिंग के शब्दों को द्वितीया के 'नि' से सम्भव है। नि, इं या हिं के रूप में दिखाई पड़ती है। कीर्तिलता में सम्बोधन में प्रायः निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं। कुछ स्थान पर हु विभक्ति मिलती है।

अरे अरे लोगहु, वृथा विस्मृत स्वामि शोकहु, कुटिल राज नीति चतुरहु

परिनिष्ठित अपभ्रंश की 'हो' विभक्ति का ह्रस्वीकरण के कारण 'हु' रूप हो गया है।

§ ३६ विभक्ति के रूप में चन्द्र विन्दु का प्रयोग :

विभक्ति के रूप में चन्द्र विन्दु का प्रयोग कीर्तिलता की अपनी विशेषता है। यह प्रयोग प्रायः एक से अधिक कारकों के लिये सामान्य रूप से हुआ है। नीचे इसके उदाहरण दिए जा रहे हैं :

अधिकरण : सब दिसँ पसरु पसार (२।११५)
मथाँ चढ़ावए गाहक चुडुआ (२।२०३)
गौ बम्मन वधं दोस न मानहिं (४।८२)
सत्तु घरँ उपजु उर (३।७६)
कर्म : तुम्हे खग्गो रिउँ दलिय (३।३०)
न पाउँ उमग नहिं दिज्जिय (१।५३)

चन्द्रविन्दु के रूप में कारक विभक्ति का प्रयोग केवल कीर्तिलता में ही नहीं विद्यापति की पदावली, वर्णरत्नाकर में भी पाया जाता है।

विद्यापति की पदावली के उदाहरण दिए जाते हैं :[२]

उदअँ कुमुद जनि होए (कर्ता)
सखि बुझावए धरिए हाथँ (कर्म)
ते विहिँ करु मोर सम अवधान (करण)
कमलँ झरए मकरन्दा (आपादान)
अथिरँ मानस लाव (अधिकरण)

वर्णरत्नाकर में भी चन्द्रविन्दु विभक्तियों के रूप में व्यवहृत हुआ है :

१. शुक्ल रामचन्द्र, जायसी ग्रंथावली भूमिका पृ० २५३. ५४।
२. शिवनन्दन ठाकुर द्वारा विद्यापति की भाषा पृ० ९ पर उद्धृत।

सेवाँ वइसकि छथि पृ० ८ (अधिकरण)
वांच प्रभात स्नान कराओल

चर्यागीतों में भी कुछ लोग चन्द्रविन्दु के रूप में विभक्ति का प्रयोग मानते हैं[1], परन्तु मुझे कोई ऐसा प्रयोग नहीं मिला। चर्यागीत के प्रयोग का शिवनन्दन ठाकुर ने निम्न उदाहरण दिया है –

विसअ विशुद्धिमइ बुज्झिअ आनन्दे (चर्या ३०)

विसअ का 'विषमाणां विशुद्धा' अर्थ टीकाकार ने किया है। इसके आधार पर चन्द्रविन्दु की कल्पना तो ठीक नहीं है क्योंकि निर्विभक्तिक प्रयोग अवहट्ठ में विरल नहीं है। चर्या में विसअ पर चन्द्रविन्दु नहीं है।

शिवनन्दन ठाकुर ने इसकी व्युत्पत्ति एं से की है और कहा है एं ही शायद लोप होकर चन्द्रविन्दु के रूप में अवशिष्ट रह गया।[2]

विद्यापति की पदावली के उदाहरण सभी कारकों में हैं; किन्तु उनमें अधिकरण और कर्म को छोड़कर बाकी बहुत विश्वसनीय नहीं लगते। बिना चन्द्रविन्दु के भी तृतीया हो सकती है।

इन प्रयोगों को देखने से मालूम होता है कि ये केवल दो कारकों में ही आए हैं। अधिकरण और कर्म में। कर्म में कम और अधिकरण में अपेक्षाकृति अधिक। इसे या तो अनुनासिक मान लेना चाहिए या अधिकरण या कर्म के 'अम्' का विकसित रूप। आज भी भोजपुरी में बोलते हैं :

बलियाँ गइले, गाँवं गइले

यह ग्रामम् और बलियाम् का ही विकसित रूप जान पड़ता है।

§ ३७ विभक्ति लोप : अवहट्ठ भाषा की विशेषता वाले अध्याय में दिखाया गया है कि लुप्तविभक्तिक प्रयोगोंका बाहुल्य मिलता है। हेमचन्द्रने अपने व्याकरण में कुछ कारकों में ही विभक्ति लोप बताया है; पर अवहट्ठ में प्रायः सभी कारकों में विभक्ति लोप के उदाहरण मिलते हैं। कीर्तिलता के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

कर्ता— काइं तसु कित्ति बल्लि पसरेइ (१।१)
दुज्जन बोलइ मंद (१।५)
सकल पृथ्वी चक्र करे ओ वस्तु विकाएँ आएँ वाज

१. वही पृ० २१५,
२. महाकवि विद्यापति पृ० ६

कर्म पहिल नेवाला खाय जब (२।१८२)
महुअर बुज्झइ कुसुम रस (१।१७)
धनि छड्डिअ नव यौव्वना (२।५७)

करण भुवन जगइ तुम्ह परताप (३।२९)
मकरन्द पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ (२।८२)

सम्प्रदान ताकुल केरा वड्डुपन कहवा कवन उपाय (१।५४)
दिग्विजय छूट (४।२०)

सम्बन्ध सुरराय नयर नायर रमनि (२।९)
हरिशङ्कर तनु एक्कु रहु (४।१२९)

अधिकरण भोगीसतनय सुपसिद्ध जग (१।६९)
वप्प बैर निज चित्त धरिअ (२।२५)

सम्बोधन मानिन जीवन मान सञो (१।२४)
कहानी पिय कहहु (२।३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कीर्तिलता में प्रायः सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं।

परसर्ग

§ ३८—संहिति प्रधान होने के कारण संस्कृत भाषा में परसर्गों का अभाव है। संस्कृत में कुछ शब्द अवश्य मिलते हैं जिनका परसर्गवत् प्रयोग होता था। समीपे, पार्श्वे, अन्तिके, उपरि आदि बहुत से शब्द मिलेंगे। कालान्तर में भाषा में परिवर्तन होने से, विभक्तियों के घिस जाने, अथवा लुप्तविभक्तिक प्रयोगों के बढ़ने या एक ही विभक्तिके कई कारकों में होने वाले प्रयागों से उत्पन्न भ्रम के निवारण के लिए परसर्गों का प्रयोग होने लगा। पहले इन शब्दों का अपना अर्थ होता था बाद में ये द्योतक शब्द मात्र रह गए। परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश काल में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश काल के परसर्ग बहुत-कुछ द्योतक शब्द ही हैं इनकी व्युत्पत्ति करते समय हम इनके मूल शब्दों पर पहुँचते हैं पर इस विकास-क्रम को समझने के लिए बीच के स्तरों का कोई आधार नहीं मिलता। उदाहरणार्थ कक्षम् से 'को' तक पहुँचने में कब क्या परिवर्तन हुए इसका आधार भाषा में प्राप्त नहीं है। कीर्तिलता में अपभ्रंश के परसर्ग मिलते अवश्य हैं किन्तु उनके अतिरिक्त बहुत से नए शब्द परसर्ग के रूप में दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश की

चतुर्थी के प्रसिद्ध परसर्ग 'केहि' और 'रेसि' अब कीर्तिलता में नहीं मिलते। पुराने परसर्गों का भी बड़ा विकास हो गया है।

§ ३९—करण कारक के परसर्ग : कीर्तिलता में करण कारक का मुख्य परसर्ग सञो है। यह सजो अपभ्रंश सउं का ही रूपान्तर है। इसके अलावा दो तरह के और परसर्गों का प्रयोग मिलता है। सथ्थ, सथ्थहिं आदि साथ सूचक और सन, सम, समान, पमान आदि समता सूचक।

१. सथ्थे सत्थहिं यह 'सत्थ' शब्द के अधिकरण के रूप हैं। कीर्तिलता में इनका प्रयोग निम्न प्रकार हुआ है –

१. साथहिं साथहिं जाइआ (२।९३)
२. मत्त मतगंज पाछु होथ फरिआइत सथ्थे (४-६८)

२. सम, सन, समान यह समता सूचक परसर्ग है। संस्कृत में यह 'रामेण समम्' आदि रूपों में आता है। इस आधार पर इसे तृतीया का परसर्ग माना जाता है। कीर्तिलता में इसके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं।

उज्जम्मिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राय (१।५५)
जो आनिअ आन कपूर सम (२।१८५)
थल कमलपत्त पमान नेत्तहिं (२।८७)

सन का प्रत्यय बाद में समता सूचक न रह कर साथ सूचक हो गया।

एहि सन हठि करिहौं पहिचानी (तुलसी)
बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन हम तुमसों कछु घाटि (तुलसी)

३. संस्कृत के प्रभाव के कारण कीर्तिलता में समतासूचक संस्कृत शब्दों को परसर्गवत् व्यवहृत किया गया है। प्राय, संकास प्रभृत्ति आदि।

समुद्र फेण प्राय यश उंद्धरि दिगन्त विथ्थेरेओ (१।८८)
विरथरिअ किति महि मंडलहिं किति कुसुम संकास जस (१।६१)
मंडको प्रभृत्ति नाना गति करन्ते (४।५०)

४. सञो—यह करण कारक और अपादान दोनों में समान रूप से व्यवहृत होता है। नीचे करण कारक के उदाहरण दिये जाते हैं।

अस्सावार असिधार तुरअ राउत सञो टुट्टइ (४।१८४)
मानिनि जीवन मान सञो वीर पुरुष अवतार (१।२४)

सञो भी समम् का ही विकसित रूप है। सञो का ही रूप अपभ्रंश में सउं, ढोला में सिउं, वर्णरत्नाकर में सञो और सं के रूप में दिखाई पड़ता है।

§४० सम्प्रदान के परसर्ग—हेमचन्द्र के बताए हुए चतुर्थी के परसर्ग रेसि और केहि कीर्तिलता में नहीं पाए जाते। कीर्तिलता में इस कारक में तीन नए परसर्गों का विकास हुआ है। लागि, काज और कारण।

१. लागि : लागि का प्रयोग कीर्तिलता में हुआ है। नीचे इसका उदाहरण दिया जाता है –

तबे मन कर तेसरा लागि (२।१४०)

लागि या लग्गि की व्युत्पत्ति संस्कृत लग्ने से मानी जाती है। सं लग्ने > प्रा० लग्गे > और बाद से लग्गि > लागि यह इसके विकास का क्रम मालूम होता है। अवधी और ब्रज आदि में भी यह लागि या लाग प्रयुक्त होता है।

केहि लागि रानि रिसानी (तुलसी)

विद्यापति की पदावली में भी यह प्रयोग विरल नहीं है।

दरसन लागि पूजए नित काम

तोहरा प्रेम लागि धनि खिन भेल।

२. काज : यह परसर्ग कार्य से बना है।

सरवस्स उपेक्खिअ अम्ह काज (४।१३४)

सामि काज संगरे (४।३४)

३. कारण का भी सम्प्रदान में प्रयोग होता है।

णह भरिअ वीर जुज्झ देक्खह कारण (४।१९०)

षुन्दकार कारण रण जुज्झयी (४।७५)

कारण परसर्ग वर्णरत्नाकर में भी प्रयुक्त हुआ है।

साजन कारण रआएस भउ (४७ ख, वर्णरत्नाकर)

४१ अपादान के परसर्ग—अपादान के परसर्ग-रूप में कीर्तिलता में सञो और 'हुँते' दोनों का प्रयोग हुआ है।

१. सञो की व्युत्पत्ति पहले ही बतायी जा चुकी है। अपभ्रंश काल में भी सउं करण और अपादान दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। सञो के अपादान प्रयोग कीर्तिलता में मिलते हैं –

१. विन्ध्यसञो (४।२४) २. दीठि सञो पीठि दए (४।२४६)

३. हुंते या हुंति : इसका प्रयोग कीर्तिलता में केवल दो बार हुआ है –

(१) दुरहुन्ते आआ बड-बड राआ (२।२१८)

(२) यात्राहुतह परजी का बळया मांग (२।१०९)

हुंत या हुतः अपभ्रंश 'हुन्तउ' का ही विकसित रूप है। हेमचन्द्र के उदाहरणों से स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि होन्तउ पञ्चमी परसर्ग है। तहाँ होन्तउ आग दो (हेम ८।४।३५५) का अर्थ वहाँ से होता हुआ आया ही किया जायेगा। 'होन्तउ' वस्तुतः भूत कृदन्त का रूप है यद्यपि इसका प्रयोग परसर्गवत् होता है।

३—हिंसि हिंसि दाम से (४।३७) खुन्दि तास से (४।३८) में 'से' परसर्ग दिखाई पड़ता है जो अपादान और करण दोनों का परसर्ग कहा जा सकता है।

§४२ **सम्बन्धकारक के परसर्ग**—कीर्तिलता में सबसे अधिक प्रयोग सम्बन्धकारक के परसर्गों का हुआ है और वह भी विविध रूपों में। नीचे उदाहरण दिए जाते हैं।

१. साहि करो मनोरथ पूरेओ (१।८०)
२. उत्तम कां पारक (२।१३)
३. दान खग्ग को मम्म न जानइ (२।३८)
४. लोअन केरा बल्लहा (२।७८)
५. मछहटा करेओ सुख रव कथा कहन्ते (२।१०३)
६. पयोधर के भरे (२।१४७)
७. कल्लोलिनी करी वीचि विवर्त (२।१४४)

सम्बन्ध के इन सभी परसर्गों क, करो, को, कां, केरा, करेओ, के, का, आदि की व्युत्पत्ति पहले ही 'क' परसर्ग के प्रसंग में दे चुके हैं। इन सभी की उत्पत्ति कार्य > प्रा० कज्ज > केरा, करेउ रूपों में मानी जाती है। अन्य प्रकार के मत भी पहले ही दिए जा चुके हैं। इन परसर्गों में पूर्ववती संज्ञा शब्द, के अनुसार जिसके साथ ये लगते हैं, वचन लिंग का विधान होता है। सम्पर्की सानुनासिकता के कारक का काँ हो जाता है [देखिए § १३]

§४३ **अधिकरण के परसर्ग**—कीर्तिलता में सप्तमी में खास कर दो परसर्गों का बहुत प्रयोग हुआ है, मांझ और उप्पारि का। भीतर का भी प्रयोग हुआ है।

१. मांझ : युवराजन्हि मांझ पवित्र (१।७०)
मांझ संगाम भेट्ट हो (४।१८२)

मांझ की उत्पत्ति मध्ये से हुई है। अपभ्रंश में मांझ का रूप मज्झ होता है। अवधी ब्रज के मंह, माझ, मझारो, तथा खड़ी बोली का 'में' आदि रूप इसी से विकसित होकर बने हैं।

२. उप्परि : १. राम्र सबे नअर उप्परि (२।१२३)
२. ध्रुवहु उप्पर जा (२।१३०)
३. महिमंडल उप्परि (२।२३२)
४. तसु उप्परि करतार (२।२३७)

३. मुहु भीतर जबहीं (२/१८२) में भीतर का भी उदाहरण मिलता है। रासो के पुरातन प्रबन्ध संग्रह वाले छप्पयों में एक में भितरि का प्रयोग मिलता है।

भितरि खडिहडिउ पु० प्र० (८७/२७५)

§ ४४. सर्वनाम

सर्वनामों के मानी में कीर्तिलता प्रर्याप्त धनी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से सर्वनामों का विशेष महत्त्व है क्योंकि ध्वनि सम्बन्धी विकीर्णता के साथ शीघ्र रूप परिवर्तन भी इनमें दिखाई पड़ता है। नीचे कीर्तिलता के सर्वनामों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है –

पुरुष वाचक सर्वनाम

उत्तम पुरुष

	एक वचन	बहुवचन
कर्ता	हओ (४।४) हौं (१।३६)	×
कर्म	×	
करण	×	
सम्प्रदान	×	
अपादान	×	
सम्बन्ध—	मोर (२।३२) मो (३।६८) भुज्झु (३।१३०) मोरहु (२।४२) मम (२।४८) मझु (३।१५)	अम्ह (३।१३५)
अधिकरण—	महु (४।२२३) मोजे (१।३)	

उत्तम पुरुष के रूप केवल दो कारकों में ही प्राप्त होते हैं। इनमें हओ या हौं अहकम् से विकसित हुआ है।

मझु, भुज्झु मज्झु आदि रूपों का विकास इस प्रकार हुआ है।

सं० मह्यम् > प्रा० > मह्यं > मज्झु > मुझ।

मोर, मोरहु आदि रूप निःसन्देह बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये रूप वस्तुतः विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं। अतः इनके साथ आने वाली संज्ञा के लिंग वचन के अनुसार इनमें भी परिवर्तन होता है।

प्रा० मह केरो >म्हारो>मारो>मेरा आदि रूपों से इनका विकास सम्भव है।[1] मो का सम्बन्ध बीम्स मम से बतलाते हैं। प्राकृत मह ही अपभ्रंश का महु है।[2] बहुवचन रूप अम्ह<अप० ∠ अम्हे<पा० अम्हे ∠ सं० अस्मे से विकसित हुआ है।

§ ४५. मध्यम पुरुष

	एक व०	बहु व०
कर्ता—	तोजे (४।२५०) तुम्हे, (३।६०) तोहें (३।६१)	...
कर्म—	तुम्हे (३।३०) तोहि (४।२५१) तोके (३।२५)	....
करण	×	....
सम्प्र०	तुज्झ (४।२४९)	....
अपा०	×	....
सम्बन्ध—	तुम्हे, (३।३१) तुम्ह (३।२९) तुज्झ (३।२२)	....
अधि०	×	....

तोजे<प्रा० तुमं<सं० त्वम्। तोहि>प्रा० तो<तव।

मोहि मोरा की तरह इसमें 'हि' या रा लग कर तोहि तोरा बनता है। तुज्झ की उत्पत्ति प्राकृत षष्ठी के तुह के रूपान्तर तुज्झ से मानी जा सकती है। तुम्ह स्पष्टतया सं तुस्मे★>प्रा० तुम्हे>अप अप० तुम्ह से विकसित हुआ है। तोके में कर्म का परसर्ग 'के' है और तो संस्कृत तव का रूपान्तर है।

§ ४६. प्रथम पुरुष

	ए० व०	बहु० व०
कर्ता-	सो, (१।१५) तौन ३।२३	ते (४।११८) तन्हि, तान्हि (१।७०)
कर्म-	ताहि (२।९५), सं (२।५)	
करण-	तेन (२।२)	तेन्हे (३।१५४)
सम्प्र०	×	
अपा०	×	×
अधि०	×	
सम्बन्ध	तिसु (३।१४४)	तेन्हि (३।४५)
	तसु (२।१२५) तासु (१।६२)	
	ता (१।५४)	

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा हि० भा० इति०।

२. बीम्स० क० गै० भाग २ § ६३।

ये सभी रूप संस्कृत 'तद्' के विभिन्न रूपों से विकसित हुए हैं। सः का ही रूप सो है। तन्हि तान्हि तेन्हे आदि रूपों में 'न्हि' विभक्ति लगी है जो कीर्तिलता में बहुवचन सूचक है [देखिए § २९] इन रूपों के साथ परसर्ग का प्रयोग करते हैं। ये रूप सीधे किसी कारक में नहीं आते। ते (कर्ता बहु) की उत्पत्ति संस्कृत तेभिः 7 प्रा० तेहि 7 अप० ते के रूप में हुई है। ताहि के साथ कर्म की दो विभक्तियाँ लगी हैं। इसकी उत्पत्ति स० ताधि* 7 ताहि 7 ताइ 7 ताइ के साथ 'हि' विभक्ति के संयोग से हुई है। तेन संस्कृत तेण है।

§४७—**निश्चयवाचक सर्वनाम**—ये सर्वनाम निर्दिष्ट वस्तु के स्थान भेद से दो तरह के होते हैं – १. निकटवर्ती निश्चय २. दूरवर्ती निश्चय।

१—निकटवर्ती निश्चय—कीर्तिलता में इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

१. ई गिच्चइ नाअर मन मोहइ (१।१२) २. एहि दिन उद्धारके (२।७९)

३. एही कार्य छल (२।२४१) ४. एहु पातिसाह (२।२३७)

ई स्त्रीलिंग इयम् का विकसित रूपान्तर मालूम होता है। डा० चटर्जी का कहना है कि संस्कृत में इस प्रकार के दो सर्वनाम पाये जाते हैं। पहला एत् जिसका पुल्लिङ्ग रूप एषः स्त्रीलिंग एषा और नपुंसक लिंग का रूप एतद् होता है। दूसरा इद्म जिसका पुल्लिग में अयम् स्त्रीलिंग इयम् और नपुंसक में इदम् ये तीन रूप होते हैं।[1] हेमचन्द्र ने एहो और एहु का प्रयोग किया है उनके मत से एतद् का एहो पुलिंग का, और एहु नपुंसक लिंग का रूप हैं।[2] इस प्रकार हम ई को इयम् का (स्त्री) और एहु को एतद् (नपु) का विकसित रूप मान सकते हैं।

२—दूरवर्ती निश्चय—

ओ परमेश्वर हर सिर सोहइ (१।११) ओहु राओ विअक्खण (३।६०) ओ और ओहु ये दोनों रूपों की वास्तविक व्युत्पक्ति पर मतभेद है। संस्कृत में ओ का प्रयोग अव्यय रूप में हुआ है। कीर्तिलता में भी ओ (२।७१) अव्यय रूप में प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्र ने ओइ और ओ का प्रयोग किया है (८।४।३६४) और (८।४।४०१) हेमचन्द्र ने इसे अदस् का रूप माना है। असौ 7 अहौ 7 ओह > ओउ। चटर्जी इसे सर्वनाम स्वीकार करते हैं। डा० पी० यल० वैद्य ने 'ओ

---

१. चटर्जी व० लै० §५६६।

२. हेमचन्द्र ८।४।३६८।

सूचनायाम्' के संकेत से इसे अव्यय ही माना है।[1] ओकरा (२।१३०) में ओ के साथ करा परसर्ग का भी प्रयोग हुआ है।

§ ४८ सम्बन्ध वाचक सर्वनाम—

	एक व०	बहु व०
कर्ता—	जओन (२।७९) जे (१।४३) जो (१।१६)	×
कर्म—	×	
करण—	जेन (१।३९) जेन्ने (१।६४) जेइ (१।५४)	×
सम्प्रदान०	×	
अपा०	×	
अधिक०	×	×
सम्बन्ध—	जस्स (१।३४) जसु (२।२१३ जासु (१।२९) जेहे (२।६३)—	जन्हि के (२।१२८)

ये यद् के ही भिन्न रूप हैं। यः का रूप जो है। कः पुनः > कवण > कओन के ढंग पर यः पुनः > यवण > जओन। जिसका अर्थ जौन है पूर्वी बोलियों में यह अब भी 'जवन' कहा जाता है। बाबूराम सक्सेना जओन को जेमुन से व्युत्पन्न मानते हैं। (कीर्तिलता पृ० ४१ न० सं०) जेण का ही रूप जेन और जेन्ने हैं। जेन्ने में एन विभक्ति दो बार लगी हुई है। यस्य के रूप जसु जासु आदि हैं। जे मागधी प्रभावित हैं।

§ ४९ प्रश्न वाचक सर्वनाम—

	एक व०	बहु वच०
कर्ता	कमन (४।२४३) कवणे (२।२२७) कि (२।२)	×
	कओण (३।१९) को (१।१४९) की (१।२३)	×
करण	केण (४।६७) केन (४।१४३)	×

हेमचन्द्र किम् से काइं और कवण की उत्पत्ति मानते हैं। (२।४।३६७) ऐसा विश्वास किया जाता है कि लौकिक संस्कृत में एक ही प्रश्न वाचक किम् वैदिक संस्कृत में दो रूप रखता था कत् और किम्। कच्चित् में यही कत् है जिसका रूप तद् के समान चलता था। परवर्ती आर्यभाषाओं में कत् और किम् दोनों के विकास हैं। कदर्थ वाचक कापुरुष कत् + पुरुष है और किंनर, किंसरखा या

१. प्राकृत व्याकरण पृ० ६६५।

किंपुरुष में किम् दिखाई पड़ता है। हार्नली कवन की उत्पत्ति अपभ्रंश केवडु से मानते हैं। किन्तु केवडु संस्कृत कति से माना जाता है। चटर्जी इसे किं + पुनः से उत्पन्न मानते हैं।

§ ५० अनिश्चय वाचक : कीर्तिलता में अनिश्चयवाचक सर्वनाम में कोए, कोइ, काहु, केहु और कछु का प्रयोग हुआ है।

१. मित्त करिअ सब कोए (१।७)

२. कोइ नहिं होइ विचारक (२।१२)

३. काहु सम्बल देल थोल (३।६६)

४. काहु काहु अइसनों संक (२।१३०)

५. आन किछु काहु न भावइ (२।१८७)

अनिश्चयवाचक सर्वनाम कोऽपि के विकसित रूप हैं। संस्कृत कोऽपि प्रा० कोवि, अपभ्रंश में कोवि के रूप में दिखाई पड़ता है। यही कोउ, कोइ, कोए, के रूप में बदल गया है। पुरानी हिन्दी में कोउ रूप भी मिलता है जो कोऽपि से ही बना है। उसी प्रकार सोऽपि से सोऊ तथा योऽपि से जोऊ बने हैं। आन का मूल रूप अन्य है।

किछु शब्द किंच + हु के योग से बना है। हार्नली उसकी उत्पत्ति प्राकृत के सम्भावित रूप कच्छु से मानते हैं।

§ ५१ निजवाचक सर्वनाम : कीर्तिलता में निजवाचक सर्वनाम के रूप में अपने, स्वयं और निज इन तीन शब्दों का प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश की दृष्टि से ये बहुत पीछे के और बहुत अंशों में आ० भा० आ० काल के लगते हैं।

१—अपन (२।४८) अपने (२।१२०) अपनेहु (३।३८) अप्पा (४।१८०) अप्प (२।११८)

२—निअ (२।२२९) निअ (२।२२६) णिअ (१।४०)

३—पुर पुर मार सञो गहञो (२।४१)

अपने ∠ अप्प < आत्मन् का रूप है। इसका प्रयोग आदरार्थ सूचक रूप में भी होता है।

सञो—संस्कृत स्वयम् का ही रूपान्तर है।

निज—मूल रूप संस्कृत से ही आया है। इसका अपभ्रंश रूप निअ, णिज भी होता है।

§ ५२. अन्य सर्वनामों में सब्ब प्रमुख है।

सव्वउँ नारि विअक्खनी सव्वउं सुस्थित लोक (२।१५२)

सव्वउँ केरा रिजु नयन (२।११९)

यह सब्ब या सब प्रायः बहुवचन की सूचना के लिए आता है। इसका एक रूप 'सबे' भी है। सवे किछु किनइते पावथि। यह कर्ता के मागधी एकारान्त का प्रभाव है।

२. आण, अओका ये दो शब्द भी कीर्तिलता में आये हैं।

१. आण करइते आण भउ (१।४९)

२. आण कछु काहु न भावइ (२।१८७)

३. एक्क धम्मे अओका उपहास (२।१९३)

संस्कृत अन्य > पाली अन्न > आण के रूप में दिखाई पड़ता है। अओक शब्द विद्यापति की पदावली में भी आया है।

कटिक गौरव पावोल नितम्ब एक कखीन अओक अवलम्ब। वर्णरत्नाकर में पृ० ४५ पर इसका प्रयोग हुआ है। यह शब्द अपरक > अओक के रूप में सम्भव है। सगरे हसम रोल पड़ु में सकल का सगरे रूप मिलता है। इतर का इअरो रूप प्रथम पल्लव की गाहा में आया है।

§ ५३. विशेषण :

कीर्तिलता में विशेषणों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ तो संज्ञा से बने विशेषण हैं कुछ क्रियाओं से। कृदन्तज विशेषणों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें विशेष्य की तरह ही लिंग वचन का निर्धारण होता है। कृदन्तज विशेषणों के अलावा अन्य विशेषणों में भी लिंग का निर्धारण दिखाई पड़ता है।

१—अग्गिम (१।३९ < अग्रिम); आड़ी दीठि (२।१७७ = वक्र दृष्टि) उत्तम (२।१३); काचले नयने (४।४६ = काचल, चमकीले); कांच (४।७६ = कच्चा) कित्तिम (२।१३९ ∠ कृत्रिम) किरिस (३।१०८ ∠ कृश); गरिट्ठ (१।७६ ∠ गरिष्ठ) गरुअ (३।१३ ∠ गुरुक); गरुवि (२।१८६७ ∠ गुरु (?) (स्त्री); गाढिम (४।१।१२ ∠ गूढ़) चङ्किम (४।२३० = सुन्दर); चरस (२।१८७ ∠ चक्र ?); चांगु (४।४५ = चंगा); चारु कला (४।२३०); छोटाहु (३।९३ ∠ क्षुद्र) जुवल (३।३५ ∠ युगल) जूठ (२।१८८ ∠ उच्छिष्ट); जेठ (२।४२ ∠ ज्येष्ठ); झूट (२।१०४ ∠ उच्छिष्ट?) ततत (२।१७८ ∠ तप्त ?) तातल (२।२७५ ∠ तप्त); तीखे (४।४६ ∠ तीक्ष) तेतुली (२।२८) थोल (३।८७ = थोड़ा) देसिल (१।२१ < देशी)

नव यौवना (२।५७) निद्राण (२।२९) नीक (२।४७ <नेक) नोच (१।४७) पवित्ती तिरहुत (४।३ <पवित्री) पिच्छल (४।२१८) पेषणी (२।१२८) फुर (१।३२ ∠ स्फुट) वङ्क (२।११९) बड़ (३।१०४) बड़ा (३।४२) वड्डिम ४ (१।६५) बड़ी (२।१४४) वड्डओ (२।८४) वाकुले (४।४५ <वक्र) विअ च्खवण (३।६० <विचक्षण) मन्द (२।१८) रूसलि (१।८६ = रुष्ठ) सिमाय (२।२४८ = सज्ञान)

२—सर्वनामिक विशेषण—

पुरुष वाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामों को छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी इस वर्ग में दो मुख्य रूप से सर्वनामिक विशेषण माने जाते हैं।

क—अइस (<ऐस हेमचन्द्र (८।४।४०३) प्रकार सूचक
अइस (२।५२) अस (२।१७) ऐसो (४।१०५)
कइसे (२।१४९) जइसओ (१।३०) तइसना (३।५२)

ख—एत्तिय—एवडु और एत्तुल हेम० (८।४।४०७) परिमाण सूचक
एत्ता (३।१२८) एत्ते (१।३१)
कत (३।१५०) कतन्हि (कतहु (२।१९४)
कत्त (३।१३८)

§५४—संख्या वाचक विशेषण—संख्या वाचक विशेषण का इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। इसमें कालानुक्रम से विकसित इतिहास का कोई भी पारंपरिक रूप नहीं मिलता। डा० चटर्जी की राय है कि ये विशेषण आर्य भाषाओं में अन्य विशेषणों के समान संस्कृत और प्राकृत से होकर आए हुए नहीं मालूम होते। ऐसा लगता है कि समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विशेषण पाली या मध्यकालीन आर्यभाषाओं के सदृश किसी सर्वप्रचलित भाषा से आए हुए हैं। कुछ रूपों में प्रादेशिक प्राकृतों और अपभ्रंश की छाप संभव हैं। जैसे गुजराती बे 'मराठी' 'दोन', 'बंगाली' दुई।[1] कीर्तिलता में प्रयुक्त संख्या वाचक विशेषणों का विवरण नीचे दिया जाता है।

§५५ पूर्णसंख्यावाचक—कीर्तिलता में पूर्ण संख्या वाचक विशेषणों का कुछ प्रयोग हुआ है। उनके उदाहरण और विकास की संभावित अवस्थाएँ नीचे दी जाती हैं।

१. चटर्जी, वैं० लैं० §५११।

१. वेबि सहोदर (२।५०) वेवि 'दोनों' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में इसके लिए द्वो और प्राकृत में 'दो' शब्द मिलते हैं। यह शब्द द्वेऽपि से बना है। द्वो का 'वे' या 'वा' रूप केवल संयुक्त संख्याओं में दिखाई पड़ता है। वाइस, वत्तिस, वासठ, वानवे में वा या व इसी के अवशिष्ट अंश मालूम होते हैं। पाञे चलि दुअओ कुमर (२।५९) में द्वो का 'दो' रूप भी प्राप्त है।

२. एक्क : एक्क या एक प्राकृत एक्क ∠ संस्कृत एक से विकसित हुआ है। कीर्तिलता में नारि के विशेषण के रूप में एक्क का स्त्रीलिंग 'एक्का' कर दिया गया है। एक्का नारि (३।२७)

३. वेद पढ़ तिन्नि (१।४६) तिन्नि का विकास क्रम इस प्रकार माना जाता है।

सं० त्रीणि ７ प्रा० तिण्णि ７ अप० तिन्नि

कीर्तिलता में इसका इसका रूप तीनू भी मिलता है।

तीनू उपेष्खिअ (२।३६) एक स्थान पर तीनहु (१।८५) भी मिलता है। वस्तुतः वे दोनों तिन्न या तीन के द्वितीया के रूप हैं जिनमें उ या हु विभक्तियाँ लगी हैं। हु अव्यय के रूप में भी माना जा सकता है, तीनों ही' के अर्थ में।

४. चारी (३।१४२) और चारु (४।४९) ये चार के दो रूप मिलते हैं।

५. पंच (२।४) संस्कृत पंच का रूप है। उसी प्रकार सात (२।२४३) सप्त का, दशओ (१।६३) दश का और बीस (४।७८) विशंति के रूपान्तर हैं।

६. अट्ठाइस (२।२४४) अट्ठाइस < अट्ठावीस < अष्टाविशंति

७. सए (२।३२) संस्कृत शत > प्राकृत सय से बना है। य का ए कीर्तिलता की एक विशेषता है।

८. सहस (३।१५०) संस्कृत के सहस्र का विकास है।

९. हजारी मअंगा : (२।१५९) सहस्र और हज्र एक ही मूल एंडो एरियन के विकास हैं। हज्र ही परवर्ती हजार हैं। सहस्र का अर्थ अनन्त हैं।

१०. लष्ख संख (४।४३) लक्षावधि (४।९) : लष्ख लक्ष का ही भ्रष्ट लेखन का परिणाम है। संस्कृत में लक्ष चलता है जो लक्षावधि में वर्तमान है। कीर्तिलता में ये पूर्ण संख्या वाचक विशेषण पाए जाते हैं।

§५६—अपूर्ण संख्यावाचक : अपूर्ण संख्या वाचक विशेषण कीर्तिलता में एकाध ही मिलते हैं।

३/२—योजन बीस दिनद्धे धावथि (४।७८)।

यह 'अद्धे' संस्कृत अर्द्ध का रूपान्तर है ।

३—**त्रितीय भागे तीन भुवन साह (२।१४७) त्रितीय<तृतीय**

§५७—क्रमसंख्या वाचक :

प्रथम>पढम : तम्मह्नु मासहि पढम पक्ख (२।५)

यह 'पढम' प्रथम का परिवर्तित रूप है । प्रथम 7 पढम । इस में थ का मूर्धन्यीकरण हो गया है ।

२. पहिले नेवाला खाइ (२।१८२)

धीरेन्द्र जी ने पहिले की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार रखा है । पहिला <प्रा० पढिल्ल*<पथिल्ल*<सं० प्रथइल* ।' वीम्स ने पहिला की उत्पत्ति प्रथम या प्रथर से माना है ।[1]

३. दोसरी अमराती क अवतार मा (२।९९)

४. तीसरा लागि तीनू उपेक्खिअ (२।१४०)

वीम्स इन शब्दों का सम्बन्ध स. द्वि + सृतः, त्रि + सृत, से जोड़ते हैं ।[2] द्वितीय तृतीय से इनकी उत्पत्ति संभव नहीं है कि क्योंकि इनके विकसित रूप दूसरा तीसरा नहीं दूजा तीजा हो सकते हैं ।

५—पंचम (१।५८) <पंचम से विकसित है ।

§५८ : आवृत्ति संख्यावाचक : कीर्तिलता में एक शब्द आता है 'सथि' दस सथि मानुस करो मुँड (४।२३)

यह 'सथि' गुणवाचक है । संस्कृत का 'शतिक' शायद इसका मूलक रूप हो ।

§५६ समुदाय संख्यावाचक :

कीर्तिलता में एक प्रयोग वेण्डा मिलता है ।

वे भूपाला मेइनी वेण्डा एक्का नारि (३।२७)

अर्थात् दो राजाओं की पृथ्वी और दो पुरुष की एक नारि । सोचना है कि इस 'वेन्डा' की उत्पत्ति में समुदायक वाचक 'गेंडा' कहाँ तक सहायक है ।

गण्डमे गणिअ उपास (३।११४)

का अर्थ गण्डों में (चार चार दिन) गिन कर उपवास करने लगे ।

यहाँ 'गण्डा' शब्द भी मिलता है ।

१. हि० भा० इति० § २८० ।

२. वीम्स क० ग्रा० भाग २ § २७ ।

§६० क्रिया—

मध्यकालीन आर्यभाषा काल में संस्कृत क्रियाओं के रूप में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित हो गए। संस्कृत के गण-विधान का पंजा ढीला पड़ गया। विकरण के आधार पर संस्कृत में गणों का निर्माण हुआ किन्तु इस काल में—अ वर्ग के अन्दर ही सभी प्रकार के धातुवर्ग समाहित हो गए। कीर्तिलता में न केवल शब्दों में ही संस्कृत के प्रभाव से तत्सम का प्रयोग हुआ है बल्कि क्रियाओं में संस्कृत की धातुओं की (अकारान्त रूप में ही) प्रचुरता दिखाई पड़ती है। कीर्तिलता एक ऐतिहासिक काव्य है इसलिए लेखक प्रायः इसकी कथा को मूलतः 'बीती हुई कथा' के रूप में ही सुनाता है इसलिए भूतकाल के प्रयोग निःसन्देह सर्वाधिक हुए हैं, किन्तु कथा क्रम में वह वर्णनों का जब सहारा लेता है, ऐतिहासिक वर्तमान की क्रियाएँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। ये क्रियायें अर्थतः भूतकाल की ही सूचना देती हैं परन्तु इनका रूप वर्तमान का ही होता है।

§६१ वर्तमान काल—

संस्कृत और मध्यकालीन आर्यभाषा की वर्तमान काल (लट् रूप) की क्रियायें विकसित रूप में दिखाई पड़ती हैं। इनमें जैसा कहा गया कोई गण विधान या विशेष रूप नहीं होते, सकर्मक अकर्मक का भी कोई खास भेद नहीं किया गया है। कीर्तिलता में इनका स्वरूप इस प्रकार मिलता है :

	एक व०	बहु व०
उत्तम—	करओ, करउँ	×
मध्यम—	करहि, करसि	×
अन्य—	करइ, करए, कर, करथि, करै	करन्ति, हिं, करहिं

करओ (२।२०) कहओ (३।१३८) जम्पओ (१।८१) परबोधओ (१।३०) आदि रूपों में–ओ तथा कहउँ (१।३६) किक्करउँ (३।११४) आदि में—उं का प्रयोग हुआ है। चटर्जी के अनुसार करउँ प्राचीन करोमि रूप पर अधारित है। करोमि के अन्त्य इ के ह्रास के कारण यह रूप करोमि > करोवि > करउँ करओ आदि रूपान्तर को प्राप्त हुआ है। प्राचीन कुर्मः > करामह > म० का० करोमो > करउँ के रूप में भी यह विकास संभव है। [उक्ति व्यक्ति § ७१]

भग्गसि (४।२५०) जासि (४।२४५) जीवसि (२।२४८) आदि रूपों में सि विभक्ति को प्राचीन लट् के मध्यम पुरुष की 'षि' विभक्ति का विकास समझना चाहिए।

वर्तमान काल में सबसे महत्त्वपूर्ण रूप अन्य पुरुष के दिखाई पड़ते हैं।

§ ६२ **करइ कर और करए**—इस तरह के रूपों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

अइ—अंगवइ (१।२२) उपेष्खइ (३।१३४) उप्फलइ (४।१८३) कम्पइ (२।२२९) गणइ (३।७५) चित्तइ (३।११५) जुज्झइ (१।४८) धँसमसइ (४।५६) धुन्नइ (२।१८) नवइ (२।२३३) पज्जटइ (२।९३) पड़इ (३।६९) पावइ (१।२०)

अ—कह (२।११७) चाट (२।२०४) चाह (२।१४७) निकार (२।२१०) निहार (२।१७७) पछुताव (४।५५) पाव (२।१८९) भर (३।२८) चूह (२।८०) छाज (२।२३२) छाड (२।१९१)

अए—अछए (३।१३१) आनए (२।२०२) करावए (३।१८) कोहाए (२।१७५) गणए (४।१०७) जाए (२।४१) विज्जए (४।२१७)

अइ प्राचीन अति का ही रूपान्तर है। करोति > करति > करइ। करए का = अए इसी अइ का विकास है। ध्वनि सम्बन्धी विवेचन में इसका विस्तृत परिचय दिया गया है। [देखिए §९]

इसी अइ के उद्वृत्त स्वरों से ऐ का संयुक्त स्वर बनता है। कीर्तिलता में अन्य ऐ वाले रूप भी उपलब्ध होते हैं।

पाणै (३।१६१ = पाणइ) राखै (३।१६१ = राखइ) लगावैं (२।१९० = लगावइ) लागैं (१।१४४ = लागइ)

—अ करान्त क्रिया रूपों के विषय में चटर्जी ने उक्ति व्यक्ति प्रकरण में विस्तार से विचार किया है। (उक्ति व्यक्ति § ३९) चटर्जी ने इसका विकास अति > अइ > अए > अ के रूप में माना है। इस तरह के रूप तुलसी, जायसी आदि में भी पाये जाते हैं। इनके मूल में कृतन्तज रूपों का कहाँ तक योग है, यह भी विचारणीय प्रश्न है।

सोइ प्रगटत जिमि मोल रतन ते (तुलसी)

कह रावण सुनु सुमुखि सयानी (तुलसी)

ऊपर के रूपों में 'प्रगटत' स्पष्टतः कृदन्त रूप है 'कह' को 'कहत' से विकसित माना जा सकता है। ये रूप कभी-कभी भूतकाल में भी प्रयोग में आते हैं। वेद पढ़ तिन्नि (कीर्ति० १।४६) = तीनों वेद पढ़ा।

मधुर वचन सीता जब बोला (तुलसी) = सीता बोली

रहा न जोबन आव बुढ़ापा (जायसी) = यौवन नहीं रहा, बुढ़ापा आया।

ये पढ़, बोल, आव आदि रूप भूतकाल के हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें पढ़इ, बोलइ आवइ आदि से विकसित मानने में कठिनाई उपस्थित होती है।

उक्ति व्यक्ति, प्राकृत पैंगलम्, चर्यागीत, कीर्तिलता जायसी और तुलसी की रचनाओं में इस प्रकार के रूपों का बाहुल्य देखकर यह अनुमान करना तो सहज है कि यह उस ज़माने के प्रचलित प्रयोग हैं।

§६३—कीर्तिलता में वर्तमान काल के अन्य पुरुष में थि' विभक्ति का प्रयोग मिलता है। यह 'थि' विभक्ति मैथिली की अपनी विशेषता मानी जाती है। 'थि' विभक्ति का प्रयोग कीर्तिलता में कुल १३ बार मिलता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१. अणवरत हाथि मयमत्त जाथि (४।१६)
२. सबे किछु किनइते पावथि (२।११४)
३. धाए पइसथि परयुत्थे (४।१६७)
४. जोअन बीस दिनद्धे धावथि (४।७८)
५. बगल क रोटी दिवस गमावथि (४।७६)

थि का प्रयोग इन उदाहरणों से स्पष्ट है। यह केवल अन्य पुरुष के बहुवचन में पाया जाता है। थि विभक्ति की उत्पत्ति विचारणीय है। डा० चटर्जी इसकी उत्पत्ति संस्कृत के वर्तमान काल के अन्य पुरुष बहुवचन को त्रिभक्ति 'न्ति' से मानते हैं। उनका कहना है कि 'न्ति' विभक्ति का अवशेष त् है जो 'हि' निश्चयार्थ अव्यय से संयुक्त होकर 'थि' का रूप ग्रहण करता है।

१. बहुवचन अन्य पुरुष के लिए कीर्तिलता में संस्कृत के प्रभाव से 'न्ति' विभक्ति का भी प्रयोग हुआ है।

१. तोलन्ति हेरा कसूका पेयाजू (२।१६५)
२. बसाहन्ति षीसा पइआल्ल मोजा (२।६१)
३. पखालेन्ति पाआ (४।१९६)

२. अन्य पुरुष एक वचन में कहीं कहीं 'ति' भी मिलती है अथ भृंगी पुनः पृच्छति (२।१)

३. नथ्थि (३।११०) <नास्ति का परवर्ती रूपान्तर है।

बहुवचन में—'हि' विभक्ति का भी अन्य पुरुष में प्रयोग होता है।

आनहि (२।९०) आवहिं (२।२१९) हेरहिं (२।८८)। इनमें -हिं विभक्ति का सम्बन्ध प्राचीन 'अन्ति' से माना जाता है।

§६४—भूतकाल

अपभ्रंश काल तक आते-आते भूतकाल के क्रिया—रूपों में आश्चर्य जनक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत के लुट्, लुट्, और लिट् ये तीनों लकार पाली काल में नहीं दिखाई पड़ते। पाली में केवल लुट् का प्रयोग दिखाई पड़ता है। प्राकृतों में इस काल में लकारों का लोप हो गया और क्त प्रत्यय के कृदन्तों का प्रयोग होने लगा। क्त प्रत्ययान्त कृदन्तों का प्रयोग संस्कृत में केवल कर्म वाच्य में ही होता था। यह नियम अपभ्रंश काल में बहुत ढीला पड़ गया। पूर्वी प्रदेशों में 'ल' प्रत्यय वाले रूपों का प्रचार बढ़ा।

इन रूपों की विशेषता यह है कि ये भूतकृदन्तज विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होते हैं और इसमें क्रिया में कर्ता के अनुसार लिंग वचन का आरोप होता है।

१—विद्यापति की कीर्तिलता में भूतकाल के कृदन्त रूपों की अधिकता है कृदन्त प्रायः दो रूप में दिखाई पड़ते हैं। 'इअ' और 'इज' दोनों रूपों के प्रयोग मिलते हैं। 'इज' रूप प्रायः शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं में ही मिलता है। इसको प्रयोग पूर्वी अपभ्रंश या अवहट्ठ में बहुत विरल मिलते हैं।

धनि पेक्खिअ सानन्द (२।१२४) रअणि विरमिअ (३।४)

एम कोप्पिय, सुनिय सुरतान (३।३४) तवहु न चुक्किय (३।११८)

इस प्रकार के 'इअ' वाले रूप ही मिलते हैं। मेरे देखने में कोई इज वाला रूप नहीं आया। दो स्थल पर दिखाई भी पड़ते हैं, वे कर्मणि प्रयोग हैं।

जेहि न पाउं उमग दिज्जिय (१।५३)

अस्थिजन विमन न किज्जिय (१।५२)

२—कीर्तिलता में भूतकाल के इन रूपों में कुछ में अनुस्वार युक्त 'उ' लगाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

पुरुष हुअउं बलिराय (१।३८) खत्तिय खय करिअउं (१।४१)

किमि उपअउं वैरिपण (२।२) किमि उद्धरिउं तेन (१।२)

कुछ रूपों में उ तो लगता है, परन्तु वह अनुनासिक नहीं होता। ये रूप स्वार्थक 'अ' : कः प्रत्यय के रूप हैं। हेमचन्द्र के दोहों में भी चलियउ, कियउ, देक्खिउ रूप मिलते हैं। जोइन्दु के जगु जाणियउ <ज्ञातः तथा स्वयंभू

के 'थिरभावउल रस पूरियउ' में पूरियउ < पूरतः तथा हरिस विसाउ पवराणउ < प्रपन्न : आदि रूपों में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।
कुछ रूपों में अउ के स्थान पर अओ रूप हो जाता है। करेओ (२।१०३) धरेओ (१।८४) सारेओ (१।८७) विथ्थरेओ (१।८८)

३—कीर्तिलता में भूतकाल में कुछ उकारान्त रूप मिलते हैं जो 'क्त' कृदन्त के रूपों से विकसित मालूम होते हैं।

गतः 7 गतो 7 गदो 7 गओ 7 गउ कीर्तिलता से निम्न उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं :

पाएँ चलु दुअओ कुमर	(२।५६)
काहु सेवक लागु भैठि	(२।६९)
कतेहु दिनै बाट संचरु	(२।७४)
उपजु डर	(३।७६)

इस तरह के करु, परु जागु, पलु, भउं आदि बहुत से रूप मिल जायेंगे। यह अवहट्ठ काल की रचनाओं में प्रायः साधारण प्रवृत्ति हो गई थी।

३—भूतकाल के कृदन्त रूपों में 'इ अ' को इ आ कर देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश काल में भी मिलती है।

१. अम्बर मंडल पूरीआ	[२।११६]
२. पअ भरे पाथर चूरीआ	[२।११७]
३. सेना संचरिआ	[४।२]
४. अप्पे करे थप्पिआ	[३।८२]
५. धूल भरे झंपिआ	[३।७०]

ऐसा भी हो सकता है कि बाद पूर्ति के लिए ही अन्तिम स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। यों कीर्तिलता में ही नहीं, चर्यागीतों, प्राकृत पैंगलम् तथा पश्चिमी अवहट्ठ की अन्य रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। खड़ी बोली के आकारान्त क्रिया पदों का मूल भी इसी प्रवृत्ति में ढूँढ़ा जा सकता है।

भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणि म्हारो कंतु।

इस क्रिया मारिआ का नाम खड़ी बोली की क्रियाओं के विकास के सिलसिले में लिया जाता है किन्तु अवहट्ठ युग में तो यह साधारण प्रयोग-सा हो गया था।

कीर्तिलता में एक बिलकुल खड़ी बोली-जैसा क्रिया पद भी मिलता है।

चान्दन क मूल्य इन्धन विका (३।११०)

वस्तुतः यह विक्किआ का ही सरलीकृत रूप है। इसी प्रकार अवहट्ट की इन क्रियाओं में खड़ी बोली की अन्य क्रियाओं का मूल ढूँढ़ा जा सकता है।

§६५ ल प्रत्यय : कीर्तिलता में भूतकाल में 'ल' का प्रयोग हुआ है। गेल, मेल, कहल आदि इसके उदाहरण हैं। ये रूप थोड़ी भिन्नता से दो तरह के हैं। एक जिनकी धातुओं में परिवर्तन नहीं हुआ है उनमें सीधे 'ल' जोड़ दिया गया है। दूसरों में थोड़ा परिवर्तन के बाद 'ल' जुड़ता है। इस तरह 'कहल, मारल, चलल, मिलल पहली तरह के रूप हैं; गेल, भेल, देल आदि दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं। कीर्तिलता में ये दोनों प्रकार मिलते हैं —

१. काहु वाट **कहल सोझ** (२।७२)
२. **गएनेसर मारल** (२।७)
३. **तुरुक तोषारहिं चलल** (२।१७६)
४. **भेल वड प्रयास** (२।१२८)
५. **ठाकुर ठक भए गेल** (२।१०)
६. काहु देल **ऋण उधार** (२।६६)

इन कृदन्तों में कर्ता के अनुसार लिंग भेद भी होता है।

ल का प्रयोग पूर्वी भाषाओं में तो होता ही है अवहट्ट की पश्चिमी रचनाओं में भी कृदन्तज विशेषण के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। डा० तेसीतरी ने प्राचीन राजस्थानी के प्रसंग में सुनिल और 'धुनिल' ये दो उदाहरण बताए हैं। इस 'ल' या 'इल' अथवा 'अल' की व्युत्पत्ति के विषय में बहुत विवाद है। विद्वानों की राय है कि 'इत' प्राकृत में 'इड' 'इड' फिर 'इर' और 'इल' हो गया। परन्तु प्राकृत में त का ड़ होना असंभव है। डा० हार्नली ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए इत् से इल ही माना। उनके बीच के इड या इड़ रूपों को हटा दिया। पिशेल और जूल ब्लाक ने इसकी उत्पत्ति संस्कृत के ल प्रत्यय से स्वीकार किया। कैलाग और वीम्स और आगे बढ़े और इन लोगों ने इसका सम्बन्ध रूसी 'ल' प्रत्यय से जोड़ने की चेष्टा की। वस्तुतः इसकी उत्पत्ति इत और ल के संयोग से हुई है। यह इल्ल रूप पुराना है। सर चार्ल्स लायल ने सर्व प्रथम इस ल या इल का सम्बन्ध प्राकृत 'इल्ल' से जोड़ा। स्केच आव् दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज नामक निबन्ध में उन्होंने इस विषय पर विचार किया। इसी व्युत्पत्ति को आजकल ठीक माना जाता है।[१]

१. इंडियन एँटिक्वेरी पुरानी राजस्थानी § १२६।५

§६६ भविष्यत् काल : भविष्य निश्चयार्थ :

अपभ्रंश में भविष्यत् काल के प्रायः दो प्रकार के रूप मिलते हैं। कुछ रूपों में विभक्ति के रूप में स या उसके परिवर्तित रूप मिलते हैं कुछ में ह या उसके विकृत रूप प्राप्त होते हैं।
उदाहरण के लिए कृ धातु के दो तरह के रूप बन सकते हैं। एक ओर जहाँ करिसुं करसेहुं, करसहि करीस, करसेइ और करसई रूप मिलेंगे वहीं दूसरी ओर करीहिं, करहुँ, करिहि, करिहिहि, करिहि आदि दूसरे प्रकार के रूप भी मिलेंगे।

कीर्तिलता में कुछ और भी अधिक परिवर्तित होकर दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। स विभक्ति या उसके परिवर्तित रूपों के उदाहरण नीचे हैं —

१. **होणा होसइ एक्क पइ वीर पुरिष उच्छाह** (२।५९)
२. **तुम्हें न होसउं असहना** (२।३२)
३. **जइ सुरसा होसइ मझु भासा** (१।१५)

इस स विभक्ति वाले रूपों की संख्या बहुत थोड़ी है। किन्तु ह विभक्ति के रूप बहुलता से पाए जाते हैं। वस्तुतः स वाले रूप पश्चिमी अपभ्रंश में ही अधिक पाए जाते हैं। नीचे ह विभक्ति वाले रूपों के उदाहरण दिए जाते हैं।

१. **जो बुज्झिह** (१।१६)
२. **सो करिह** (१।२६)
३. **ध्रुव न धरिज्जिह सोग** (३।१४७)
४. **कालहि चुक्किह कज्ज** (३।५१)
५. **पुनुवि परिश्रम सीझिहइ** (३।५१)
६. **किमि जिजविहि मझु माजे** (३।२७)

इन 'इह' और 'इस' दोनों प्रकार के रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के इष्य रूप से ही हुई है।

इह और इस < प्राकृत इस्स < संस्कृत इष्य

चर्यागीत, दोहाकोश और अन्य रचनाओं में इस प्रवृत्ति के आभास होते हैं। भोजपुरिया, मैथिली, और बँगला आदि में आज भी ह या उसके विकृत रूपों का प्रयोग होता है। ब विभक्ति जो पदावली तथा अन्य पूर्वी भाषाओं में मिलती है कीर्तिलता में नहीं मिलती। केवल एक स्थान पर 'व्वउँ' के साथ 'करना' क्रिया का प्रयोग हुआ है।

झंक करिव्वउँ काह (३।५१)
यह 'तव्यत्' से विकसित हुआ है।

§६७—भविष्य संभावना के भी कुछ प्रयोग मिलते हैं।

ते रहउ कि जाउ कि रज्ज मम् (२।४८)

ऐसे प्रयोग अवधी में भी मिलते हैं।

जोवन जाउ जाउ सो भँवरा (जायसी)

अजस होउ जग खुजस नसाइ (तुलसी)

§६८—कृदन्त का वर्तमान में प्रयोग :

वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों का वर्तमान काल में क्रिया की तरह प्रयोग होता है।

कढ़न्ता (२।१७२ = कढ़ाते हैं); करन्ता (२।२२७ = करते हैं) चाहन्ते (२।२१९ = चाहते हैं) चापन्ते (२।१७ = चापते हैं) टूटन्ता (४।१७६ = टूटते हैं) देषन्ते (२।२४० = देखते हैं) निन्दन्ते (२।१४५ = निन्दा करते हैं) पिअन्ता (२।१७० = पीते हैं) पावन्ता (२।२२१ = पाते हैं) सोहन्ता (२।२३० = शोभित होते हैं) ये रूप धातु में अंत (शतृ प्रत्ययान्त) लगने से बनते हैं, यही रूप बाद में 'ता' रूपों में दिखाई पड़ते हैं जिसके साथ सहायक क्रिया का प्रयोग करके हिन्दी के वर्तमान 'जाता है', 'पढ़ता है' आदि रूपों का निर्माण होता है। इन कृदन्तज रूपों की यह पहली स्थिति है जिससे विकसित होकर वे हिन्दी के वर्तमान रूपों में आए।

§६९—अपूर्ण कृदन्त

कीर्तिलता में प्राय: संयुक्त क्रियाओं में अपूर्ण कृदन्तों का प्रयोग हुआ है। इनके उदाहरण नीचे उपस्थित किए जाते हैं।

किनइते पावथि (२।११४ = खरीद पाते हैं) जाइते धर (२।२०१ = जाते हुए पकड़ लेते हैं) आन करइते आन भउ (३।४९ = दूसरा करते दूसरा हुआ)।

चटर्जी इन्हें (Present Progressive) का उदाहरण मानते हैं—होइते अछ, (वर्ण १३ क) करइते आह। (३७ ख) चरइतें अछ (वर्ण) रूपों का उदाहरण देते हुए चटर्जी ने कहा कि वर्तमान मैथिली में 'करइते अछ' और 'करइछ' दोनों रूप मिलते हैं (वर्ण० र० § ५०) डॉ० बाबूराम सक्सेना इन रूपों को क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप बताते हैं [कीर्तिलता, न० सं० पृ० ५४] हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। उसे काम करते देर हो गई, में

'करते' अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त है जो वर्तमान कालिक कृदन्त का विकृत रूप मात्र है।[1]

§७०—प्रेरणार्थक क्रिया

कीर्तिलता के निम्नलिखित उदाहरणों में प्रेरणार्थक रूप उपलब्ध होते हैं—

करावए (३।२८ = कराता है) बैठाव (२।१८४ = बिठलाता है), लवावै (२।१९० = लिवा आता है), पलटाए (१।८६ = पलटा कर)। इन क्रिया रूपोंमें 'आव' लगा हुआ है। संस्कृत में प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप धातु में—अय लगा कर बनते थे। स्वरान्त धातुओं में—अय के बीच में—प भी लगता था। इसी आप (दापयति) का विकसित रूप आव है।

§७१ आज्ञार्थक

हेमचन्द्रने आज्ञार्थक क्रिया के लिए 'हिस्वयोरिदुदेत्' (८।४।३८७) सूत्र के उदाहरण में जो तीन रूप बताए हैं सुमरि, विलम्बु, और करे उनमें-इ,-उ,-ए ये तीन प्रकार दिखाई पड़ते हैं। कीर्तिलता के आज्ञार्थक रूपों में कई नए प्रकार भी दिखाई पड़ते हैं।

मूल धातु रूप ही आज्ञार्थक का बोध कराते हैं। ये प्रायः अ स्वरान्त होते हैं।

१—अ—

अनुसर (४।२५) कह कह कन्ता (४।२) भण (२।४८) सुन (१।२३)

२—उ—

जियउ (१।७७) जीअउ (२।२१३) साहउ (१।७७)

३—ओ—

सुनओ (२।१५६) करो (२।११०)

४—हु—

कहहु (३।३) करहु (२।३२) भुंजहु (२।२७) राखेहु (१।४४) सम्पलहु (२।३८)

५—सि—

कहसि (१।२६)

६—हि—

1. हि०भा० इति० § ३१४

जाहि (४।२५२) अप्पहि (४।४)

७—आदरार्थ आज्ञा—इअ—

करिअइ (२।२४ = कीजिए) किज्जिअ (४।२५६) छानिअ (३।९८) छपाइअ (३।१०४) धरिअ (२।१८१)

८—करिपु (३।५६) हरिज्जिषु (३।५६–पाठभेद)

उ और ओ–रूप प्राचीन तु (करोतु) पर आधारित हैं। हु की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। चटर्जी ने 'हु' के लिए :

कुरुष्व > करस्स > करहु > का क्रम बताया है।—सि पर वर्तमान मध्य-पुरुष की विभक्ति-सि का प्रभाव है।

मुंज म करसि विसाउ (मुंजराज प्रबन्ध दो० सं० ३४) में करसि ऐसा ही रूप है। छानिअ, छपाइअ आदि इअ रूप भूतकालिक कृदन्त के इ त वाले रूपों से विकास ही हैं। करिसु का सु ∠ ष्व से विकसित है।

§७२—पूर्वकालिक क्रिया—अपभ्रंश में पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए कई प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता था।

हेमचन्द्र के अनुसार ये इस प्रकार हैं —

—इ —इउ — इवि — अवि

—एप्पि—इप्पिणु— एवि — एविणु

इन प्रत्ययों में कीर्तिलता में 'इ' प्रत्यय ही सर्वाधिक रूप से उपलब्ध है।

इ—उट्ठि (३।६) उभारि (२।१३७ उभार कर); कट्टि (३।७८ = काटकर); खुखुन्दि (४।१३५ = खोदकर), गोइ (१।४४ = छिपाकर), चापि (३।१४९ = चाँप कर), छाँडि (१।१०५ = छोड़कर), जित्ति (४।२५४ = जीतकर), टोप्परि (४।२३२ रुक कर ?), दमसि (४।१२८ = मर्दित करके), दौरि (२।१८१ = दौड़ कर), धरि (२।२२२ = पकड़ कर), धाइ (२।४१ = दौड़ कर), नामि (३।२२ = नवा कर), पकलि (४।१४८)। इ का कुछ रूपों में ए हो जाता है। नीचे—ए वाले रूपों के उदाहरण दिये जाते हैं —

ए—गए (१।३ = जाकर), पइट्ठे (१।३६ पैठकर), पलटाए (१।८६ = पलटा कर), भेले (३।९० = होकर), लै (२।१८४ = लेकर), धै (२।१८४ = पकड़कर)।

कुछ रूपों में पूर्वकालिक क्रिया का एक साथ दो बार प्रयोग होता है। वर्तमान हिन्दी में पहन कर या पहने हुए इसी तरह के रूप कहे जा सकते हैं।

बल कर (२।०० = बल करके), भेले (३।९० = होकर), रहि रहि (२।२२३ = रह रह कर), ले ले (२।१७९ = ले कर)।

कुछ ऐसे भी रूप हैं जिनमें अ प्रत्यय लगा है —

सारिअ (४।४७), सुनिअ (३।३४ = सुनकर), सम्मद्द (२।१०६ = समर्दित करके)।

§७३—क्रियार्थक संज्ञा

१—अण < प्रा० अन के रूप जो 'ना' के रूप में दिखाई पड़ता है।

जीअना (२।३६ = जीना), देना (२।२०७), भोअना (२।३५),

वज्जन (४।२५५), वटुराना (२।२२५), वसन (२।६२), होणा २।५९

२—व या बा

कहवा (१।५४), विकाइवा (२।१०७), हेरब (४।१२६), पेल्लव (४।१२७),

३—ए—

गणए (४।१०७ = गणना), चलए (२।२३० = चलना), पीबए (३।९८ = पीना), हिण्डए (२।११३ = हीड़ना, घूमना)।

४—निहार—

बुज्झनिहार [२।१४]

§७४—सहायक क्रिया

कीर्तिलता में चार सहायक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है।

१—अच्छ—१—मंरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ (२।४२)
२—तहाँ अछए मन्ति (३।१३१)
३—अछै मन्ति विअक्खणा (३।१२९)

अछइ या अछए का विकास अपभ्रंश अच्छइ < अच्छति < अक्षति से संभव है।

२—अह—

खिसियाय खाण है (२।१८०)

संस्कृत अस् > अह की व्युत्पत्ति हुई है।

३—हो < भू

हुअउँ (३।४) हुअ (२।२) हो (२।१७२) भउँ (३।४९)

४—रह

रैयत भेले जीव रह (३।९०)
ताकी रहै तसु तीर लै (२।१८४)

§७५—संयुक्त क्रिया—

१—चाह (आरम्भ सूचक)

मागए चाह (२।१४७ = माँगना चाहती है)

चढ़ावए चाह घोर (२।२०५ = चढ़ाना चाहता है)

२—पार (सामर्थ्य सूचक)

सहहि न पारइ (३।२८)

गणए न पारीआ (२।११९)

३—पाव (प्राप्ति सूचक या सामर्थ्य सूचक)

किनइते पावथि (२।११४)

वसन पाओल (२।६६)

४—जा, ले, दे आदि के साथ भी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं जो सभी कार्य की पूर्णता द्योतित करते हैं।

जा (२।१३०) जाइ (२।१८२) जाइअ (२।६३)

खा ले भांग क गुण्डा (२।१७४)

मंचो बंधि न देइ (१।२)

सैच्चान खेदि खा (४।१३३)

५—लागु भी आरम्भ सूचक सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त होता है।

भैटि लागु (२।६८)

§७६—संयुक्त काल—

अवत्त हुअ (४।१०६)

खिखियाय खाण है (२।१८०)

देखि न हो भान (२।२१२)

बाकी उदाहरण सहायक क्रियाओं के प्रसंग में दिये गए है [§ ७४]

क्रिया-विशेषण अव्यय

§ ७७—कीर्तिलता में निम्नलिखित क्रिया विशेषण अव्यय मिलते हैं।

१—काल वाचक

अज्ज (३।१४ ∠ अद्य), इथ्थेन्तर (३।६५), एथ्थन्तर (३।४७), जबे (२।४), जबहीं (२।१८२), ततो (२।१५८), तबे (२।१४०), तबहीं (२।१३८), अवहिं (३।४४)।

२—स्थान वाचक

इअ (२।२२६ = इतः), इथ्थिथ (४।१२), उत्थि (२।२३४), उपर

(२।०५), ओर (२।५२), कहीं (२।१६०), जहाँ (३।६३), तहाँ (३।१३१), निअर (४।२२३), पटरे (२।२३०), पाछा (२।१७९ <पश्च), वगल (४।७९), वाजू (२।१६४), भीतर (२।८०), रहसें (१।३०) ।

३—रीति वाचक—

एम (४।२५३), एव (३।१०५), काञि (१।१), किमि (२।२), जञो (२।४७=ज्यों), झाटे (३।१४९<झटिति), न (२।१९), नहिं (२।४५), नहु (१।२८), णिच्चइ (१।१२), पइ (२।३४), फुर (३।१६२<स्फुट), विनु (३।१५०) ।

४—सदृश सूचक—

जनि (जनि २।१०४), जनु (२।१४१), सञो (२।४७), समाण (३।१४६) ।

५—विविध—

अरु (३।१८), वरु (२।५८), एवञ्च (४।१३६), तोवि (४।१६७< तोऽपि) ।

अवस (३।२८=अवश्य), कलु (३।११४<खलु), तौ (३।२३), अवि-अवि च (२।११०) ।

६—विस्मय सूचक

अहो (२।११०), अहह (३।११४) ।

§७८—रचनात्मक प्रत्यय

कीर्तिलता के रचनात्मक प्रत्ययों में अधिकांश अपना विकास प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्यभाषा के प्रत्ययों से द्योतित करते हैं। नीचे इन प्रत्ययों के उदाहरण और इनके विकास का क्रम उपस्थित किया जाता है।

१—अ<स्वार्थे क (संस्कृत)

गरुअ (३।१३७<गुरुक)

२—अण<म० अण<प्रा० अन ।

जोअना (२।३६), होणा (२।५९), देना (२।२०९), भोअना (२।३५)

३—अनिहार <म० अणिअ <सं० अनिका + हार <धार

बुज्झनिहार (२।१४), भंजनिहार (४।१५८)

४—अब <म० इ अब्ब <प्रा० इतव्य – भविष्यत् क्रियार्थक संज्ञा

कहवा (१।५४), विकइ बा (२।१०७), हेरब (४।१२६), पेल्लव (४।१२७),

५—आर <कार:

वणिजार (२।११३ <वाणिज्यकार) गमार (२।१५१ <ग्रामकार)

६—आरि <कारिक

भिक्खारि (१।१४ <भिक्षाकारिक) पियारिओ (२।१२० <प्रियकारिका)

७—आण—करने वाला,

कोहाण (४।२२२) खोहण (४।२२ <क्षोभ + आण) सरोसान (४।२०५ = स + रोष + आण) निद्राण (२।२९)

८—ई <इका

कहाणी (१।३६ <कथानिका) अटारी २।९७ <अट्टालिका)

९—ड़ <स्वार्थे ट (क)

थोल ∠ थोड़ा (३।८७ <स्तोक + ड़)

१०—मन्त <वन्त

गुणमन्ता (२।१३० <गुणवन्त)

११—पण भाववाचक

वड्डिपन (१।५४) कैरिपण (२।२)

१२—ई भाववाचक

बड़ाई (३।१३८) दोहाए (३।९६ = दोहाई)

१३—दार (फारसी)

दोक्काणदारा (२।१६३)

१४—तण(अपभ्रंश, भाववाचक)

वीरत्तण (३।३३) जम्मत्तणेन १।३२ = जन्मत्त्वेण)

१५—वा <स्वार्थे क–मैथिली का अपना प्रत्यय है।

पउवा (३।१६१ <प्रभुवा) प्रिउवा (४।१०३ <प्रिय वा)

§ ७९ समास

कीर्तिलता के गद्य में पाये जाने वाले प्रायः अधिकांश समासों का रूप संस्कृत जैसा ही है। गद्य में लेखक ने संस्कृत गद्य का पूर्ण रूप से अनुसरण करना चाहा है। ऐसे स्थलों पर तीन तीन पंक्तियों तक के समास मिलते हैं।

प्रबलशत्रु वलसंघट्टसंम्मिलन सम्मर्दसंजातपादाघाततरलतरतुरंगरखुरक्षुन्न वसुन्धराधूलि संभारघनान्धकार श्यामसमरनिशाभिसारिका प्राय जयलक्ष्मी करग्रहण करेओ। (३।८०)

गद्यों के अलावा, पद्यों में भी समस्तपद मिलते हैं। इनमें कुछ तो तत्सम प्रभावित हैं। कुछ मध्यकालीन समासों की तरह प्राचीन नियमों से थोड़े स्वतन्त्र दिखायी पड़ते हैं। नीचे थोड़े से उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं —

अत्थिजन (१।५२) अतुलतर विक्रम (१।१८) अष्टधातु (२।१००) उप्पन्न-मति (१।५५) उरिधान (२।२०६) कुसुमाउँह (१।५७ <कुसुमायुध) केदार-दान (१।५८) कौसीस (२।५८ कपिशीर्ष) चारुकला (४।२३०) जलंजलि (३।२६) ढलवाइक (४।७१) तम्वारू (२।१९८) तक्कक्कस (१।४६ < तर्क कर्कश) महुमास (२।५) निमाजगह (२।२३९) पक्वानहटा (२।१३०) पञ्चशर (२।१४५) पनहटा (२।१०३) परउँअआरे (२।३९) परयुत्थे (४।१६७) पाणिग्गह (३।१२५) पुच्छ विहूना (१।३५) विषट्टवट्ट (२।८४) विसहर (१।६) वैरुद्धार (२।२१) रज्जलुद्ध (२।६) शाखानगर (२।९६) सोनहटा (२।१०२) हुआसन (१।५१)

§ ८० वाक्य विन्यास (Syntax)

कीर्तिलता में हमने अब तक पदों के विवेचन के सिलसिले में महत्त्वपूर्ण प्रयोगों पर विचार किया। पूरे वाक्य की गठन की दृष्टि से, पदों के पारस्परिक प्रयोग और सम्बन्ध तथा क्रम की दृष्टि से भी इसकी भाषा विशेष विचार की वस्तु है।

वाक्यों की गठन (गद्य में) प्राय: वैसी ही है जैसी वर्तमान हिन्दी की होती है। यानी कारक (संज्ञा, सर्वनाम) फिर कर्म और अन्त में क्रिया।

दोसरी अमरावती क अवतार भा (२।९९)
मानो दूसरी अमरावती का अवतार हुआ
आनक तिलक आनकाँ लाग (२।१०८)
दूसरे का तिलक दूसरे को लग जाता
मर्यादा छाँडि महार्णव ऊठ (२।१०५)
मर्यादा छोड़ कर महार्णव उठ पड़ा।
ठाकुर ठक भए गेल (२।१०)
ठाकुर ठग हो गए
राजपथ के सन्निधान सँचरन्ते अनेक देषिअ वेश्यन्हि करो निवास

जन्हि के निर्माणे विश्वकर्महु भेल बड़ प्रयास

जहाँ इस तरह के लम्बे वाक्य हैं वहाँ अवश्य ही अन्तर्तुकान्त देने की प्रवृत्ति के कारण इस क्रम में थोड़ा अन्तर आ जाता है।

२—वाक्य गठन की दूसरी विशेषता है—संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग। क्रियाओं वाले भाग में इस पर विचार किया गया है और उदाहरण भी दिए गये हैं। इनमें कहीं कहीं प्रयोग बिल्कुल वर्तमान भाषा के ढंग के होते हैं। [देखिए § ७५-७६]

३—कीर्तिलता में कुछ प्रयोग ऐसे हैं जो ठेठ जन-प्रयोग हैं, ऐसे स्थलों पर भाषा बड़ी ही पैनी और वाक्य छोटे-छोटे तथा अर्थपूर्ण होते हैं।

(१) **भाहु भैरसु क सोझ जाहि** ४।२४७—बहू (अनुज वधू) भसुर के सोझ जाती है। 'सोझ (सामने) का प्रयोग खड़ी बोली में नहीं होता किन्तु पूर्वी भाषाओंमें यह अब भी चलता है।

(२) **काहु होत अइसनो आस, कइसे लागत आँचर बतास** (२।१४९)

(३) **रैयत मेले जीव रह**—प्रजा होने पर ही जीव रहता है। रहता है प्रयोग खड़ी बोली में बचना अर्थ में बहुत प्रचलित नहीं है।

(४) **गेंट्ठि परि अउँ** ३।३५=गाँठ पड़ गई।
वाक्यों को तोड़ तोड़ कर कहने का सुन्दर ढंग है।

(५) **गिरि टरइ, महि पडइ, नाग मन कंपिआ** (३।६९)

(६) **चन्दन क मूल्य इन्धन विका** (३।१००)

§८१ शब्दकोष

रासो को छोड़ कर इस काल की किसी अन्य पुस्तक में शायद ही कीर्तिलता से ज्यादा बहुरंगी शब्द दिखाई पड़ें। कीर्तिलता में सब चार प्रकार के शब्द मिलते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के कारण तत्कालीन साहित्य में तत्सम का प्रचार होने लगा, कीर्तिलता के लेखक तो स्वयं भी संस्कृत भाषा के अच्छे पंडित और कवि थे, अतः यहाँ तत्सम शब्दों का प्रवेश अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है। दूसरे प्रकार के शब्द तद्भव हैं जो इतने विकसित रूप में दिखाई पड़ते हैं कि उनका विकास-क्रम निश्चित कर सकना कठिन होता है।

ओका २।१२६ <अपरक। जूठ २।१८८ <उच्छिष्ट, सोअर ४।४५ <सहोदर, कौडि ३।१०१ <कपर्दिका। कौसीस २।९० <कपिशीर्ष।

तद्भव शब्दों के विकास का यह रूप लेखक द्वारा जीवंत भाषा के ग्रहण की प्रवृत्ति का द्योतक है। आगे शब्द सूची में इस प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति दे दी गई है। कुछ शब्दों का प्रयोग तो अब प्रचलित भी नहीं रहा। थप्प थप्प थनवार ४।२८ < स्थानपालः। कीर्तिलता के इस शब्द का प्रायः गलत अर्थ लगाया जाता था। इसका अर्थ टाप की आवाज नहीं, साईस है।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण में तथा वर्णरत्नाकर में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। घोड थणवाला न्हात उतेड (उक्ति ३८।२२) घोटक स्थानपालः स्नातु-उत्तेडयति। थलवारन्हि घोल उपनीत करुअह (वर्णरत्नाकर ४५ क)

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जो विदेशी कहे जा सकते हैं। ऐसे शब्दों को कीर्तिलता में प्रायः तोड़-मोड़ कर रखा गया है; और उन्हें सहसा पहचान लेना कठिन है। शब्द सूची में ये शब्द दिए हुए हैं। यहाँ इनमें से कुछ खास दिए जाते हैं।

कुरुवक ३।४३ < कोरबेग मुसलमानी सेना में अस्त्र-शस्त्र का अधिकारी (आइने-अकबरी पृष्ठ सं० ७ का पाँचवा नोट, सम्पादक, रामलाल पाण्डेय) देखने में यह शब्द बिल्कुल भारतीय बन गया है, इसी से अर्थकारों ने तरह-तरह के अटकल लगाए हैं। इस तरह के और भी शब्द हैं जो इतने भ्रष्ट हो गए है कि उनका अर्थ नहीं लग पाता।

नीचे इस प्रकार के कुछ प्रमुख फारसी-अरबी शब्द अर्थ सहित दिये जा रहे हैं। इन शब्दों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि विद्यापति ने कितनी सूक्ष्मता से अवहट्ट में स्वीकृत विदेशी शब्दों को समझा और उनका यथोचित प्रयोग किया।

अदप = अदब, ३।४३
अरदगर = कूच का अधिकारी, ३।४२
ऊँमारा = उमरा, ३।३८
उज्जीर = वजीर, ३।७
एकचोई = एकचोबी तम्बू, ४।१२२
कलामें जिअन्ता = कुरान का पाठ करने वाला, २।१७१
कुरुवक (तुर्की कूरवेग) = शस्त्रास्त्र का अधिकारी, ३।४३
कूजा (फा० कूज़ः) = सुराही, २।१६२
खत = परवाना, ४।९
षराब = नष्ट, खराब, २।१७८
खाण = खान, २।१८०
षास दरबार = दरबार खास, २।२३२

कलीमा = कलमा, २।११
कसीदा = कविता, २।१७२
कादी = काज़ी, ४।९
षोआरगह (फा० = भोजन) का स्थान, २।२३९
षोजा = ख्वाजा, २।१६९, २।१९६, ४।७
खोदवरद (फा० खुदावुर्द) = कहाँ चलना है, ४।८
खोदालम्ब = संसार के अधिपति, अर्थात् बादशाह, ३।११
षोरमगह (फा० खुर्रमगाह) = सुख-मन्दिर, २।२३९
गद्दवर = प्रधान सेनापति, ३।४३
गरुअ मलिक = बड़े मालिक, बादशाह, ४।१५८
गालिम (अर० गिलमान) = नौजवान छोकरे, २।२१९
गुण्डा (फा० गुन्द:) = गोला, २।१७४
गोमठ = गूमठ, मकबरा, २।२०८
तकत = तख्त, ४।१४०
तकतान (फा० तख्तेरवां) = यात्रा का सिंहासन, ३।६६
तजान (फा० ताजियाना) = चाबुक, ४।३९
तथ्थ = तश्तरी, २।१६२
तवेल्ला = कूँड़ा, २।१६२
ताजी = एक अरबी घोड़ा, ४।६४
तुरुकाणाओ = तुर्कमानों के, २।१५७
तेजि = घोड़ों की एक जाति, ४।२९, ४।४१
षीसा = बटुआ, २।१६८
षुन्दकार (फा० खुन्दकार) = काज़ी, ४।७५
दवाल (फा० दुआल) = चमकती तलवार, २।२३८
दरसदर (फा०) = राजकुल का मुख्य द्वार, २।२३९
दहलेज = शाही महल की ड्योढ़ी, ४।११
दारिगह (फा० दरगाह) = शाही महल के सामने का मैदान, २।२३९
दिरम = रुपया-पैसा, २।१७८
देमान (फा० दीवान) = वजीर, ३।४४
द्वोआ (अर० दुआ), २।१८९
नेवाल = ग्रास, २।१८२
पइज्जल्ल (फा० पैजार) = जूते, २।१६८
पएदा = प्याद, २।१७९
पाइग्गह (पायगाह) = शाही घुड़-सवार, ४।२९
पापोस (फा० पायपोश) = जूता, ३।१६
फरमाण = शाही हुक्म, ३।१५९, ४।१४४
वजारी = बाजार, २।१५८
वल्लीअ = वली, २।१६९
वाँग = अजान, मुअज्जिन की पुकार, अजान, २।१९४
वाजू = तरफ, २।१६४
वारिग्गह (फा० बारगाह) = दरबारी शामियाना, ४।१२४
वेलक = एक प्रकार का बाण, ४।८०

वेलक्के = एक प्रकार का वाण, ४।१८०

मषडम = मखदूम, ४।९

मषदूम = मुसलमान धर्मगुरु, २।१९०

मगानी (फा० मकानी) = ऊँचे पद-वाला, ४।१५९

मगोल = मुगल, ४।७२

मतरुफ = तारीफ का गाना, प्रशंसा-गान, २।१८६

मुलुक्का = मलिक, सरदार, २।२१७

लामे = (अर० लहमा) = क्षण-भर, २।२२३

सइअद गारे = सैयद निवास, २।२२०

सरइचा (अर० शिराअचः) विशेष प्रकार का तम्बू, ४।१२३

सरमाणा (फा० शरवान) = शाही शामियाना, ४।१२३

सरमी = शरमदार, ४।१७३

सालण = मांस या तरकारी, २।१८१

सुरताण = सुलतान, ३।१६०

सेरणी (फा० शीरीनी) = मिठाई, प्रसाद, २।१८८

हसम (अर० हश्म) = पदसेना, पैदल फ़ौज, ४।१५६

द्वितीय खण्ड

विद्यापति विरचित

कीर्तिलता

पाठशोध, विभिन्न प्रतियाँ, विद्यापति का समय, साहित्यिक मूल्यांकन, वस्तुवर्णन, विस्तृत व्याख्या, और बृहद् शब्दसूची के साथ

कीर्तिलता का मूल-पाठ और प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएँ

•

भाषा और साहित्य, दोनों ही के अध्ययन की दृष्टि से कीर्तिलता का महत्त्व निर्विवाद है; किन्तु अभाग्यवश इस प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना का कोई प्रामाणिक संस्करण दिखाई नहीं पड़ता। कीर्तिलता का पहला संस्करण बंगीय सन् १३३१ (ईस्वी १९२४) में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादकत्व में हृषीकेश सीरीज़ के अन्तर्गत कलकत्ता ओरियण्टल प्रेस से प्रकाशित हुआ। ईस्वी सन् १९२२ में शास्त्री जी नेपाल गए और वहाँ से वे कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। उक्त प्रति के विषय में शास्त्री जी ने लिखा है कि उसे जय जगज्ज्योतिर्मल्लदेव महाराजाधिराज की आज्ञा से दैवज्ञनारायण सिंह ने नैपाल में बसे हुए किसी मैथिल पंडित की प्रति से नकल किया था। नैपाल दर्बार की प्रति नेवारी लिपि में है, और उसी के आधार पर शास्त्री जी ने वंगाक्षरोंमें कीर्तिलता प्रकाशित की। इस संस्करण में शास्त्री जी ने कीर्तिलता का बंग-भाषान्तर और अँग्रेजी-अनुवाद भी प्रस्तुत किया। कीर्तिलता की भाषा अति प्राचीन है और उसमें तत्कालीन लोक प्रचलित शब्दों का भी बाहुल्य दिखाई पड़ता है, ऐसी अवस्था में ठीक-ठीक अर्थ कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य था; फिर भी शास्त्री जी ने बड़े परिश्रम के साथ यथासंभव सही अर्थ देने की कोशिश की, वे पूर्णतः सफल नहीं हो सके यह और बात है।

कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण श्री बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में ईस्वीय सन् १९२९ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। यह संस्करण शास्त्री के बंगीय संस्करण के बाद प्रकाशित हुआ और इस संस्करण के लिए सक्सेना जी के पास शास्त्री जी की अपेक्षा सामग्री भी अधिक थी; किन्तु आभाग्यवश यह संस्करण बंगला संस्करण से अच्छा और कम त्रुटि-पूर्ण नहीं हो सका।

हिन्दी संस्करण को तैयार करने में सक्सेना जी ने तीन प्रतियों का सहारा लिया है। 'क' प्रति जिसे महामहोपाध्य पं० गंगानाथ झा ने इस संस्करण के लिए नैपाल दर्बार की प्रति से नकल कराकर मँगाई थी। 'ख' प्रति जिसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पं० महादेव प्रसाद चतुर्वेदीसे अपने किसी कर्मचारी

के द्वारा प्राप्त किया था। तीसरी प्रति या प्रत्यन्तर शास्त्री जी का बँगला संस्करण है।

ऊपर जिस 'क' प्रति का जिक्र किया गया वह वही प्रति है जिसकी नक़ल कराकर शास्त्री जी नैपाल दर्बार से ले आए थे। इन दोनों प्रतियों में कोई महत्त्व-पूर्ण अन्तर नहीं दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं कुछ शब्दों में परिवर्तन अवश्य हुआ है जिसे लिपिकारों का दोष कह सकते हैं।

सक्सेना जी ने जिस 'ख' प्रति की चर्चा की है, अब वह प्राप्त नहीं है इसलिए उसके स्वरूप का निर्धारण हिन्दी संस्करण की पाद-टिप्पणियों में उक्त प्रति के उदाहरणों से ही किया जा सकता है 'ख' प्रति के उदाहरणों से दो बातों का अनुमान होता है पहला तो यह कि वह प्रति काफी परवर्ती है, क्योंकि इस प्रति में भाषा के रूप परवर्ती हैं। उदाहरण के लिए 'हरिज्जइ' के लिए 'हरिज्जै', 'पालइ' के लिए 'पालै', 'गुण्णइ' के लिए 'गुणै' आदि रूप मिलते हैं। भाषा को आसान बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। दूसरी बात यह है कि लिपिकार प्रवीण नहीं प्रतीत होता इसलिए बहुत कुछ निरर्थक और अस्पष्ट पाठ दिखाई देता है। लिपिकार अमैथिल तो है ही क्योंकि भाषा पर मैथिली की नहीं पूर्वी हिन्दी का प्रभाव ज्यादा स्पष्ट है। फिर भी यह प्रति कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'क' और शास्त्री दोनों ही प्रतियों के अस्पष्ट स्थानों को इस प्रति के सहारे ठीक करने में सहायता मिलती है।

प्रस्तुत संस्करण में इन सभी प्रतियों की सहायता ली गई है।

छन्दों की दृष्टि से पाठ-शोध

बँगला और हिन्दी के दोनों ही संस्करणों की सबसे बड़ी त्रुटि है मूलपाठ का छन्दों की दृष्टि से अनुचित निर्धारण। मूल प्रति जो नैपाल दर्बार में सुरक्षित है वह २६ पन्नों में है और ९ इंच लम्बे और ४½ इंच चौड़े इन पृष्ठों पर सात-सात पंक्तियाँ हैं। नकल करने वाले ने जैसा का तैसा कर दिया; किन्तु सम्पादकों ने इस गद्य-पद्य उभय प्रकारों में लिखी पुस्तक के सम्पादन के समय यह ध्यान नहीं दिया कि कौन हिस्सा गद्य है और कौन पद्य। छन्दों की दृष्टि से मध्यकालीन रचनाओं का सम्पादन थोड़ा दुस्तर भी है क्योंकि बहुतेरे छन्द जो उस कालमें बहुप्रचलित थे, अब नहीं प्रयुक्त होते। दूसरी ओर गद्य भी अन्तर्तुकान्त होते हैं जिनमें पद्य का आभास होता है।

डा० सक्सेनाके हिन्दी संस्करण में इस तरह के बहुत से गद्य दिखाई पड़ते है जो वस्तुतः पद्य हैं। सक्सेना जी के संस्करण से एक उदाहरण दिया जाता है —

कित्तिलुद्ध सूर संगाम धम्म पराअण हिअअ
विपअ कम्म नहु दीन जम्पइ, सहज भाव सनान्द सुअण
भुंजइ जासु सम्पइ। रहसें दव्व दए विस्सरइ सत्तु
सरुअ सरीर।
एत्ते लक्खण लक्खिअइ पुरुष पसंसओं वीर

(हिन्दी संस्करण, पृ० ६)

इस प्रकार के गद्य खण्ड प्रति पृष्ठ पर मिलेंगे। विशेषतः तीसरे पल्लव में। शास्त्री जी ने इस तरह के अंशों को पद्य-बद्ध ही दिया है; किन्तु उनमें चरणों का का कोई निर्धारण नहीं दिखाई पड़ता। जैसे ऊपर का उद्धृत अंश शास्त्री के प्रति में इस प्रकार है —

कित्तिलुद्ध सूर संगाम धम्मपराअण हियय विपअकम्म नहु दीन जम्पइ
सहज भाव सानन्द सुअन भुंजइ जासु सम्पइ
रहसें दव्व दए विस्सरइ सत्तु सरुअ सरीर
एत्ते लक्खण लक्खिअइ पुरुष पसंसओ वीर

(बंगला संस्करण, पृष्ठ ३)

इसी प्रकार का एक अंश और देखिए; जिसमें शास्त्री जी को काफी गड़बड़ी हुई है —

जइ साहसहु न सिद्धि हो झंख करिव्वउं काह, होणा
होसइ एक्क पइ वीर पुरिस उच्छाह। ओहु राओ त्रिअभ्खन
तुम्ह गुणवन्त, ओह सधम्म तोंहें शुद्ध, ओहु सदय तोंहें रज्ज
खण्डिअ, ओ जिगीसु तोंहें सूर ओहु राज तोंहें रज्ज खंडिअ
पुहवी पति सुरतान ओ तुम्हें राजकुमार
एक चित्त जइ सेविअइ धुअ होसइ परकार (वही पृष्ठ, २२)

जाहिर है कि शास्त्री ने यहाँ एक दोहा और एक तथाकथित गद्य खण्ड (१) एक में मिला दिया है। ऊपर दोहा है और नीचे भी दोहा; किन्तु बीच में गद्य मालूम होता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि यह तीन चरणों तथा एक दोहे का एक विचित्र छन्द है जो अपभ्रंश में बहुत परिचित रहा है। यह छन्द है रड्डा। रड्डा छन्द का लक्षण इस प्रकार है :

पढम विरइ मत्त दह पंच
पअ वीअ वारह ठवउ, तीअ ठाँव दह पंच जाणहु

चारिम एग्गारहिं, पँचमेहि दहपंच माणहु
अट्ठा सट्ठा पूरवहु अग्गे दोहा देहु
राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्ड भणिज्जइ एहु

प्राकृत पैंगलम्, पृष्ठ २२८

प्रति चरण में मात्राओं का क्रम यह है १५ + १२ + १५ + ११ + १५ + दोहा। प्रति चरण की मात्राओं में कुछ कमी-वेशी होने पर इस रड्डा के सात भेद हो जाते हैं।

१—१३ + ११ + १३ + ११ + १३ = करभी
२—१४ + ११ + १४ + ११ + १४ = नन्दा
३—१९ + ११ + १९ + ११ + १९ = मोहिन्दी
४—१५ + ११ + १५ + ११ + १५ = चारुसेनी
५—१५ + १२ + १६ + १२ + १६ = भद्रा
६—१५ + १२ + १५ + ११ + १५ = राजसेनी
७—१६ + १२ + १६ + ११ + १७ = तालंकिनी

कीर्तिलता में राजसेनी रड्डा ही प्रायः मिलता है। ऊपर रड्डा के लक्षण में जिस क्रम से चरणों को रखा गया है उसी क्रम से कीर्तिलता के ये गद्य खण्ड रड्डा छन्द में इस संस्करण में उपस्थित किये गए हैं।

गद्य और पद्य के इस निपटारे में एक गुर और बहुत सहायक हुआ है। कीर्तिलता में जहाँ कहीं भी शुद्ध गद्य है उसमें तत्सम संस्कृत पदावली का प्रचुर प्रयोग दिखाई पड़ता है, जहाँ इस तरह के प्रयोग दिखाई पड़े आप आँख मूँद कर उसे गद्य कह सकते हैं, बाकी चाहे गद्यवत लिखा हो, वह निःसन्देह पद्य है। इस दृष्टि से मुझे आवश्यक जान पड़ा कि मैं कीर्तिलता के इस संस्करण में जहाँ जो छन्द हो उसे दे दूँ, गद्य को गद्य कह दूँ और बाकी भाग को छन्द के नाम के साथ उपस्थित करूँ। इस प्रकार कीर्तिलता में निम्नलिखित छन्द मिलते हैं।

दोहा, रड्डा, गाथा, छपद, वाली, (मणवहला) गीतिका, भुजंगप्रयात, पद्मावती, निशिपाल, पज्झटिका, मधुभार, णाराज, अरिल्ल, पुमानरी, रोला, विदुर्म्माला, आदि।

इस प्रसंग में मैं इस पाठ के एक-दो विशेष स्थलों का जिक्र कर देना चाहता हूँ। तीसरे पल्लव में पंक्ति १९ से २८ तक के छन्द पर विचार कीजिए। इन पंक्तियों को देखने से मालूम होगा कि इसमें दो रड्डा छन्द टूट कर मिल गए हैं। प्रसंग और अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर लगेगा कि २२ से पचीस तक

का रड्डा छन्द पूर्ण और त्रुटि-हीन है। पहले रड्डे का दोहा टूट कर नीचे (पंक्ति २७-२८) चला गया है। इस पल्लव में आरंभ से रड्डा छन्द शुरू होते हैं और दो रड्डा छन्दों के बीच में कोई दोहा अलग से नहीं दिया गया है, इस प्रसंग में यह दोहा फालतू लगता है, जो वस्तुतः ऊपर के रड्डे का भाग है।

इसी पल्लव में पंक्ति ८३-८४ पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि ये पंक्तियाँ प्रसंगहीन और छन्द की दृष्टि से अनावश्यक हैं, न तो ये ऊपर के निशिपाल छन्द में बैठती है न नीचे के छपद में। 'ख' प्रति में है ही नहीं।

छन्दों की दृष्टि से इस प्रकार व्यवस्था करने पर इस संस्करण में काफी सफाई मालूम होगी साथ ही प्रथम संस्करणों की भूलों का भी परिहार हो सका है। रड्डा छन्द के अलावा और भी कई छन्दों में पहले के संस्करणों में भ्रान्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

हिन्दी संस्करण में पृ० ३० पर (नागरी प्रचारिणी, १९२९)

> **वहुले भाँति वणिजार हाट हिण्डए जवे आवथि**
> **खने एक सवे विक्कणथि सवे किछु किनइते पावथि**

गद्य के नीचे की दो पंक्तियाँ हैं जो वस्तुतः दूसरे पृष्ठ के छपद का प्रथम रोला है। इसी संस्करण में पृष्ठ २२ पर पंक्ति आती है :

> **जन्मभूमि को मोह छोड्डिअ, धनि छोड्डिअ**

और नीचे दोहा आता है जो 'धनि छोड्डिअ' से शुरू होता है। ऊपर की पंक्ति का 'धनि छोड्डिअ' शायद सम्पादक ने गद्य की अन्तर्तुकान्त की प्रवृत्ति मानकर ठीक समझा किन्तु यह पूरा छन्द रड्डा है और इसमें मोह छोड्डिअ तक पाँचवा चरण पूरा हो जाता है और इसके बाद दोहा होना चाहिए। इस तरह 'धनि छोड्डिअ' की आवृत्ति निराधार प्रतीत होती है और कवि का दोष बन जाती है।

भाषा और अर्थ की दृष्टि से पाठ-शोध

कीर्तिलता की जो दो-तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें बहुत बड़ा पाठान्तर दिखाई पड़ता है। इनमें एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती। अतः कौन सा पाठ सही है कौन गलत इसका निर्णय करना कठिन है। फिर भी कुछ अंश तक अर्थ की दृष्टि से विचार करके तथा भाषा के रूप को देखते हुए कुछ सुझाव रखे जा सकते हैं। अर्थ निकालने के लिए शब्दों को बदलना अनुचित है किन्तु किसी प्रति के आधार पर कुछ अच्छा अर्थ निकलता हो तो प्रतियों में सामंजस्य स्थापित

कर लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से इस संस्करण में जिस पाठ को सही माना गया है उसके पीछे भाषा या अर्थ का कारण अवश्य रहा है। उदाहरण के लिए प्रथम पल्लव के आरंभ में संस्कृत ५वें श्लोक में 'श्रोतुर्दातुर्वदान्यस्य' शब्द आया है (हिन्दी संस्करण, नागरी० प्र० ४) किन्तु 'वदान्य' के साथ दातुः का कोई अर्थ नहीं बैठता, कीर्तिसिंह सुनने वाले, दान देने वाले और वदान्य हैं, यहाँ अन्तिम दो गुण वस्तुतः एक हो हो जाते हैं। मूलपाठ है ज्ञातुः। शास्त्री की प्रति में ज्ञातुः ही है। सुनने वाले, जानने वाले और वदान्य। कीर्तिलता की नीचे की पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है :—

सक्कय वाणी बुहजन भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ (१९-२०)

सक्सेना जी के संस्करण में बहुजन दिया हुआ है। यहाँ लेखक 'देसिल वयन' के तारतम्य में संस्कृत और प्राकृत को कुछ कम कहना चाहता है। प्राकृत में रस का मर्म नहीं और संस्कृत को बहुत से लोग समझते हैं, यह तो कोई कहना नहीं हुआ। अर्थ है कि संस्कृत को केवल बुधजन (सीमित लोग) समझते हैं, 'बुहअन' पाठ शास्त्री में दिया हुआ है। "जहाँ जाइअ जेहे गाञो, भोगाइ राजा क वड्डि नाञो" शास्त्री ने 'कवड्डिनाञो' कर के अर्थ किया है कि कौड़ी भी नहीं लगती। यहाँ सक्सेना जी का अर्थ ठीक है—राजाक वड्डि नाञो—राजा का बड़ा नाम था।

दूसरे पल्लव के (१७४—१७९) इस छपद में 'ततत कता वा दरस' पाठ आता है। किन्तु 'ख' प्रति का जो पाठ है उसमें 'तत कइत खा वादि रम' आता है जिसका कोई अर्थ नहीं किन्तु इसमें एक शब्द ज्यादा है 'खा' जो पहले पाठ में छूट गया है जिससे अर्थ नहीं निकलता। अब वह 'ततत कवावा खा दरम' हो गया जिसका अर्थ भी हो गया और छन्द की मात्राएँ भी ठीक हो गईं —

कई स्थानों में तो केवल अर्थ ठीक न कर सकने के कारण भयंकर गलतियाँ हो गई हैं।

तुरुक तोषारहिं चलल हाटभमि हेडा मंगइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढ़ी थुकवाहइ
(नागरी प्र० पृष्ठ ४०)

अर्थ किया गया है :

तुरुक तोषार को ? चला तो बाजार में घूम-घूमकर देख देख कर (?)

(?) माँगता है आड़ी नज़र से देखकर दौड़कर दाढ़ी में थुकवाता है। इतना मूर्ख तो तुर्क क्या होगा ?

वस्तुतः ऊपरी पंक्ति में 'हेडा चाहइ'। निचली पंक्ति में थुक + वाहइ अलग अलग हैं। तुक भी ठीक है। अर्थ है कि तुर्क घोड़े से चलता है और टैक्स माँगता है। और जब क्रुद्ध होकर, तिरछी दृष्टि से देखते हुए दौड़ता है तो दाढ़ी से थूक बहता है।

देमान अवदगरु गद्दवर कुरुवक बइसल अदप कइ

जनि अवहिँ सवहिँ दहु धाए के पकलि दे असलाण गइ (३।४४-४५)

इसमें ऊपर की पंक्ति कुछ अस्पष्ट है। सक्सेना जी ने इसका अर्थ नहीं किया; किन्तु शास्त्री जी ने अर्थ किया :

"सकले दर्य करिआ वसिल, माथापागला, दागाबाज, असन्तुष्ट विद्रोहकांक्षी" (बंगाली अनुवाद, पृ० २४)

देमान का शास्त्री ने दीवाना, अवदगल का दगावाज और गद्दवर का असन्तुष्ट विद्रोहकांक्षी अर्थ किया। किन्तु यह पंक्ति कुछ अस्पष्ट है। सुल्तान ने जब क्रोध करके असलान को पकड़ने की आज्ञा दी तब,

दीवान (मंत्री) अवदगल, गद्दवर, और कोरवेग (अस्त्र-शस्त्र का अधिकारी) सब अदब से खड़े होकर बैठे। लगता था जैसे अभी दौड़कर असलान को पकड़ देंगे।

आइने-अकबरी में अधिकारी वर्ग का विवरण खोजने पर कोरवेग शब्द मिला जो 'कुरुवक' के रूप में दिखाई पड़ता है, अदल का अर्थ सजा देने वाला होता है किन्तु गद्दवर क्या है मालूम न हो सका। इसलिए पाठ में इन शब्दों पर सन्देह का चिह्न लगा दिया गया है।

चौथे पल्लव में

थप्प थप्प थनवार कइ सुनि रोमंचिअ अंग (पंक्ति २८)

थन + वार अलग अलग नहीं है और न इसका अर्थ सूम की थप-थप आवाज है, थनवार एक शब्द है और इसका अर्थ साईस है (स्थानपाल)।

घोड़ो के प्रसंग में 'कटक चांगुरे चांगु' आता है (पंक्ति ४।४५) यह अंश प्रक्षिप्त है। इसका यहाँ कोई सन्दर्भ नहीं। शास्त्री की प्रति में यह है भी नहीं।

(४।११९) पंक्ति में क० शा० में 'भूलल भुलहिं गुलामा' आता है। 'ख' का पाठ ज्यादा ठीक मालूम होता है—भूखल भवहिँ गुलामा, भूख से व्याकुल

गुलाम इधर-उधर घूमते हैं । १४० वीं पंक्ति के आगे 'बाट सन्तरि तिरहुति पइठ, तकत चह्लि सुरतान वइठ । ऊपर के गद्य का अंश है कोई पद्य नहीं, जैसा सक्सेना जी की प्रति में दिखाई पड़ता है ।

पंक्ति १५७—५८ में रोला छन्द है

पैरि तुरंगम गण्डक का पाणी
पर बल भंजन गरुअ महमद मदगामी
(सक्सेना संस्करण, पृ० १००)

ऊपर के रोले को देखने से स्पष्ट लगता है कि ऊपर की पंक्ति में ६ मात्राएँ कम हैं ख प्रति में पंक्ति है 'पवरि तुरंगम भेलि गण्डक के पाणी' इसमें भी तीन मात्राएँ कम हैं, फिर भी 'भेलि' शब्द अधिक है—भेलि के बाद शायद 'पार' रहा होगा जो छूट गया है । शास्त्री की प्रति में भी यह पंक्ति 'क' जैसी ही है ।

पैरि तुरंगम भेलि पार गण्डक का पाणी
पर वल भंजनिहार मलिक महमद्द गुमानी

नीचे की पंक्ति भी 'ख' में आती है जो शास्त्री और 'क' प्रतियों की ऊपर लिखित पंक्ति की अपेक्षा ठीक मालूम होती है । एक तो इसमें इब्राहिम का सूचक 'मलिक' शब्द आ जाता है दूसरे तुक भी ठीक बैठता है ।

इस प्रकार संस्करण में अर्थ और भाषा की दृष्टि से पाठ शोध का प्रयत्न किया गया है, ऊपर दिये गये उदाहरणों के अलावा और भी बीसियों स्थानों पर पाठ-निर्धारण का प्रयत्न दिखाई पड़ेगा ।

इस संस्करण की सबसे बड़ी विशेषता हिन्दी अनुवाद की है । यह नहीं, कहा जा सकता कि यह अनुवाद एकदम सही ही है; पर अपभ्रंश, अवहट्ट की रचनाओं आइने-अकबरी तथा फारसी कोशों की मदद से यथासम्भव ठीक अर्थ निकालने का प्रयत्न अवश्य हुआ है । साथ ही कीर्तिलता में प्रयुक्त शब्दों की एक वृहद् शब्दसूची भी दे दी गई है । जो भाषाशास्त्र के अध्येताओं तथा कीर्तिलताके सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी ।

●

कीर्तिलता : पाठ और अर्थ की समस्याएँ

•

कीर्त्तिलता मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का नख-दर्पण है। मुसलमानों के आक्रमण और उनके भारतीय संस्कृति में सम्मिलन से उत्पन्न परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर विद्यापति ने, जिन्हें गलती से लोग मात्र रोमाण्टिक गीतकार कहकर संतुष्ट हो जाना चाहते हैं, एक अद्भुत तथ्यात्मक ऐतिहासिक कथा-काव्य की सृष्टि की। कीर्तिलता उस काल के सभी काव्यों से विशिष्ट इसलिए है कि इसमें कवि की सत्यान्वेषिणी प्रतिभा ने, अत्यन्त सीमित आयाम में भी, तत्कालीन समाज को पूर्णत: प्रतिफलित करने का सफल प्रयत्न किया। कीर्तिलता का सही अर्थ, इसी कारण, केवल साहित्य का विषय न होकर पुरातत्त्व, इतिहास, वास्तु-शिल्प, समाजशास्त्र आदि अनेक विद्या-विभागों का विषय हो गया है। कवि विद्यापति की प्रतिभा ने सिर्फ परम्परा को ही आत्मसात् नहीं किया; बल्कि अपने समय की विदेशी संस्कृतिके सभी पहलुओं को समझने की भी कोशिश की। कीर्तिलता में एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति के तत्त्वों का आकलन है, वहीं मुसलमानी संस्कृति और सभ्यता के अपरिचित लगनेवाले पक्षों को समझने की अद्भुत जिज्ञासा भी वर्त्तमान है। कीर्त्तिलता में भारतीय भवन-निर्माण-पद्धति का सूक्ष्म वर्णन है, तो मुसलमानी दरबारों की वास्तुकला और रीति-नीति का भी तथ्यात्मक निदर्शन है। यह काव्य संक्षेप में उस काल की सामाजिक स्थितियों का लघु-कोश है। इसके सांगोपांग अध्ययन के अभाव में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के अनेक पृष्ठ अंधकाराच्छन्न ही रह जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

कीर्त्तिलता के पाठक के सामने सबसे बड़ी समस्या इसके वैज्ञानिक पाठ की रही है। अबतक कीर्त्तिलता पर जो कार्य हुए हैं, उनके पाठ की समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो सका है। इधर जब से कीर्त्तिलता की स्तंभतीर्थवाली प्रति मिली है, लोगों में बड़ा उत्साह दिखाई पड़ रहा है। स्तंभतीर्थवाली प्रति की सूचना कोई नई बात नहीं है। राजस्थान के हिन्दी-ग्रन्थों की खोज के विवरण में इसकी सूचना बहुत पहले छप चुकी थी। सन् १९५३ ई० में इस प्रति को देखने का मैंने अथक परिश्रम भी किया; किन्तु बीकानेर के 'अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय' से, जहाँ यह प्रति सुरक्षित थी, मुझे असफल लौटना पड़ा; क्योंकि

हिन्दी-पाण्डुलिपियों के व्यवसायियों ने अजीब घेरेबन्दी करके कीर्त्तिलता की इस प्रति को पुस्तकालय से ओझल कर दिया। बहरहाल, वह एक लम्बी कहानी है, जिसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

स्तंभतीर्थवाली प्रति के बारे में मुझे आधिकारिक व्यक्तियों से जो सूचना मिली है, उसके आधार पर मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि इस प्रति के द्वारा भी कीर्त्तिलता के पाठ की सारी समस्याएँ हल नहीं होंगी। यद्यपि यह प्रति, जैसा प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने 'कीर्त्तिलता की स्तंभतीर्थवाली प्रति' शीर्षक लेख ('परिषद्-प्रत्रिका', सं० ५) में लिखा है, १६७२ विक्रम-संवत् की है। इसलिए, इसे अबतक की प्राप्त प्रतियों में पुरानी कहा जा सकता है; किन्तु इसके पाठ से कीर्त्तिलता के उन अंशों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, जो सम्पादकों के सामने चिन्ता के विषय रहे हैं। प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने जो विशिष्ट पाठभेद बताये हैं, उन्हीं पर विचार करके इसे देखा जा सकता है। **ण** का **न** या **न** का **ण** तथा **ष्ख, क्ख, ख्ख** की परस्पर विनिमेयता अथवा **ब** और **व** का अन्तर पाठभेद नहीं कहे जा सकते। **खंभारंभओ** से **खभारंभ जउ** कुछ बेहतर ज़रूर है। उसी प्रकार दूसरे दोहे में **खेलछल** अथवा **खेलाछल** के लिए **खेल त्तणं** सिर्फ प्राचीन राजस्थानी अथवा पश्चिमी अपभ्रंश के प्रभाव का द्योतक है, कोई नया अर्थ नहीं देता और उसका **खलत्वेन** अर्थ तो निश्चित ही अनर्थ करता है। **खेलत्तणं** का अर्थ **खलत्वेन** कैसे होगा ? निन्दा खल के लिए खेल है, यही अर्थ उचित लगता है। **भेद कहन्ता मुज्झ जइ दुज्जन बैरि ण होइ,** का मैंने अर्थ किया था—**'दुर्जन,** यद्यपि भेद कह दे, तो भी मेरा वैरी नहीं है।' स्तंभतीर्थ की प्रति में **भेअ करन्ता** है, जिसका अर्थ श्रीवास्तवजी ने स्तंभतीर्थवाली प्रति की टीका के आधार पर बताया है—"सज्जन मन-ही-मन सोचता है कि सबको मित्र बना लिया जाये, यदि मुझसे भेद-भाव करता हुआ दुर्जन बैरी न हो जाय।" इसके औचित्य को स्वीकारने का कारण श्रीवास्तवजी देते हैं—"सज्जन ऐसा क्यों सोचे कि दुर्जन मार भी डाले या भेद कह दे, तो भी बैरी नहीं है ?" यह इसलिए कि वह सज्जन है और वह जानता है कि—

> **सुअण पसंसइ कव्व मझु दुज्जन वोलइ मन्द।**
> **अवसओ विसहर विस वमइ, अमिय विमुक्कइ चन्द॥** (**कीर्त्ति० १।५-६**)

"सक्कय वाणी बहुअण भावइ—स्तंभतीर्थ का पाठ है। संस्कृत टीका के अनुसार **बहुअण** की जगह **बुहअण** होना चाहिए, जो 'बुधजन' का अर्थ

देता है और तब संस्कृत सज्जनों को भाती है, बड़ा ही सुस्पष्ट अर्थ लगता है।" किन्तु, यही पाठ और यही अर्थ मैंने अपने संस्करण में दिया है, इसपर श्रीवास्तवजी ने जाने क्यों ध्यान नहीं दिया। उन्होंने **सउँ** (स्तं०) को **सञोँ** (नें० प्र०) से श्रेष्ठ माना है; क्योंकि उनके हिसाब से यह **सहुं** (हेम० ४।४४१) के निकट है—**सञों** को और परवर्ती विकास मानकर ब्रज **सौँ** का पूर्ववर्त्ती क्यों न मानें, जबकि अनुनासिक स्वर के लिए 'ञ' का प्रयोग नेपाली लिपिकार ने सर्वत्र किया है। उस हालत में मूलरूप **सञोँ** या **सों** होगा और फिर अवहट्ठ को तो विद्यापति ने जानकर **देसिल वयना** के स्तर पर उतारने का प्रयत्न ही किया है। उन्होंने **आकन्नन कामं** (स्तं०) को **आकण्डन काम** (नें० प्र०) से अच्छा कहा है; क्योंकि उन्हें 'आकर्णन' से 'आकण्डन'-विकास दूरारूढ़ मालूम होता है; किन्तु र और ड परस्पर-विनिमेय रहे हैं और मैथिली में आज भी हैं, इसपर आश्चर्य क्यों? कीर्त्तिलता में ही **कर्ण** का **काँड** (४।१३६) मिलता है। चक्र का **चक्कर** होता है और भोजपुरी में उसे **चक्कड़** (लड़ने में) कहते हैं। **कर्णधार** का बँगला में **कंडारि** हो गया है। 'विकरण' से बना 'बिगड़ना' में भी र का ड़ हुआ है। फिर ण और ड़ का उच्चारण-साम्य भी इस विकृति का कारण रहा है। आकन्नन शब्द के अन्त में न द्वित्व और अन्तिम न का उच्चारण सुखद नहीं है, इसलिए भी ण का ड़ में बदल जाना स्वाभाविक है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली में तो र और ड़ का अन्तर विशिष्ट है ही। फिर, **आकर्णन** से बने **आकण्डन** को दूरारूढ क्यों कहा जाय?

मेरा मतलब यह नहीं है कि स्तंभतीर्थवाली प्रति महत्त्वपूर्ण नहीं है। मेरा सिर्फ़ इतना ही निवेदन है कि किसी प्रति के मिल जाने से ही वैज्ञानिक सम्पादन का कार्य पूरा नहीं हो जाता और न तो हमें आँख मूँदकर उस प्रति की हर बात को सही मान लेना चाहिए। स्तंभतीर्थ वाली प्रति के पाठों को पहले की प्राप्त प्रतियों और कीर्त्तिलता के अबतक के प्रकाशित संस्करणों को सही ढंग से मिला-कर वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादन की आवश्यकता है। कीर्त्तिलता के पाठ-शोधन के मार्ग में मुख्य कठिनाई विदेशी शब्दों की है, विशेषकर उस समय मुसलमानी दरबारों में प्रयुक्त होनेवाले फारसी शब्दों की। ये शब्द साधारण हिन्दुओं के लिए उस जमाने में भी कष्टसाध्य थे, आज भी हैं। विद्यापति ने विभिन्न ओहदों, रस्मों, ढंग-ढर्रों, खेमे-तम्बुओं, बाजार और उनमें बिकनेवाली वस्तुओं आदि के फारसी नामों को बड़ी कुशलता से ग्रहण किया है; किन्तु उन्होंने क्या ग्रहण किया और उनके लिपिकारों ने उसे क्या समझा और बाद में अनुलेखन-पद्धति ने

उनके क्या रूप बना दिये, ये सभी बातें गंभीरतापूर्वक सोचने की हैं। कीर्त्तिलता के पाठ प्रायः ऐसे ही स्थलों पर भ्रष्ट दिखाई पड़ते हैं। जैसे; साहित्य-भवन लि०, प्रयाग से प्रकाशित मेरे संस्करण में २।१७४-१७९ तक का और उसके आगेवाला छपद, २-२१२-१३ के दोहे की पहली पंक्ति, तृतीय पल्लव में १५वीं पंक्ति से २० तक का रड्डा छन्द, ४४वीं-४५वीं पंक्तियोंका उल्लाला, चतुर्थ पल्लव की ११५ से १२५ तक की पंक्तियाँ तथा और भी अनेक संदिग्ध स्थल हैं, जहाँ मैंने प्रश्नवाचक चिह्न भी लगा दिए हैं। इन पाठों के बारे में स्तंभतीर्थवाली प्रति से क्या प्रकाश पड़ता है, इस पर विचार करना चाहिए। मामूली पाठान्तर से तो यत्र-तत्र कुछ बेहतर पाठ भले ही हो जाय, मूल समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।

अब अर्थ निर्धारण की समस्या को लीजिए। स्तंभतीर्थवाली प्रति की सबसे बड़ी विशेषता संस्कृत-टीका है। इस टीका से कीर्त्तिलता के बहुत-से कठिन और अपरिचित शब्दों के अर्थ के ठीक-ठीक निर्धारण की संभावना हो सकती है। किन्तु प्रो० वीरेन्द्रजी ने जो चन्द नमूने दिये हैं, उससे बहुत आशा नहीं बँधती। प्रो० वीरेन्द्रजी के द्वारा दिये गये विशिष्ट उदाहरणों पर जरा गौर किया जाय। नगर-वर्णन के प्रसंग में पंक्ति आती है—

पखान कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर ढारिया।

मैंने अर्थ किया था—"पाषाण की फ़र्श थी और ऊपर का पानी दीवारों के भीतर से निकल जाता था।" इसपर प्रो० वीरेन्द्रजी ने पूछा है कि क्या दीवारों के भीतर से पानी चूना अच्छा है? मेरा मतलब इब्राहीमशाह के महलों की जीर्णावस्था दिखाना नहीं था। बहुत प्राचीन काल से भारतीय वास्तुकला में जल को नियमित करके गिराने या चढ़ाने की पद्धतियाँ थीं। भला, जो वास्तुकला प्रासादों के भीतर जलदीर्घिका, सलिलप्लव, निर्झरनिकर, प्रवाहसहस्र, जलपूर आदि का निर्माण करती थी तथा पूरोद्गिरण, प्रवाहवमन, सलिलप्लव-वहन, निर्झरक्षण आदि पद्धतियों से पानी को निकालकर तरह-तरह की क्रीड़ाओं का दृश्य खड़ा करती थी, वह क्या छत का पानी दीवारों के भीतर की प्रवाह नलिकाओं से नहीं निकाल सकती थी? आधुनिक मकानों में भी छत का पानी दीवार के भीतर लगे या सटे हुए बम्बे से ही गिरता है, इसमें आश्चर्य क्या? "पाषाण का फर्श था, भीतर दीवारें थीं और ऊपर चूने से प्रक्षालित था", यह तो अजब अर्थ है! चूह का चूना अर्थ कैसे हो गया? और, छत को चूना से प्रक्षालित करना तो कोई बुद्धिमानी का काम नहीं लगता और फिर पाषाण

कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर पखारिया छन्द की दृष्टि से भी चिन्त्य लगता है। दूसरा उदाहरण है :

सव्वस सराब खराब कइ ततत कवाबा दरम। (ने० प्र०)

यहाँ मैंने पाठ सुझाया था—**सव्वस सराब खराब कइ ततत कवाबा खा दरम।** यहाँ कवाबदरम एक शब्द मान लेने से कुछ-न-कुछ अर्थ बैठ जाता है, मैंने यही किया था। प्रो० वीरेन्द्रजी को 'दरम' का अर्थ संतोषजनक नहीं लगा और उन्होंने यह अर्थ किया—"सब कुछ शराब में गँवाकर रमणी की ओर ताकता है और बाद में मजा लेता है।" उन्होंने पंक्ति का पाठ यों सुझाया—**सबे सराबे खराब कह तकइत रमा बाद रम।** यहाँ 'बाद' का प्रयोग बड़ा 'मजेदार' रहा। विद्यापति ने फारसी शब्द प्रायः संज्ञा और कहीं-कहीं विशेषण में ही ग्रहण किये हैं, अव्यय के रूप में यह कालवाचक फारसी प्रयोग अवश्य ही भाषाविज्ञान में नया मोड़ ला देगा। **तकइत** तो किसी प्रकार वर्त्तमानकालिक अन्य-पुरुष का रूप हो जायेगा, मगर **रम** का अर्थ 'मजे लेता है', चिन्त्य हो जायेगा। ठीक अर्थ होगा, रमा की ओर देखता है और कहता है कि मजे लो ?

बहरहाल, स्तंभतीर्थवाली प्रति का टीकाकार यहाँ मौन है—**तरमा वा दरम इति जिज्ञास्यम्** कहकर। तारीफ तो यह है कि ऐसे सभी स्थलों पर जहाँ फारसी अथवा अरबी के शब्दों का प्रयोग है, टीकाकार की जिज्ञासा बड़ी प्रबल दिखाई पड़ती है वैसे जहाँ भारतीय वातावरण और अपभ्रंश-अवहट्ठ के प्रयोग का सवाल है, यह टीका अनेक स्थानों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है। प्रो० वीरेन्द्र लिखते हैं कि "अनेक स्थलों पर, विशेषतः फारसी शब्दों के प्रयोगों में संस्कृत-टीका 'इति जिज्ञास्यम्' कहकर चुप हो जाती है।....उसने 'हेडा' शब्द का अर्थ मांस देकर प्रसंगों को स्पष्टार्थक बना दिया है।" हेडा का मांस अर्थ तो इस नाचीज टीकाकार ने भी दिया है; पर लगता है, उससे प्रसंग स्पष्टार्थक नहीं हुए।

जदौ का अर्थ मैंने **यदुक्तम्** दिया है, स्तंभतीर्थ की टीका में पाठ **जदो** है और अर्थ **यतः**। 'जदो' तो 'यतः' से निष्पन्न हो जायगा; मगर **जदौ** किससे सहज निष्पन्न होगा, यह निर्णय मैं भाषाशास्त्रियों पर ही छोड़ता हूँ।

स्तंभतीर्थवाली प्रति टीका से जितनी कुछ सहायता मिल सके, वही बहुत है। संस्कृत-टीका सब प्रकार से ठीक और यथातथ्य है ही, यह विचार हमें भ्रम की ओर ही ले जायगा। **पेक्खिअउ पट्टन चारु मेखल जअोन नीर पखारिया** का अर्थ टीकाकार ने **प्रेक्षितं पट्टनं चारुमेखलं यमुनानीरप्रक्षालितम्** दिया है।

और, प्रो० वीरेन्द्रजी कहते हैं : इससे टीकाकार ने डॉ० सुभद्र झा की इस बात की पुष्टि कर दी है कि नगर की सुन्दर मेखला यमुना-जल से प्रक्षालित थी। हेमचन्द्र के सूत्र का जिक्र बेकार है, यदि मान भी लें कि यमुना से 'जजोन' या 'जौंणा' निष्पन्न हो सकता है, तो भी दिल्ली में तत्कालीन इब्राहीमशाह का अभाव मामूली समस्या नहीं है, जिसे योंही टाल दिया जाय। मुझे आश्चर्य है कि डॉ० सुभद्र झा के उस सर्वथा भ्रामक मत को लोग अबतक आँख मूँदकर ढोये जा रहे हैं। मैंने उनके मत के बारे में विस्तार से 'कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा' में विचार किया था। अब तो उस मत के विरोध में एक अन्य सबल अन्तःसाक्ष्य कीर्त्तिलता में ही मिल गया है। जोनापुर या शहरे मशरिक यानी पूर्व का नगर कहते थे, यह मध्यकालीन इतिहासका एक मामूली विद्यार्थी भी बता सकता है। यह नाम इतना प्रसिद्ध था कि विद्यापति इसे सहज भी भुला नहीं सकते थे। उन्होंने इसका संकेत निम्नांकित छन्द में किया है :

अस परव एकचोइ गणिय न होइ सरइचा सरमाणा।
वारिग्गह मंडल दिग आखण्डल पट्टन परिठम भाणा॥
—कीर्त्तिलता (४।१२२-२३)

ऊपर की पंक्ति बहुत ही भ्रष्ट है। वारिग्गह तम्बुओं को कहते थे। लगता है कि **असपरव, एकचोइ, सरइचा सरमाणा** आदि तम्बुओं के प्रकार हैं। इन तम्बुओं के एकत्रीकरण से 'आखण्डल दिग पट्टन' के परिष्ठव का भान होता था।

आखण्डल इन्द्र है और पूर्व उसकी दिशा है। पूर्वी दिशा का शहर यानी शहरे मशरिक, जौनपुर।

प्रसन्नता की बात है कि पुरातत्त्वविद् और इतिहासवेत्ता डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कीर्त्तिलता के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक शब्दों पर विशद अध्ययन कर रहे हैं और उनके अध्ययन के प्रकाशित हो जाने पर इस तरह की बहुत-सी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।

मेरी दृष्टि से अर्थ-निर्धारण के मार्ग में निम्नलिखित कठिनाइयाँ हैं। कीर्त्ति-लता अथवा विद्यापति के पाठकों को इन समस्याओं पर गहराई से विचार करना चाहिए, ताकि भविष्य में उनकी रचनाओं का सही रूप और महत्त्व सामने आ सके।

जैसा मैंने पहले ही निवेदन किया, कीर्त्तिलता में तत्कालीन संस्कृति के अनेक पक्षों को सूचित करनेवाले वर्णन हैं। इसी कारण कवि ने बहुत-से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो एक निश्चित अर्थ रखते हैं, जिसे केवल 'सयाने

लोग' ही जान सकते हैं; **पुच्छहिं सियान, अभ्यन्तर करी वार्ता के जान** (२।२४८) इस तरह के कतिपय अभ्यन्तर रहस्यवाले विचारणीय शब्दों की एक तालिका नीचे दे रहा हूँ :

(१) **हिन्दू नगर-वर्णन के शब्द**—मेखल, परिघा, पाषाण कुट्टिम, चूह उप्पर ढारिया, वकवार, साकम, वाँध, पोखरि, विवट्टवट्ट, सोपान, तोरण, यंत्रजोरण, चौहट्ट, जालमंडित गवाक्ष, हाट, शाखानगर, शृंगाटक, गोपुर, वलभी, वीथी, अटारी, सोवारी, रहट, घाट, कौसीस। **हाट के भेद :** धनहटा, सोनहटा, मनहटा; मछहटा, राजपथ, वेश्यानिवास, वेश्यावर्णन। **राजप्रासाद-वर्णन :** वज्रमणि, कांचन कलश, प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिम नदी, चित्रशाली खट्वा, हिंडोल कुसुम शैया, प्रदीपमाणिक्य, चन्द्रकान्तशिला, चतुस्सम पल्लव आदि।

ये शब्द मात्र शब्दकोशों से स्पष्ट होनेवाले नहीं हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें इनके बारे में जो कुछ लिखा गया है, उसे तत्कालीन मंदिरों, भग्नावशेषों आदि की सहायता से, पुरातात्त्विक ढंग से समझने की आवश्यकता है।

(२) **मुसलमानी सांस्कृतिक शब्द**—वांदी, वन्दा, तथ्य, कूजा, तवेल्ला, तीर, कमान, दोक्कानदारा, शराफा, वाजू, लसूला, पेयाजू, गुलाम, तुरुक्क, सलाम, षीसा, पइज्जल, मोजा, मीर वली, सालार, षोजा, शराब, कलीमा, कसीदा, मसीदा, कितेवां, षुदा, तोषार, कवाबा दरम, पयदा, जमण, सालण, नेवाला, मुकदम, जाषरी, तुरुकिनी, सैयद, विलह, दूआ, दरवेश, मषदूम, षुन्दकारी, हुक्म, बांग, विशमिल, रोजा, कूजा, चुरुआ, गार, सैयदगार, षाण, उमारा, सुरतान, सलाम, इलाम, खास दरवार, आम दरबार, दोषाल, मेञोन दरबार, दर, सदर, दारिगह, निमाजगह, षोआरगह, पोरमगह, पातिसाह, खुदालम्ब, पापोस, फरमान, देमान, आवदगल, गद्दवर, कुरुवक, अदप, तकतान, तवल, भेरी, रैयत, कटक, लटक, पटकवाज, पाइक्क, चक्कह। **घोड़ों की जाति :** तेज, ताजि। **घोड़ों की चाल :** मुरली, मनोरी, कुण्डली, मण्डली आदि। **उनकी पलानी या जिनपोश तथा—आयुध आदि का वर्णन :** चाबुक, तरकश, सींगिनि, फौज, कसीस, फरिआ, मगोल, षुन्दकार, बगल, करोटी (सैनिकों का खाद्य), वेलक, कमान, धांगड, साबर, वेसर, गद्दह, वरद्दह, हउदा, तम्बुओं के प्रकार। **रायपुर के पास का युद्ध।** पटवारण, पक्खर, सिगिणि-टंकार आदि।

यहाँ मैंने संस्कृत और फारसी शब्दों को अलगाया नहीं है; क्योंकि हिन्दू और मुसलमान संस्कृत में बहुत-सी चीजें समान थीं, उनका कवि ने भारतीय शब्दों में ही वर्णन कर दिया है। इनमें से अनेक शब्द शब्दकोशों से स्पष्ट हो जायेंगे,

जिनका कोई खास ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक महत्त्व नहीं है, मगर इस सूची में अनेक ऐसे भी शब्द हैं, जिनपर शब्दकोश मौन हो जायेंगे, या कुछ संकेत मिला भी, तो वह इन्हें अच्छी तरह समझने के लिए नाकाफी होगा। ये ही शब्द कीर्त्तिलता के सही अर्थ में बाधक हैं।

इन शब्दों का सही अर्थ विशद अध्ययन और श्रम माँगता है। प्राचीन भारतीय शब्दों, अर्थात् नगर-वर्णन, हाट-वर्णन, वास्तु-वर्णन आदि की एक रूढ़ प्रणाली थी, जो पुराणों में भी दिखाई पड़ती हैं। 'सम्मेलन-पत्रिका' के 'कला-संस्कृति-अंक' में इसपर एक अच्छा निबंध प्रकाशित हुआ है। अंगविज्जा, मान-सोल्लास आदि प्राचीन ग्रन्थों, तथा वर्णरत्नाकर, पृथ्वीचन्द्रचरित्र, डॉ० वासुदेव-शरण की कादम्बरी, हर्षचरित, पद्मावत आदि की टीकाओं; आइने अकबरी, अतहर अब्बास रिजवी के मध्यकालीन भारत (तुर्क आदि), मुसलमान इति-हासकारों के वर्णनों, बाबरनामा, जहाँगीरनामा आदि ग्रन्थों; अलबरूनी के विवरणों आदि से सहायता लेकर इन शब्दों का सही 'सज्ञानजनोचित' अर्थ मालूम किया जा सकता है। इससे न सिर्फ अर्थ की समस्या का समाधान होगा; बल्कि पाठ शुद्ध करने में भी प्रचुर सहायता मिलेगी; क्योंकि कीर्त्तिलता के बहुत-से छन्द इन शब्दों के सही रूपों के न जानने के कारण ही भ्रष्ट प्रतीत होते हैं।

■

कीर्तिलता की नयी प्रतियाँ और संजीवनी व्याख्या

•

"कीर्तिलता : पाठ और अर्थ की समस्यायें" शीर्षक निबन्ध, जो इस पुस्तक में संकलित है, जुलाई १९६३ ई० की 'परिषद् पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। इसी निबन्ध को दृष्टि में रखकर श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने अक्तूबर १९६३ के अंक में "कीर्तिलता : प्रामाणिक पाठ और अर्थ" शीर्षक निबन्ध लिखा। मैंने अपने निबन्ध में इस बात पर जोर दिया था कि कीर्तिलता के पाठ और अर्थ निर्धारण के मार्ग में एक कठिनाई विदेशी शब्दों के कारण आती है। ये विदेशी शब्द तत्कालीन मुसलमानी राज-व्यवस्था के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध हैं और जब तक इनका ठीक-ठीक अर्थ निर्धारित नहीं हो जाता, कठिनाई कुछ न कुछ बनी ही रह जायेगी। इसी सिलसिले में मैंने यह भी लिखा था कि सुना गया है कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कीर्तिलता के ऐसे शब्दों पर, जिसका भारतीय वास्तु, स्थापत्य तथा मुसलमानी भवन-निर्माण और राज-व्यवस्था आदि से सम्बन्ध है, अध्ययन कर रहे हैं। इसलिए मैंने यह भी लिखा था—"उनके अध्ययन के प्रकाशित हो जाने पर इस तरह की बहुत सी समस्याओं का समाधान हो सकेगा।"

अब डॉ० वासुदेवशरण द्वारा सम्पादित कीर्तिलता का नया संस्करण संजीवनी व्याख्या के साथ सामने आ गया है। इस संस्करण के तैयार करने में तीन नई प्रतियों का सहयोग भी मिला है, साथ ही स्तंभतीर्थ की प्रति के साथ संलग्न संस्कृत टीका से भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसलिए अब शायद वह अवसर आ गया है कि कीर्तिलता के इस नए संस्करण और नई व्याख्या को सामने रखकर ठीक से निर्णय किया जाए कि पाठ और अर्थ के निर्धारण में कहाँ तक प्रगति हो सकी है, और क्या यह संस्करण और संजीवनी व्याख्या कीर्तिलता के पाठ और अर्थ निर्धारण की दिशा में उठनेवाली सभी समस्याओं का समुचित समाधान कर सकी है, या नहीं।

इस संस्करण में जैसा कि कहा गया तीन नई प्रतियों का उल्लेख है। बीकानेर (स्तम्भतीर्थ) की प्रति को अ प्रति कहा गया है। कीर्तिलता के पुराने संस्करणों (सक्सेना, तथा सिंह) में क, ख, और शा. (शास्त्री) इन तीन प्रतियों का आधार लिया गया था। डॉ० अग्रवाल ने क, ख, शा. तथा अ

प्रतियों के आधार पर पाठ शोध करने का प्रयत्न किया है। बीकानेर के अलावा जो दो प्रतियाँ उन्हें उपलब्ध हुईं वे बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित प्रतियों की प्रतिलिपियाँ हैं, जो डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त से प्राप्त हुईं। इन दोनों प्रतियों का पाठ शोध में सहयोग नहीं मिल सका क्योंकि सम्पादक के ही शब्दों में—"पुस्तक मुद्रित हो जाने के बाद मुझे ज्ञात हुआ कि कीर्तिलता की दो प्रतियाँ बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी में हैं ? [परिशिष्ट ३] अतः सम्पादक ने इन प्रतिलिपियों के आधार पर कुछ विशिष्ट पाठान्तर परिशिष्ट तीन में संकलित कर दिये हैं। पाठ की दृष्टि से इन प्रतिलिपियों पर विचार करते हुए डॉ० गुप्त ने लिखा है—पाठ की दृष्टि से ये प्रतियाँ अ(बीकानेर) प्रति के निकट हैं। उसके पाठान्तर और इनके पाठान्तर अधिकांश स्थलों पर एक से हैं जिनसे यह भ्रम होने लगता है कि ये प्रतियाँ उसी से प्रतिलिखित हैं। किन्तु इस साम्य के साथ ही अनेक स्थल ऐसे हैं, जहाँ अ प्रति से इनका पाठ सर्वथा भिन्न है।" [पृ० ४२०]

जाहिर है कि कीर्तिलता के पाठ शोध की दृष्टि से ऐसे स्थलों का ही महत्त्व है, जहाँ इन प्रतियों के पाठ 'अ' प्रति से सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु कठिनाई के कारण ऐसे स्थलों से कीर्तिलता के वासुदेवशरण जी द्वारा प्रस्तुत संस्करण में पाठ की दृष्टि से कोई सहायता नहीं ली जा सकी।

अब हम पल्लव क्रम से, आवश्यकतानुसार पंक्तियों का उल्लेख करते हुए पाठ और अर्थ सम्बन्धी इस नई उपलब्धि पर विचार प्रस्तुत करेंगे। कीर्तिलता का शास्त्री संस्करण और सक्सेना संस्करण जिन लोगों ने देखे हैं, वे जानते हैं कि उन संस्करणों में गद्य और पद्य का विभाजन नहीं हुआ था। रड्डा छन्द के ठीक से न समझ सकने के कारण पद्यों को भी गद्य के रूप में लिखा गया था। 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' नामक मेरी पुस्तक में पहली बार कीर्तिलता का पाठ वैज्ञानिक पद्धति से पंक्तिसंख्या के साथ, गद्य और पद्य के निश्चित अन्तर को ध्यान में रखकर, उपस्थित किया गया। वासुदेवशरण जी के इस संस्करण में केवल प्रथम पल्लव में मेरे संस्करण से भिन्न पंक्ति-संख्याएँ मिलेंगी। शेष पल्लवों में पंक्ति संख्याएँ वही हैं जो मेरी पुस्तक 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' में 'कीर्तिलता' के पाठ के साथ दी गई हैं। प्रथम पल्लव में भी ये अन्तर इसलिए दिखाई पड़ते हैं क्योंकि मैंने अपने संस्करण में आरंभिक मंगलाचरण श्लोकों की पंक्तियों पर अंक नहीं लगाये थे।

यह तो निर्विवाद है कि डॉ० अग्रवाल के संस्करण ने पाठ और अर्थ सम्बन्धी प्रयत्न को सही दिशा में आगे बढ़ाया है। पाठ की दिशा में यह प्रयत्न उतना

महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता जितना अर्थ-निर्धारण की दिशा में। पाठ में जो कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं उनपर विचार होना चाहिए :—

१—**प्रथम पल्लव पं० २२–'भेअ करन्ता मम उवइ'**–यदि दुर्जन भेद का मर्म करता हुआ भी मेरे समीप आता है। मेरी पुस्तक में पाठ स्वीकृत था **भेअ कहन्ता मुज्झ जइ**– अर्थ दिया गया था कि 'मेरा भेद कहनेवाला दुर्जन भी मेरा बैरी नहीं है।" डा० अग्रवाल ने 'उवइ' शब्द का अर्थ समीप किया है उप + इ>प्रा० उवे (पास आना, पासद्द० २८८) यहाँ पर सम्पादक ने भेद करता हुआ के साथ 'मर्म का' ऊपरसे जोड़ा है। 'मर्म का भेद' को समझाते हुए कहा गया है 'मर्मभेदी वचन कहने वाला (पृष्ठ ९)। यदि "भेद कहने वाला" अर्थ ही स्वीकार करना था, तो द्राविड प्राणायाम की क्या आवश्यकता थी। भेद कहन्ता पाठ फिर किस दृष्टि से अवर माना जाय ? "उवइ" पाठ के बारे में भी सोचना चाहिए। बम्बई की प्रति १ और प्रति २ में क्रमशः **मज, उवइ** तथा **मज उवइ दुज्जण** पाठ है। अ में '**मम उवइ**' पाठ है। क्या बम्बई की दोनों प्रतियों का **मज** पाठ कुछ कह नहीं रहा है। **मम उवइ** पद में कहीं ज है या था। यह या तो प्राचीन पाठ में 'मुज्झ' का ज है या जइ का ज है, मगर है जरूर।

उवइ शब्द प्राचीन हिन्दी में (अपभ्रंश-अवहट्ठ-पिंगलादि) उदय, उद्गम आदि अर्थोंके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंश में **उविंत**, **उवेन्त** आदि रूप समीप जाकर प्राप्त करने के अर्थ में अवश्य चलते हैं। संकृत उपैति से बने हुए रूप हैं ये। किन्तु उवइ का समीप बोधक अर्थ मूल पाठ के पर्याप्त असमीप ही कहा जायेगा।

२—प्र० प० पं० ३१—**कव्वह सावु छइल्ल**–काव्यके सब कुछ का छइल्ल। पुराने संस्करणों में "कव्वकलाउ छइल्ल" था, यानी काव्यकला का छइल्ल, विदग्ध, जानकार। काव्यके "सब कुछ" का जानकार, यह अर्थ कोई नई उपलब्धि नहीं देता। वाक्य गठन की शिथिलता तो झलकती ही है, 'सावु' का उपयुक्त प्रयोग भी नहीं कहा जायेगा।

३—पंक्ति ३३–**सक्कय वाणी वहुअ ण भावइ**। यानी संस्कृत बहुतों को रुचिकर नहीं लगती। यह पुराना पाठ है। मेरे संस्करण में पाठ है "वुह-अण भावइ" यानी केवल बुधजनों को अच्छी लगती है, यही पाठ स्तंभ-तीर्थ प्रति में है, और टीकाकार ने स्पष्ट ही लिखा है '**संस्कृतवाणी बुधजनः भावयति**।

४—**पं० ६५–जेन्ने खंडिअ पुव्व पतिख**—पहले के सब शत्रुओं को पराजित कर दिया। पुराने संस्करणों में पाठ है जेन्हे खंडिअ पुव्व वलि कन्न। यानी जिन्होंने प्राचीन वलि और कर्ण को भी मात कर दिया। दूसरी पंक्ति है **जेन्हें शरण न परिहरिअ, जेन्हें अत्थिजन विमन न किज्जिअ**—जाहिर है कि यह पंक्ति दान और कृपालुता का वर्णन करती है, इसलिए ऊपर वाली पंक्ति में कर्ण और बलि से तारतम्य दिखाया गया है। नया पाठ यदि उचित मानें तो एक प्रत्यवाय खड़ा हो जाता है—पहले के सब शत्रुओं को पराजित कर दिया तो असलान से पीड़ित होकर इब्राहिमशाह के पास जाने की क्या जरूरत थी ?

५—**द्वितीय पल्लव पं० ८५–जाल जाल ओख खंडिया**—जालियों के झरोखे। मेरे संस्करण में **जाल गाओख खंडिया** पाठ है। 'गाओख' प्रस्तावित पाठ है। सक्सेनाजी का जाल-जाल ओ खंडिया' में एक तरफ "जालओ" का कोई अर्थ नहीं निकलता, दूसरी तरफ गीतिका छन्द की पंक्ति मात्रा की दृष्टिसे अशुद्ध हो जाती है। डॉ० वासुदेवशरण के पाठमें भी मात्रागत अशुद्धि ज्यों की त्यों बनी रही।

६ – द्वितीय पल्लव १७८–१७९

> **सव्वस्स सराव षराब कइ ततत कबाबा खा दिरम।**
> **अविवेक क रीती कहज्ञो का पाछा पयदा ले ले मम॥**
> —अग्रवाल

> **सव्वस्स सराब षराब कइ ततत कवा वा दरम।**
> **अविवेक करीबी कहज्ञों का पाछा पएदा ले ले भम॥**
> —सक्सेना

> **सव्वस्स षराब सराब कइ ततत कबाबा (खा) दरम**
> **(अविवेक क रीती) कहज्ञों का पाछा पयदा ले ले भम**
> —शिव प्र० सि

अ प्रति में पहली पंक्ति में **तरमा वाद रम** और निचली पंक्ति में **कवीबी कहज्ञो** का पाठ है। डॉ० वासुदेव शरण ने मेरा पाठ ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। पर उन्हें नामोल्लेख भी आवश्यक नहीं लगा। जबकि यह विशिष्ट पाठ कहा जायेगा।

७—**पंक्ति २५१—उअसंझहि मज्जुपुर**—उपसंध्या, यानी सन्ध्या के निकट आने पर सायंकाल के समय दोनों राजकुमारों ने नगर के बाहरी भाग में रात्रि

व्यतीत की। मज्जुपुर के 'मज्जु' को डॉ० अग्रवाल मर्यादा 7 मर्या 7 मज्जा (पा० स० ८२६) से निष्पन्न करते हैं। अर्थ हुआ नगर के मर्यादा भाग या उपांत भाग में। मेरे संस्करण में पाठ है तोउ असंझहि मज्झुपुर यानी सन्ध्या के पहले अर्थात् असन्ध्या में ही नगर में पुर-मज्झ एक ब्राह्मण के घर निवास किया। मज्जु का जो अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है वह कष्ट-कल्पना कहा ही जायेगा।

८—कीर्तिलता के तीसरे पल्लव में एक स्थान पाठ की दृष्टि से 'चक्रव्यूह' कहा जा सकता है। सक्सेना और शास्त्री के संस्करण में इस 'चक्रव्यूह' पर कोई ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि सक्सेना और शास्त्री ने गद्य और पद्य के अन्तर को स्पष्ट नहीं किया था। इसलिए उन्हें छन्द की दृष्टि से इस अंग में कोई गड़-बड़ी दिखाई ही नहीं पड़ी थी। किन्तु जब मैंने कीर्तिलता के पाठ को छन्दोबद्ध रूप में रखा तो तीसरे पल्लव में आरंभ में ही एक विकट समस्या आ गयी थी। उस समस्या पर मैंने लिखा था—"तीसरे पल्लव में पंक्ति १९ से २८ तक के छन्दों पर विचार कीजिए। इन पंक्तियों को देखने से मालूम होगा कि इसमें दो रड्डा छन्द टूट कर मिल गये हैं। प्रसंग और अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर लगेगा कि पंक्ति २२ से २५ तक का रड्डा छन्द पूर्ण और त्रुटिहीन है; पहले रड्डे का दोहा टूट कर नीचे (पंक्ति २७-२८) चला गया है। इस पल्लव के आरंभ में जो रड्डा छन्द शुरू होते हैं, उनमें दो रड्डा छन्दों के बीच में कोई दोहा (अतिरिक्त) अलग से नहीं दिया गया है इस प्रसंग में यह दोहा फालतू लगता है जो वस्तुतः ऊपर के रड्डे का भाग है।" [कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, दूसरा खंड पृष्ठ ७] इसे स्पष्ट करने के लिए सक्सेना और मेरे संस्करण से उक्त अंक उद्धृत किये जा रहे हैं :—

अज्ज उच्छव अज्ज कल्लान, अज्ज सुदिन सुमहुत्त
अज्ज माझे मज्झुपुत्त जाइअ, अज्ज पुन्न पुरिसथ्थ
पातिसाह पापोस पाइअ।
अकुशल वेविहि एक्क पइ अवर तुम्ह परताप
अरुलो अन्तर सग्ग गउ गअणराए मज्झु वाप।
फरमान भेलि कओण चाहि, तिरहुति लेलि
जह्नि साहि डरे कहिनी कहए आन, ओहा तोहे
ताहाँ असलान, पढम पेल्लिय तुम्ह फरमान गएन
राय तौ वधि, तौन सेर विहार चापिअ, चलइ ते
चामर परइ, धरिअ छत्त तिरहुति उगाहिअ

तब्बहु तोके रोस नहिं रज्ज करओ असलान
अवे करिअउ अहियान क अज्ज जलंजलिदान
वे भूपाला मेइनी वेण्डा एक्का नारि
सहहि न पारइ वेवि भर अवस करायए मारि।

—सक्सेना संस्करण पृ० ५९, ६०

यही है वह चक्रव्यूह ! मैंने यह पाठ इस प्रकार संशोधित करके रखा था :—

अज्ज उच्छव अज्ज कल्लान ॥ १४ ॥
अज्ज सुदिन सुमहुत्त अज्ज माझे मज्झु पुत्त जाइअ ॥ १५ ॥
अज्ज पुन्न पुरिसथ्थ पातिसाह पापोस पाइअ ॥ १६ ॥
अकुसल वेविहि कज्ज पइ एक्क तुम्ह परताप ॥ १७ ॥
अरु लोअन्तर सग्ग गउ गएणराए मज्झु वाप ॥ १८ ॥

फरमान भेलि कओण साहि ॥ १९ ॥
तिरहुति लेलि, जन्हि साहि डरे कहिनी कहए आन ॥ २० ॥

× × ×जेहा तोहे ताहाँ असलान ॥ २१ ॥
पढ़म पेल्लिअ तुज्झ फरमान ॥ २२ ॥
गएण राए तौ बधिअ तौन सेर विहार साहिअ ॥ २३ ॥
चलइते चामर परअ धरिइ छत्त तिरहुति उगाहिअ ॥ २४ ॥
तव्वउ तोके रोस नहिं रज्ज करओ असलान ॥ २५ ॥
अवे करि अउ अहिमान कर अज्ज जलंजलि दान ॥ २६ ॥

वे भूपाल मेइनी वेण्डा एक्का नारि ॥ २७ ॥
सहइ न पारइ वेवि मर अवस करावए मारि ॥ २८ ॥

डॉ० वासुदेवशरण जी का जब नया संस्करण प्रकाशित हुआ तो मैंने बड़ी उत्कंठा से पुस्तक का यह अंश देखना चाहा, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि तीन नई प्रतियोंके आधार पर सम्पादित यह नया संस्करण इस स्थल पर अवश्य ही नया प्रकाश डाल सकेगा। एक शंका थी मेरे मन में। वह यह कि शायद यही मूल पाठ हो, इसमें कोई त्रुटि न हो। वासुदेवजी का संस्करण देखकर पूर्ण निराशा हुई क्योंकि उनके संस्करण से इस अंश पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा। उन्होंने मेरा ही पाठ ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। मैंने इस पाठ को त्रुटित कहा था और मुझे प्रसन्नता है कि यह पाठ निश्चय ही त्रुटित है। इस बात

का साक्ष्य स्तंभतीर्थ की प्रति देती है। इस स्थल पर स्थान रिक्त छोड़कर हाशिए में लिखा है—"**अत्रमूलं पतितं**" निष्कर्ष यह कि कीर्तिलता के तृतीय पल्लव का यह संदिग्ध पाठ-स्थल, जिसके विषय में मैंने अपनी पुस्तक में विचार किया था, आज भी वैसा ही संदिग्ध बना रहा।

९—पंक्ति ६७—**बान कसए सोना क टंका**, बान कसवा कर देखने में सोना का टका चला जाता था। पुराने संस्करणों में पाठ था पानक सए सोना क टका अर्थात् – पान के लिए सोने का टका दीजिए – महार्घता का वर्णन है, निचली पंक्ति में 'चन्दन क मूल इंधन विका' भी इसी बात की पुष्टि करता है। किसी प्रति में **बान कसए** पाठ नहीं है। डॉ० अग्रवाल का कहना है कि सराफे में सोने को कसने के लिए "वान प्रकिया" प्रचलित है, जिसका पद्मावत में उल्लेख है, इसलिए बेहतर पाठ "वान कसए" ही माना जाना चाहिए। लेकिन 'अ' प्रति और बम्बई की ए. प्रति का पाठ है **पान कइ सोना टक का** तथा **पान कए सोना टक का**। मेरा ख्याल है — इन दोनों पाठों ने 'कसए' की समस्या ही हटा दी है। सीधा पाठ है "पान कए सोनाक टंका" अर्थात् पान के लिए (कए ∠ कृते, वास्ते, पासद्द नवीन संस्करण पृ० २०८) सोना का टंक या टका देना पड़ता। बान और कषण ये दोनों दूरारूढ़ प्रतीत होते हैं।

१०—पंक्ति १०२ **वादी वड़दा सग्घोघ पाइअ**—वाँदी और बैल समान मूल्य में मिलते। पहले का पाठ है वाँदि वड़ दासओ छपाइअ—अर्थात् वाँदी तो दूर दास को छिपाकर रखना पड़ता कि तुर्क इसे छीनकर ले न जाएँ। सग्घोघ ∠ समर्घ का विकसित रूप है। तुलसी ने **एक कहहिं ऐसिहु सौंघाई** [मानस ६।८८।४] लिखा है। अ० प्रति में स्पष्ट ही 'सवोघ' पाठ है जो पूर्वी लिपिकार के हाथों सग्घोघ हो जायेगा। निश्चय ही यह पाठ पहले से सुन्दर हुआ है।

११—१४० **जिसु पण अत्तिअ पुरसत्थ चारि**—जिसने अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों को लोक में प्रकट किया। प्राचीन पाठ है जिसु पण तिण लोइ पुरुसत्थ चारि—अर्थात् जिसका प्रण तीन लोकों में चारों पुरुषार्थ था। इस पाठ को डॉ० अग्रवाल ने क्लिष्ट पाठ माना है और उन्होंने अ प्रति का 'पलत्ति' और ख प्रति के 'पणतिण लोइ' को सामने रखकर एक नया पाठ अन्वेषित किया है वह है "पण अत्तिअ"। देशी ना० मा० ६–३० में इसको देशी शब्द कहा गया है जिसका अर्थ है "प्रकटित किया'।" अपभ्रंश में प्रकट का पणिअ [पाइ० सद्द० ५३१] होता है तो प्रकटित का प्र 'पअइत' जैसा रूप तो बन सकता है; किन्तु 'पलत्ति' और "पणतिण लोइ" के आधार पर

"पणअत्तिअ" सोच लेना और उसे मूल पाठ के रूप में प्रतिष्ठित कर देना अधिकृत चेष्टा कही जायेगी क्या ?

१२—चतुर्थ पल्लव में अनेक स्थानों पर स्तम्भ तीर्थ की प्रति का पाठ बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है। पाठ की दृष्टि से इस पल्लव में जो सुधार हुए हैं वे विशिष्ट पाठ शोध तो नहीं है; किन्तु मामूली परिवर्तन के कारण भी अर्थ में बहुत सटीकता और समीचीनता आ गई है। उदाहरण के लिए पंक्ति ८ में **सगरे राह सम रोल पलु** पाठ अशुद्ध था। शुद्ध पाठ है **सगरे हसम रोलपलु**। यहाँ हसम ∠ हश्म का अर्थ सेना है। वर वखत उप्पलु (पंक्ति ९) के स्थान पर **खोदावरद खत उप्पलु** यानी खुदावुर्द (कहाँ चलना है) पूछते हुए कहते हैं कि कहाँ चलने के लिए फरमान (खत) निकला है। हाँलाकि यह पाठ मुझे अत्यन्त क्लिष्ट प्रतीत हो रहा है और यह अर्थ भी काफी विद्वत्तापूर्ण अथच कृत्रिम प्रतीत होता है। **राय मनोहर** (पंक्ति १३) के स्थान पर अ प्रति में पाठ है **राय मनोरह** (मनोरथ) जो राय मनोहर की वैयक्तिक समस्या का समाधान कर देता है। वैसे ही **गरुअ गरुअ मुण्ड मारि** (पंक्ति २३) का अशुद्ध पाठ है। शुद्ध पाठ में मुंड की जगह सुंड है जो **मारि दस सथि मानुस करो मुंड** यानी दस मनुष्यों के मुंड को मार कर बनाया गया नहीं था बल्कि धसमसइत मानुस करो मुंड यानी मनुष्यों के मुंडों को धसमसा देने वाला था।

इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि पाठ की दृष्टि से चतुर्थ पल्लव के कुछ अपपाठों में सुधार के अलावा इस संस्करण में कोई विशिष्ट सुधार नहीं हुआ है। इसका कारण शायद यह है कि 'अ' प्रति के अलावा किसी अन्य परम्परा की कोई और विशिष्ट प्रति नहीं मिली। कीर्तिलता की पहले की प्रतियाँ (क, ख और शास्त्री) सभी एक परम्परा की न होते हुए भी सामान्य रूप से पूर्वीय परम्परा की थीं। इनमें क और शास्त्री की प्रतियाँ एक ही परम्परा की थीं, ख कुछ भिन्न थीं, पर उसका आदर्शरूप मूल के बहुत निकट नहीं था। स्तंभतीर्थ की प्रति निःसन्देह एक अलग परम्परा की प्रति है जिसे पश्चिमी परम्परा कहा जा सकता है। किन्तु 'अ' के साथ ही एशियाटिक सोसाइटी बम्बई की जो प्रतियाँ मिलीं, वह 'अ' से भिन्न परम्परा की नहीं हैं। 'अ' प्रति में भी तृतीय पल्लव का पतित या त्रुटितांश इस बात का सबूत है कि इन दोनों परम्पराओं पश्चिमी और पूर्वी की आदर्श प्रति ऊपरी सोपान पर कहीं न कहीं एक ही थी। कीर्तिलता इस समय भी पाठ की दृष्टि से काफी स्पष्ट हो गई है; किन्तु इसका पर्याप्त सम्पूर्ण पाठ शुद्ध रूप तभी संभव हो सकता है जब इन परम्पराओं से भिन्न आदर्श की कोई दूसरी विशिष्ट प्रति उपलब्ध हो।

अर्थ की दृष्टि से डॉ० अग्रवाल के संस्करण में काफी सुधार हुआ है। जैसा मैंने 'परिषद् पत्रिका' के जुलाई १९६३ के अंक में लिखा था कि कीर्तिलता में हिन्दू और तुर्क-इस्लाम शब्दावली की समस्या एक जानकार इतिहास-विद् की अपेक्षा रखती है और चूँकि इन शब्दों ने डॉ० अग्रवाल का ध्यान आकृष्ट किया है, इसलिए इस दिशा में काफी सुधार की सम्भावना है—वह सम्भावना काफी प्रमाणित हुई, इसमें शक नहीं। डॉ० अग्रवाल नें संस्कृत या हिन्दू सांस्कृतिक शब्दों का तो अर्थ संधान किया ही, उन्होंने मध्यकालीन अनेक स्रोतों से मुसलमानी सांस्कृतिक शब्दों का भी अर्थ स्पष्ट कर दिया है। उनके अध्ययन का सारतत्त्व "विद्यापति की शब्दावली" शीर्षक लेख में 'परिषद् पत्रिका' के अक्तूबर १९६३ के अंक में प्रस्तुत हो चुका है।

डॉ० अग्रवाल ने इसी प्रकार का अध्ययन जायसी के पद्मावत का भी किया है। इस प्रकार के अध्ययन हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन काव्यों के अर्थ-निर्धारण में कितने सहायक हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु इस तरह के अध्ययनों की एक बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि ये अध्ययन सांस्कृतिक पक्ष पर इतना अधिक बल देते हैं कि प्रायः साहित्यिक पक्ष दब जाता है। दूसरे सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व के शब्दों की एक बँधी-बँधाई सीमा है। घूम-फिर कर ये ही शब्द मध्यकालीन प्रत्येक काव्य में आते हैं। परिणामतः डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत मध्यकालीन काव्यों की टीकाओं में इस अध्ययन की पुनरावृत्ति होती रहती है।

कभी-कभी अधिक विद्वत्तापूर्ण अर्थ करने का मोह सामान्य सहज अर्थों की हत्या भी कर देता है। डॉ० अग्रवाल कुछ शब्दों के बारे में इतने आग्रहपूर्ण दिखाई पड़ते हैं कि मामूली समता सूचक लक्षणों के मिलते ही, दूर की कौड़ी खोजने का भगीरथ प्रयत्न शुरू कर देते हैं। परिणामतः कई स्थानों पर हास्यास्पद अर्थों की सृष्टि हो जाती है।

अर्थ सम्बन्धी कुछ विशिष्ट स्थलों की चर्चा ही यहाँ सम्भव है :

१—प्रथम पल्लव पंक्ति ३६—सुक्ख सुभोअण सुभ वअण देवहा जाइ सपुन्न। वीर पुरुष का समय तीन प्रकार से व्यतीत होता है, या तो वह स्वयं सुख-समृद्धि के अनुसार विहार करता है, या मित्रादि के साथ भोज में सम्मिलित होता है या काव्यादि विनोदों में लीन रहता है।

इस पंक्ति के पहले की पंक्ति में "पुरिस कहाणी हउँ कहओ जसु पत्थावे पुन्न" कहा गया है। स्पष्ट ही यह मध्यकालीन कथाकाव्यों में कथा-प्रस्ताव या

श्रवण के माहात्म्य की प्राचीन रूढ़ि का उदाहरण है। वीर पुरुष का समय ऐसे नहीं व्यतीत होता बल्कि उसका जो ऐसी कथा को कहता-सुनता है। इसमें 'देवहा' शब्द का अर्थ दिवस किया गया है। दिवस > दिवह > देवहा। किन्तु देवहा का एक अर्थ देवलोक भी हो सकता है देवगृह > देवगह > देवह > देवहा। और यहाँ इसका देवलोक अर्थ ज्यादा समीचीन भी होगा। मध्यकालीन कथाओं में कथा माहात्म्य के अन्तर्गत श्रोता-वक्ता के लिए इहलौकिक और पार-लौकिक दोनों सुखों की प्राप्ति का भरोसा अनेक स्थानों पर दिलाया गया है। वेलि कृष्ण रुक्मिणी में लिखा है संसार में भोग और मरने के बाद मुक्ति मिलती है। उषा-अनिरुध की कथा में स्पष्ट ही लिखा है :—

उषा अनिरुध की कथा कहै सुनै मन लाय।
मुगति सुगति अरु सुख लहै कलिमल दुःख नसाय॥

'मंगल करनि कलिमल हरनि' तुलसी के लिए रघुनाथ की कथा थी, तो अन्य कवियों के लिए यह फल प्राकृत जन के गुणगान से ही मिल जाता था। यह अर्थ नहीं भी माना जाये तो भी इसे कथा श्रवण या कथन फल तो मानना ही चाहिए। उसका यानी वीर पुरुष या कथा नायक का नहीं बल्कि कथा वाचक और श्रोता का समय, दिवस सुखपूर्वक सुभोयन, शुभवार्तालाप में व्यतीत होता है, इतना तो माना ही जा सकता है। यही अर्थ स्तम्भतीर्थ के टीकाकार का प्रतीत होता है।

२—पंक्ति ५८–जाचक सिद्धि, केदार दान पंचम वलि जानल। यहाँ याचकों के लिए सिद्धकेदार (कल्पवृक्ष) की तरह कहा गया है। किन्तु केदार का वृक्ष अर्थ सहज प्राप्य नहीं है। केदार दान या भूमिदान में, जो षोडस दान में पाँचवा दान है, [देखिए मनुस्मृति ४।२२९–३२] बलि के समान तथा जाचक सिद्धि, यानी याचकों के मनोरथ सिद्ध करने वाला है, यह अर्थ ज़्यादा उचित लगता है।

३—द्वितीय पल्लव पंक्ति ४१—

मेरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ मन्ति विअक्खन भाए—

"बड़े और सम्मानित व्यक्ति मर्यादा में रहते हैं। मंत्री नीति कुशल ही अच्छा लगता है।" यह क्या कीर्तिसिंह द्वारा मंत्री और दूसरे लोगों की भर्त्सना की जा रही है? मेरहु का सीधा अर्थ "मेरे भी" है। कीर्तिसिंह क्रुद्ध हो गए और उनके मन में "पितृवैरिकेशरीत्व" जाग उठा, उस समय अकेले ही शत्रु-पुर में जाकर असलान को मारने की उन्होंने जोशपूर्ण बात कही, यह बात दूसरे

भाई और अमात्यादि को अपमान-जनक न लगे, इसलिए दूसरी पंक्ति में उन्होंने थोड़ा शान्त होकर कहा—"या जैसी और लोगों की इच्छा हो, क्योंकि मेरे भी ज्येष्ठ गरिष्ठ मंत्री या मंत्रणा–विचक्षण भाई हैं। भाए का अर्थ "भाता है" भी बहुत भाता नहीं।

४—पंक्ति १०४—कहन्ते होइअ झूठ, जनि गंभीर गुर्गुरावर्त कल्लोल कोलाहल कान भरन्ते मर्यादा छाँडि महार्णव ऊँठ।

कीर्तिलता के गद्य की अन्तर्तुकान्त पद्धति अटल है। इस कारण ऊँठ का तुक ऊपरी पंक्ति में 'झूठ' उचित था। डॉ० अग्रवाल ने इसे 'झूल' कर दिया। झूल का उन्होंने अर्थ किया है शोर। इस अर्थ को उचित ठहराते हुए उन्होंने लिखा है, शब्द आन्दोल का प्राकृत धात्वादेश झूल होता है। आन्दोल से शब्द बना अन्दोर फिर अँदोरा, [पद्मावत १३३।७, तथा चित्रावली ४७३।१] और चूँकि इस अँदोरा का अर्थ शोर होता है, इसलिए झूल का अर्थ हुआ शोर। यह झूल को पूरा झूल देना है! सीधा अर्थ है कि इस "सुख रव कथा" का जैसा भी वर्णन किया जाए 'झूठ' ही होगा, क्योंकि यह कोलाहल कुछ इस तरह का था मानो अपनी तरंगों से गंभीर गुर्गुरावत शब्द करने वाला समुद्र मर्यादा छोड़कर उठ पड़ा हो। लहर या जल का उठना सुन्दर मुहावरा भी है।

५—पंक्ति १६५—तौलन्ति हेरा लसूला पेआजू

वहाँ हीरा (हेरा) लहसुनिया (लसूला) फीरोजा (पेआजू) तौला जा रहा था। यह अर्थ डाक्टर साहब को बहुत बड़ी उपलब्धि प्रतीत होता है सो स्वाभाविक ही है। इसका उल्लेख उन्होंने 'परिषद् पत्रिका' (जुलाई १९६४) में प्रकाशित 'विहार राष्ट्रभाषा परिषद्' के त्रयोदश वार्षिकोत्सव के अपने अध्यक्षीय भाषण में भी किया है। मैंने इसका अर्थ "हल्दी (हेरा) लशुन (लसूला) और प्याज (पेआजू) तौले जा रहे थे" किया था। उस समय हेडा का अर्थ मैंने गोश्त किया था (प्राचीन संस्करण दूसरा खंड पृष्ठ ७४)। हेडा का ही हेरा हो गया है। ड कार परिवर्तन कीर्तिलता में या प्राचीन हिन्दी में अनेकशः हुआ है। उस समय मेरा ध्यान इस पर नहीं गया (इधर ध्यान दिलाने के लिए प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव का कृतज्ञ हूँ।) अर्थ है कि मांस, लशुन और प्याज़ तौले जा रहे थे जिन्हें :—

षरीदे षरीदे वहूतो गुलामो
तुरुक्को तुरुक्कें अनेकों सलामो (१६६-१६७)

यह सही है कि इस पंक्ति के पहले सराफें सराहे (सराफे) 'भरे वेवि वाजू' आता है। इसलिए सराफे यानी सुनारहटा के साथ इन वस्तुओं के तौले जाने का क्या सम्बन्ध ? पर क्या इस वर्णन की हर पंक्ति दूसरे से सर्वत्र मिली ही है ? जी नहीं। कहीं कोटि गन्दा, कहीं वाँदी वन्दा, कहीं तथ्थ कूजा तवेल्ला पसारा, कहीं तीर कम्माण दोक्कानदार, सराफे-सराफे भरे वेचि बाजू····। क्या "कहीं", इन सम्बन्धों की असम्बद्धता का प्रमाण नहीं है। सम्बद्ध मानें यदि तो क्या हीरा, लहसुनिया और फीरोजे को बहुत से गुलाम खरीद रहे थे, इसे सही मानें? और क्या ये चीजें तराजू से "तौलन्ति" (?) और लसूला के लहसुनिया अर्थ पर इतिहासकार एकदम मौन क्यों ? कोई प्रमाण, संदर्भ ? फीरोज़ा का पेआजू परिवर्तन कैसे ? क्या कीर्तिलता में कहीं "फीरोज़" शब्द दूसरे स्थान पर भी आया है ? हाँ, आया है—

पिय सख भणि पिअरोज साह सुरताण समानल

प्रथम पल्लव पं० ५६

पिअरोज साह—यानी फीरोज शाह। यहाँ भी फीरोज़ या फीरोज़ा का पेआजू हो जाना चाहिए था। पेआजू शाह ! संस्कृत टीकाकार ठीक ही कहता है:—**तोलयतो मांसं, लशुनं, गृजनं।**

६—तृतीय पल्लव पंक्ति १६१ **पक्ख न पाले पऊआ—**

"यदि सामान्य जन अपने पक्ष का पालन न करे।" ध्यान रखना चहिए कि यह पंक्ति उस स्थिति में लिखी गयी जब कीर्तिसिंह बहुत प्रयत्न करके भी बादशाह इब्राहिमशाह की कृपा-प्राप्ति न करने से निराश हो रहे थे और सेना तिरहुत की ओर पयान करने की जगह अन्यत्र जा रही थी। तभी अचानक उन्होंने बादशाह से भेंट की और सेना को तिरहुत की ओर कूच करने का हुक्म मिला। सुल्तान के प्रसन्न होने पर पृथ्वी मे ऐसा क्या है जो अलभ्य रह जाये। उसी समय कवि विद्यापति ने यह नीति दोहा कहा—

डॉ० अग्रवाल पउआ को प्राकृत से निष्पन्न मानते हैं। प्राकृत का अर्थ सामान्य है इसलिए पउवा का अर्थ सामान्य जन हुआ।

किन्तु सुलतान सामान्य जन कैसे ? और फिर 'पक्ष' शब्द का क्या अर्थ है। पक्ष का अर्थ दिया गया है—"वह नायक या प्रधान जिसके दल या जत्थे को किसी सामान्य व्यक्ति ने अपना बनाया हो।" और स्पष्ट करते हुए कहा गया

है—"आशय यह कि सामान्य जन या सिपाही जो अपने पक्ष के दल को पार लगाता है।" यानी पाले का अर्थ पालन करना ही नहीं पार लगाना भी है।

सीधा अर्थ है कि यदि प्रभु अपने पक्ष (तरफदार, जैसे मित्रपक्ष, शत्रुपक्ष आदि,) का पालन न करे। प्रभु>पहु (हेम. ३।३८) >पउ>पउवा। ह का लोप विद्यापति की भाषा में विरल नहीं है।

७—चतुर्थ पल्लव पंक्ति १०१—न पिउवा उपसम न जुझवा भंग

न यमराज (पितृपति) की दी हुई मौत आती थी न युद्ध में विनाश होता था। यह सही है कि इन पंक्तियों में उश्रृंखल तुर्क सैनिकों के दुष्ट स्वभाव का वर्णन है; किन्तु मृत्यु-कामना का क्या तात्पर्य ?

स्पष्ट ही इस पंक्ति में भी उनके स्वभाव का ही वर्णन है। अर्थ है, न तो वे पीने से (शराब पान करने से) कभी शान्त होते थे, और न युद्ध से कभी भागते थे। भग्न शब्द से ही भंग बना है और इसीका रूप भग्ग होता है। [देखिए हेम ४।३५१, ३७९, ३८०, २९८] पिउवा। पिआऊ पीने का स्थान में यही ध्वनि प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण में पीया के लिए पीउ आया है—

जेहि अडोहिउ पीउ ४।४३९

अन्त्य 'वा' मैथिली का बहु परिचित प्रत्यय है। कीर्तिलता में कहवा कवण उपाए [१।५४] में 'कहवा' में तथा 'विकाइवा काज' [२।११७] के 'विकाइवा' में यह परिलक्षित किया जा सकता है। लेखवा (देखवा) [सांग्स आव विद्यापति, वा प्रत्यय, पृष्ठ १७६] में भी यही प्रत्यय है। जुझवा भी इसे देखा जा सकता है।

८— पंक्ति १२०-१२१

अस पष एकचोई गणिअ न होइ सरइचा सरमाणा।
वारिग्गह मंडल दिग आखण्डल पट्टन परिठम माणा॥

ये पक्तियाँ काफ़ी क्लिष्ट थीं। मैंने अपने परिषद पत्रिका, जुलाई १९६३ के निबंधमें इन पंक्तियों के विषयमें लिखा था—"वारिगह तम्बुओं को कहते हैं। लगता है असपष, एकचोई, सरइचा, सरमाणा आदि तम्बुओं के प्रकार हैं। इन तम्बुओं के एकत्रीकरण से आखण्डल दिग पट्टन के परिष्ठव का भान होता था। आखंडल इन्द्र है और पूर्व उसकी दिशा है। पूर्वी दिशा का शहर (पट्टन) यानी शहरे मशरिक, जौनपुर।

डॉ० अग्रवाल ने अर्थ किया है–"आस पास लगे हुए एकचोई, सरइचा, और सरमाण नामक तम्बुओं की गिनती नहीं हो सकती थी। वारगाह और मण्डल नामक सुन्दर शामियानों से पूर्वी दिशा की राजधानी जौनपुर का यश प्रसिद्ध हो रहा था।" ऊपर की पंक्ति का पाठ छन्द कीा मात्राओं की दृष्टि से यह होना चाहिए :—

असपप एकचोई, गणिअ न होई सरईचा, सरमाण

विद्वान् लेखक ने इन पंक्तियों का बहुत ही सुन्दर अर्थ किया है। मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने "आखंडल दिग पट्टन" का अर्थ शहरे मशरिक यानी जौनपुर किया है। प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने अपने लेख में [परिषद पत्रिका, अक्तूबर १९६३] मेरे द्वारा सुझाये वे इस अर्थ का विरोध किया है। उन्होंने लिखा है "मुसलमान इतिहास ऐसा (जौनपुरको शहरे मशरिक) लिखते भी हैं, किन्तु मिथिला में रहने वाला विद्यापति जैसा हिन्दू कवि पश्चिमवर्ती शहर को शहरे मशरिक कहेगा, यह "इतिहास का एक मामूली विद्यार्थी" ही कह सकता है। [पृष्ठ १०५] विद्यापति ने मुसलमानी शासन के अनेकानेक पारिभाषिक शब्दोंका कीर्तिलता में प्रयोग किया है। उनका यह ज्ञान कितना सूक्ष्म है, यह कीर्तिलता का पाठक जानता है। "शहरे मशरिक" शुरू-शुरू में पूर्वी दिशा के नगर को पश्चिम में, दिल्ली आदि की तरफ रहने वालों ने कहा होगा; पर बाद में यह रूढ़ शब्द हो गया। अरब आदि देशों को अंग्रेज या योरप के लोग "मिडिल ईस्ट" मध्यपूर्व कहते थे। आज हिन्दी समाचार-पत्रों में इस मध्यपूर्व का प्रयोग धड़ल्ले से होता है जबकि हिन्दुस्तान के लिए यह पश्चिमवर्ती" क्षेत्र कहा जायेगा। जहाँ तक "इतिहास के मामूली विद्यार्थी" होने का प्रश्न है, मेरा ख्याल है कि अब यह निर्णय मुझसे ही सम्बद्ध नहीं रह गया है। प्रो० वीरेन्द्र जी को डा० अग्रवाल से बात-चीत करके यह निर्णय कर लेना चाहिए।

संक्षेप में ये कुछ थोड़े से उदाहरण दिये गये जहाँ अर्थ बहुत सटीक और आश्वस्तकारी प्रतीत नहीं होता। डॉ० अग्रवाल के संस्करण की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अवहट्ट शब्दों की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है! मेरी पुस्तक में 'अवहट्ट भाषा की मुख्य विशेषताएँ" और "कीर्तिलता की भाषा" वाले भाग में अवहट्ट शब्दों के व्याकरणिक महत्त्व पर विस्तार से विचार किया गया। वहीं यथासंभव व्युत्पत्ति भी दी गई है। डॉ० अग्रवाल ने देशी, कहीं कहीं, विशिष्ट तद्भव क्रियाओं के साथ धात्वादेश दिया। धात्वा-

देश मध्यकालीन संस्कृत वैयाकरणों की पद्धति थी। इस पद्धति के अच्छे-बुरे दोनों पहलू होते हैं। अच्छा पहलू तो यह है कि अपरिचित देशी क्रियाओं का अर्थ, जैसा उस काल में समझा जाता था स्पष्ट हो जाता है। बुरा यह है कि यह पूर्ण अवैज्ञानिक पद्धति थी जैसा कि पिशेल ने कहा था कि संस्कृत वैयाकरण प्रत्येक क्रिया को जो संस्कृत क्रियाओं या शब्दोंसे निष्पन्न नहीं हो पाती थी, देशी मान लेते थे और उसका संस्कृत धात्वादेश दे देते थे। धात्वादेशों के आधार पर देशी क्रियाओं का अध्ययन हमें किस दिशा में ले जा सकता है, इसका परिचय 'झूल' और उसके धात्वादेश 'आन्दोल' को आधार बनाकर किये गये अर्थ से मिल जाता है।

अन्त में यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि कीर्तिलता का यह संस्करण प्रकाशित करके डॉ० अग्रवाल ने अवहट्ठ पर कार्य करने वालों की प्रचुर सहायता की है।

■

कीर्तिलता के आधार पर विद्यापति का समय

●

भारत के अन्य बहुत से श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति का तिथिकाल भी अद्यावधि अनुमान का विषय बना हुआ है। यद्यपि विद्यापति का सम्बन्ध एक विशिष्ट राजघराने से था, और इस कारण वे मात्र कवि नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं, किन्तु अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध और महत्त्व-पूर्ण व्यक्तित्व के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, जिस पर मतैक्य हो सके।

विद्यापति की जीवन-तिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः जीवन-तिथि के निर्धारण का कार्य मात्र अनुमान का विषय रह जाता है। विद्यापति के पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गये थे। उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल से कम तो क्या रही होगी। कीर्तिलता से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण संवत् २५२ में असलान द्वारा मारे गये। इस आधार पर चाहें तो कह सकते हैं कि विद्यापति यदि उस समय दस बारह साल के थे तो उनका जन्म लक्ष्मण सम्वत् २४२ के आस-पास हुआ होगा। सबसे पहले श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने विद्यापति पदावली (बंगला संस्करण) की भूमिका में लिखा कि २३३ लक्ष्मण संवत् को राजा शिवसिंह का जन्म काल मान लेने पर हम मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण संवत् २४१ के आस-पास हुआ होगा। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवसिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्यापति अवस्था में इनसे दो साल बड़े थे। इसी के आधार पर विद्यापति का जन्म संवत् २४१ (लक्ष्मण) में अर्थात् ईस्वी सन् १३६० में हुआ, ऐसा मान लिया गया।

जन्म-तिथि निर्धारण के विषय में किसी बाह्य साक्ष्य के अभाव की अवस्था में हमें अन्तर्साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। कीर्तिलता पुस्तक से यह मालूम नहीं होता है कि यह विद्यापति की प्रारम्भिक रचनाओं में एक है। विद्यापति ने इस ग्रंथ में अपनी कविता को बालचन्द्र की तरह कहा है :

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ (२। ९-१२)

इस पद से ऐसा ध्वनित है कि इसके पहले विद्यापति की कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई थी। पर कवि की इन पंक्तियों से अपनी कविता के विषय में उसका विश्वास झलकता है और यह उक्ति यों ही कही गई नहीं मालूम होती। कवि कहता है कि यदि मेरी कविता रसपूर्ण होगी तो जो भी सुनेगा, प्रशंसा करेगा। जो सज्जन हैं, काव्य रस के मर्मज्ञ हैं, वे इसे पसन्द करेंगे; किन्तु जो स्वभावेन असूया-वृत्ति के हैं वे निन्दा करेंगे ही। इस निन्दा वाली पंक्ति से कुछ लोग सोच सकते हैं कि किसी प्रारम्भिक रचना की निन्दा हुई होगी। पर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा कोई नई बात नहीं, यह मात्र कवि परिपाटी है। यहाँ बालचन्द्र निष्कंलकता और पूजार्हता द्योतित करने के लिए प्रयुक्त लगता है।

अब यदि हमें कीर्तिलता के निर्माण का समय मालूम हो जाय तो हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि विद्यापति उस समय प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। कीर्तिलता के कथा-पुरुषों में कीर्तिसिंह मुख्य हैं। कीर्तिलता पुस्तक महाराज कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए लिखी गई थी। कीर्तिलता से यह भी मालूम होता है कि कीर्तिसिंह ने जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का राय प्राप्त किया जिसे लक्ष्मण सम्वत् २५२ में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का बध करके हस्तगत कर लिया था। इस कथा में दो घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की आती हैं। पहली तो असलान द्वारा राजा गणेश्वर का बध और दूसरी इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार।

लक्ष्मण सेन संवत् कब प्रारम्भ हुआ, इस पर भी विवाद है। इस समस्या पर कई प्रसिद्ध इतिहास-विशेषज्ञों ने विचार किया है; परन्तु अब तक कोई निश्चित तिथि पर सबका मतैक्य नहीं है। श्री कीलहार्न ने इस विषय पर बड़े परिश्रम के साथ विचार किया[1]। उन्होंने मिथिला की छः पुरानी पाण्डुलिपियों के आधार पर यह विचार दिया कि लक्ष्मण संवत् को १०४१ शाके या १११९ ईस्वी सन् में प्रथम प्रचलित मानने से पाण्डुलिपियों में अंकित

१. इंडियन एंटिक्वैरी भाग १९, सन् १८९० ई० पृष्ठ ७

तिथियाँ प्रायः ठीक बैठ जाती हैं । छः पाण्डुलिपियों में एक को छोड़ कर बाकी की तिथियों में कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती । पश्चात् श्री जायसवाल ने डेढ़ दर्जन के लगभग प्राचीन मैथिल पाडुलिपियों की जाँच करके यह मत दिया कि लक्ष्मण सेन संवत् में ११११ जोड़ने पर हम तत्कालीन ईस्वी साल का पता लगा सकते हैं । उन्होंने यह भी कहा कि ऊपर की संख्या केवल कर्णाट या ओइनीवार वंश तक के ऐतिहासिक काग़ज़-पत्रों की तिथियों के लिए ही सही है । वाद की ऐतिहासिक तिथियों की जानकारी के लिए उक्त संख्या में क्रमशः दो वर्ष कम कर देना होगा यानी जायसवाल के मत से १५३० ईस्वी के पहले की तिथियों के लिए लक्ष्मण संबत् में ११११ जोड़ने से तत्कालीन ईस्वी सन् का पता लगेगा परन्तु बाद की तिथियों के लिए ११०८-९ जोड़ना आवश्यक होगा ।[1] बहुत से विद्वान् लक्ष्मण संवत् का प्रारम्भ ११०६ में ही मानते हैं । इस तरह ११०६ से ११११ तक के काल में अनिश्चित ढंग से कभी लक्ष्मण संवत् का आरम्भ बताया जाता है । ऐसी स्थिति में २५२ लक्ष्मण यानी राजा गणेश्वर की मृत्यु का वर्ष १३५८ ईस्वी से १३७१ के बीच में पड़ेगा ।

दूसरी ऐतिहासिक घटना इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार है । जौनपुर में इब्राहिम शाह नाम का मुसलमाम शासक अवश्य था और उसका राज्य काल भी निश्चित है । १४०२ ईस्वी में इब्राहिम शाह गद्दी पर बैठा । तभी कीर्तिसिंह के आवेदन पर वह तिरहुत में असलान को दण्ड देने गया होगा । अतः इब्राहिम शाह के तिरहुत जाने का समय १४०२ ईस्वी के पहले नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है ।

ज्यादा से ज्यादा १३७१ में गणेश्वर राय की मृत्यु और उसके ३१ वर्ष के बाद इब्राहिम शाह का मिथिला आगमन बहुत से विद्वानों को खटकता है । इस-लिए इस व्यवधान को समाप्त करने के लिए कई तरह के अनुमान लगाए जाते हैं ।

सबसे पहले डा० जायसवाल[1] को यह व्यवधान खटका और उन्होंने इसको दूर करने के लिए एक नया उपाय निकाला । कीर्तिलता में २५२ लक्ष्मण संवत् की सूचना देने वाला पद्य निम्न प्रकार है ।

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पप्ख पञ्च वे (की २।४)

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ किया था कि जब लक्ष्मण

---

1. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृष्ठ २० एफ० एफ०

सेन का २५२ लिखित हुआ। जायसवाल ने इसे ठीक नहीं माना और उन्होंने 'ज बे' का अर्थ ५२ किया और इसे २५२ में जोड़कर इस वर्ष की संख्या ३०४ लक्ष्मण सेन ठीक किया अर्थात् १४२३ ईस्वी।[1]

'ज बे' स्पष्टरूप से समय सूचक क्रियाविशेषण अव्यय है, इसे खींचतान करके वर्ष-गणना का माध्यम बनाना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः जो समय व्यवधान जायसवाल को खटक रहा था, वह सत्य था और ३१ वर्ष के बाद ही इब्राहिम शाह तिरहुत आया, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती। उलटे जायसवाल जी की नई गणना से कई ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उन्हीं के बताए काल को सही मानें तो राजा कीर्तिसिंह १४२३ या २४ ईस्वी में गद्दी पर बैठे होंगे। ऐतिहासिकता यह है कि राजा शिवसिंह को २९१ लक्ष्मण संवत् में राजाधिराज कहा गया है। यदि गणेश्वर ३०४ लक्ष्मण संवत् में मरे, जब कि वे स्वयं राजाधिराज थे, तो शिवसिंह का उनके पहले राजाधिराज हो जाना असत्य हो जाता है।

इधर समय के इस व्यवधान पर डा० सुभद्र झा ने भी गंभीरता से विचार किया है।[2] उन्होंने डा० जायसवाल के मत को ठीक नहीं माना है और लक्ष्मण संवत् २५२ में राजा गणेश्वर की मृत्यु स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने कहा है मृत्यु के बाद ही कीर्तिसिंह अपने भाई के साथ अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिए इब्राहिम शाह के पास गए। चूँकि जौनपुर में इब्राहिम शाह नामक कोई शासक १४०२ के पहले नहीं हुआ इसलिए डा० सुभद्र झा ने माना है कि कीर्ति सिंह जौनपुर नहीं जोनपुर गए जो लिपिकार की ग़लती से जोइ-निपुर के स्थान पर लिख गया है। उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन की रचना [टेस्ट आव् मैन, टेल्स नं० २-४१] में प्रयुक्त 'योगिनीपुर को' जिसे ग्रियर्सन ने पुरानी दिल्ली कहा है, जोनापुर का सही रूप बताया है। डा० सुभद्र झा को योगिनीपुर के पक्ष में कीर्तिलता में ही प्रमाण भी मिल गया।

पेख्खिअउ पट्टन चारु मेखल जञोन नीर पखारिआ (की० २।७९)

श्री झा का कहना है कि इस पंक्ति में 'जञोन' शब्द का अर्थ यमुना है। विद्यापति के पदों में 'जउनि' और 'जमुनि' दो शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ यमुना

---

१. जायसवाल, दि जर्नल आव् बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भाग १३, पृ० २९९।

२, सुभद्र झा, सांग्स आव् विद्यापति, भूमिका, पृष्ठ ४१-४३।

है। ऐसी स्थिति में उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—"नगर, जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला की तरह मालूम होता था।" तय है कि ऐसी अवस्था में यह शहर जौनपुर नहीं हो सकता। यह अवश्य दिल्ली था किन्तु दिल्ली में डॉ० झा को उस समय के किसी इब्राहिमशाह का पता नहीं चला इसलिए उनका कहना है कि इब्राहिमशाह अवश्य फीरोज़ तुगलक का कोई अप्रसिद्ध सेनापति रहा होगा। फीरोज़शाह और भोगीश्वर का सम्बन्ध भी यहाँ एक प्रमाण हो सकता है (कीर्ति०) किन्तु कीर्तिसिंह ने कीर्तिलता में कई जगह इब्राहिमशाह को 'बादशाह' या 'सुल्तान' कहा है, फिर एक अप्रसिद्ध सेनापति को ऐसा कहना ठीक नहीं मालूम होता। इस कठिनाई को श्री झा ने दूर कर दिया है। उनका कहना है कि आदर के लिए ऐसा कहा जा सकता है। जैसा मिथिला में राजा के भाई, या राजघराने के किसी व्यक्ति को 'राजाधिराज' कह दिया जाता है।

इस तरह झा के मत से जोनापुर, योगिनीपुर (पुरानी दिल्ली) था जो जञोन (यमुना) के नीर से प्राक्षालित था और जहाँ फीरोज़शाह बादशाह था जिसका सेनापति कोई अप्रसिद्ध इब्राहीमशाह था जिसे कीर्ति सिंह आदर के लिए बादशाह भी कहा करते थे।

इस दूरारूढ़ कल्पना के लिए डॉ० सुभद्र झा के पास दो आधार हैं। पहला ग्रियर्सन के टेस्ट आव् मैन की दो कहानियों में आया योगिनीपुर शब्द जिसे उन्होंने पुरानी दिल्ली का कथा कहानियों में आने वाला नाम या कुछ ऐसा ही कहा होगा। अगर मान भी लें कि यह योगिनीपुर दिल्ली का ही उस समय का नाम है तो फिर इसका 'जोनापुर' हो जाना अवश्य कठिन है।

अब रहा शब्द 'जञोन' जिसे डॉ० झा ने यमुना कहा है। प्राकृत में यमुना का 'जउँणा' हो जाता है। (प्राकृत व्याकरण ४।१।१७८) इसलिए 'जञोन' हो सकना नितान्त असम्भव तो नहीं है। पर देखना होगा कि वस्तुतः यह शब्द है क्या ? कीर्तिलता में एक पंक्ति आती है :—

फरमान भेलि, कञोण साहि (३ । २०)

यहाँ 'कञोण' का अर्थ है कौन। जिसका अपभ्रंश में कवण रूप मिलता है। कीर्तिलता में ही कवण (१ । १३) कमण (२ । २५३) रूप मिलते हैं। यह कञोन ∠ कवण ∠ कः पुनः का विकसित रूप है।

इसी तरह 'जञोन' जिसका अर्थ है जौन यानी जो। 'जवन' का प्रयोग तो आज भी पूर्वी हिन्दी में पाया जाता है। कवण कओन की तरह ही जवण, जञोन रूप भी मिलते हैं। ऐसा ही एक शब्द और है।

जेओन दरवार मेओणे (२/२३९) यानी जिस दरबार में। बाबूराम सक्सेना ने इसकी व्युत्पत्ति (जेओन ∠ जेमुना) से की है।

इस तरह हमने देखा कि यहाँ जेओन का अर्थ यमुना नदी नहीं है। 'ख' प्रति में तो स्पष्टतः जौन लिखा हुआ है।

इब्राहिम शाह की जैसी निराधार कल्पना डॉ० सुभद्र झा ने की है, वह तो हास्यास्पद कोटि तक पहुँच जाती है। कीर्तिलता में जिस इब्राहिम शाह का जिक्र है वह जौनपुर (उत्तर प्रदेश) का प्रसिद्ध इब्राहिम शाह ही था। राजा गणेश्वर की मृत्यु १३७१ ई० में हुई और कीर्तिसिंह इब्राहिम शाह को १४०२ ई० में तिरहुति ले आए, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं है। ३१ वर्ष के मध्यान्तरित समय में कीर्तिसिंह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे, और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी अपेक्षा होती है। उस समय की मिथिला के विषय में विद्यापति ने लिखा है कि चारों ओर अराजकता फैली थी। ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गए, काम-धन्धे ठप्प हो गए, जाति-अजाति में शादियाँ होने लगी, कोई काव्य रस का समझने वाला न रहा। कवि लोग भिखारी होकर इधर-उधर घूमते रहे। जाहिर है ऐसी अवस्था तुरन्त नहीं हो जाती। इस तरह के सांस्कृतिक विनिपात में कुछ समय लगता ही है। इस तरह की संस्कार-हीनता एक साल में ही नहीं हो जाती, तय है कि इस प्रकार तिरहुत से गुणों के तिरोहित होने में कुछ समय लगा होगा।

अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कवि कुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा' गणेस जब सग्गा गउँ

(२/१४-१५)

विद्यापति भी उस समय छोटे रहे होंगे; जौनपुर के वर्णन से लगता है कि विद्यापति ने भी नगर देखा था, सम्भवतः राजा के साथ गए हों, क्योंकि जौनपुर का ऐसा बिम्बपूर्ण चित्रण बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के संभव नहीं है। ये सब दस-ग्यारह वर्ष के विद्यापति से तो कभी संभव नहीं हो सकता। मेरा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की अवस्था तीस-पैंतीस के आस-पास रही होगी, इसी से मैंने पहले ही कहा कि कीर्तिलता को प्रथम रचना मानना ठीक नहीं है।

इस दिशा में 'सर्च रिपोर्टों' के अनुशीलन के समय मुझे लक्खनसेनि कवि की कुछ पंक्तियाँ दिखाई पड़ीं। लक्खनसेनि कवि का रचना काल १४८१ सम्वत् दिया हुआ है यानी १४२४ ईस्वी। रचनाकार जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह का

समकालीन है, और उसने बादशाह के प्रताप की प्रशंसा भी की है, यही नहीं तत्कालीन भारत की अवस्था का जो चित्रण लक्खनसेनि ने खींचा है वह आश्चर्य-जनक रूप से विद्यापति के वर्णन से मेल खाता है —

बादशाह जे वीराहिमसाहीं, राज करइ महि मंडल माही
आपुन महाबली पुहुमी धावै, जउनपुर मँह छत्र चलावै
सम्वत चौदह सइ एकासी, लक्खनसेनि कवि कथा प्रगासी

'जउनपुर' के इब्राहिम शाह का काल १४२४ ईस्वी तक तो था ही। इसी के साथ लक्खनसेनि कुछ और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का ज़िक्र करता है।

जैदेव चले सर्ग की बाटा, औ गए घघ सुरपति भाटा
नगर नरिंद्र जे गए उनारी वीद्यापति कइ गए लाचारी

इन पंक्तियों से लगता है कि १४२४ ईस्वी तक विद्यापति का शायद स्वर्गवास हो गया था, क्योंकि उनका नाम जयदेव और घाघ के साथ ही कवि ने लिया है और जयदेव को तो स्पष्ट ही 'स्वर्ग की बाट' गए लिखा है। किन्तु इस तिथिकाल को विद्यापति का अन्तिम समय मानने में कठिनाई दिखाई पड़ती है। फिर भी यह एक विचारणीय सवाल तो है ही। वैसे कहा जाता है विद्यापति ने लक्ष्मण सम्वत् २९९ यानी १४१८ ईस्वी में राजा पौरादित्य के लिए 'लिखनावली का निर्माण किया और यहीं ३०९ लक्ष्मण सम्वत् यानी १४२८ ई० में भागवत की एक प्रति लिखना समाप्त किया। यहाँ ईस्वी सन् को १११९ जोड़कर निश्चित किया गया है। और इस तरह लक्खनसेनि का १४२४ वाला काल ठीक नहीं बैठता। विद्वानों ने इस दिशा में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विचार किया है, इसी दिशा में मैं भी एक प्रमाण लक्खनसेनि का प्रस्तुत करता हूँ, अस्तु।[1]

■

१. लखनसेनि की रचना हरिचरित्र विराट पर्व का वर्णन १९४४-४६ की सर्च रिपोर्ट (नागरी-प्रचारिणी सभा, अप्रकाशित) में दिया हुआ है। रिपोर्ट का अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा भी है।

कीर्तिलता का साहित्यिक मूल्याङ्कन

मध्यकालीन कवियों में विद्यापति का व्यक्तित्व अपने ढंग का अनोखा है। विक्रम की बारहवीं शताब्दी से १६वीं तक का चार सौ वर्षों का समय भारतीय वाङ्मय का सर्वाधिक प्रभा-दीप्त और महिमा-मण्डित काल है। इन शताब्दियों के संस्कृत साहित्य में जब कि चमत्कार और कुतूहल को ही कवि-कर्म की इयत्ता मान लिया गया, दार्शनिक ज्ञान से आकुंठित साहित्य प्रतिभा जन धारा से विच्छिन्न होने लगी, शाब्दिक कौशल और शास्त्रों के पृष्ठ-पेषण को ज्यादा महत्त्व दिया जा रहा था, तभी अपभ्रंश एवं अन्य जन-भाषाओं में एक नवीन प्रकार के साहित्य का उदय हो रहा था जिसमें धरती के स्वरों का स्पन्दन सुनाई पड़ता था, मानवीय सुख-दुःख की व्यंजना होती थी, और सरल-सस्मित ढंग से मनुष्य के हृदय की बात को स्वर देने की कोशिश की जाती थी। १२वीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य के कुछ स्वच्छन्द कवियों जयदेव आदि ने इस जनप्रभाव को ग्रहण किया जिससे संस्कृत वाङ्मय में भी इस सोंधी गंध की एक लहर दिखाई पड़ी। मध्यकालीन भारतीय साहित्य के अध्येता के सामने भाषा-कवियों की एक ऐसी कतार दिखाई पड़ती है जो हमारे वाङ्मय के मंच पर तो अद्वितीय है ही, विश्वसाहित्य में भी एक साथ इतने श्रेष्ठ कलाकार उत्पन्न हुए, इसमें सन्देह है। बंगाल में चण्डीदास, असम में शंकर देव, बिहार में विद्यापति, मध्यदेश में कबीर, सूर और तुलसी, राजस्थान में मीराँ, गुजरात में नरसी मेहता इस साहित्य-उत्थान के प्रेरक थे। इनमें 'को बड़ छोट कहत अपराधू' सभी का व्यक्तित्व एक से एक बढ़कर आकर्षक और मोहक है; फिर भी अपनी कविता की अतीव मृदुता, जन जीवन के अन्तर्तम में सोए मधुर भावों को जगाने की क्षमता, और हजारों मनुष्यों के कंठ में कूक उत्पन्न करने की शक्ति के कारण विद्यापति का व्यक्तित्व इन सबमें सर्वाधिक रोमेंटिक और गत्वर है। विद्यापति के गीतों ने तत्कालीन जनता के म्रियमाण मन को जीने की ताकत दी, उन्होंने जीवन के ताजे स्वरों को पहचाना और उन्हें अपनी मधुरा भाव-धारा में पखार कर दिव्यता प्रदान की।

कीर्त्तिलता भी विद्यापति की ही कृति है। किन्तु गीतों के रस में पगा पाठक एक बार तो शायद यह विश्वास भी न कर सकेगा कि 'कीर्तिलता' को

गीतकार विद्यापति ने ही लिखा है। किन्तु 'अवहट्ट' की हठीली शब्द-योजना के भीतर प्रवेश करने पर किसी भी सहृदय को 'गीतों के गायक' को पहचान सकना कठिन न होगा। जीवन की समष्टि और समग्रता कल्पना के एक क्षण की तुलना में कठोर-क्रूर होती ही है, और कवि के लिए तो यह सहसा एक चुनौती भी है कि उसकी विधायिका शक्ति इन तमाम क्रूरताओं-कठोरताओं को कैसे अभिव्यक्ति दे पाती है। इस दृष्टि से कीर्तिलता के पाठक को एक नए तरह के रस का आस्वाद मिलेगा। इसमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। विद्यापति का भावुक कवि जैसे कीर्तिलता में जीवन के वास्तविक धरातल पर उतर आया है। और यथार्थ का यह धरातल एक बार के लिए कवि के मन में भी आशंका का बीजारोपण कर ही देता है : फिर भी उनके मन को विश्वास है कि चाहे असूया-वृत्ति के दुर्जन इस काव्य की निन्दा ही क्यों न करें, काव्य-कला के मर्मी इसकी अवश्य प्रशंसा करेंगे।

का परबोधञो कबण मणावञो। किमि नीरस मने रस लए लावञो॥
जइ सुरसा होसइ मझु भासा। जो बुज्झिइ सो करिह पसंसा॥

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल

शंकर के मस्तक पर सुशोभित द्वितीया के चन्द्रमा की तरह विद्यापति की यह कृति प्रशंसित होगी, ऐसा कवि का विश्वास है और इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह विश्वास आधार-हीन नहीं है।

कीर्त्तिलता का काव्य-रूप

मध्यकाल के साहित्य में वृत्तान्त-कथन की तीन प्रमुथ शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। परवर्ती संस्कृत साहित्य के चरित काव्य या ऐतिहासिक काव्यों की शैली, दूसरी कथा-आख्यायिकाओं की शैली और तीसरी प्रेमाख्यानकों की मसनवी शैली जो पूर्णतः विदेशी प्रभाव से विकसित हुई थी।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की शैली भी बहुत प्राचीन नहीं मालूम होती। विद्वानों की धारणा है कि ६वीं ७वीं शताब्दी के आस-पास मुसलमानों के सम्पर्क से इस प्रकार की शैली का उदय हुआ। यह सत्य है कि पिछले खेवे में जिस प्रकार के ऐतिहासिक काव्य लिखे गए वैसे काव्य पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं मिलते किन्तु इतिहास को कल्पना और अतिशयोक्ति के आवरण में ही सही, काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घट-

नाओं को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया, बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुतः ऐतिहासिक काव्यों का उदय सामन्तवाद की देन है। भारत में भी ईसा की दूसरी शताब्दी से ही राजस्तुतिपरक रचनाओं का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी शती तक के काल को अँधेरा युग कहा है क्योंकि उनको इन शताब्दियों में अच्छे काव्य का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डाक्टर व्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमें कोई वैसा काव्य नहीं मिल सका है किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार का शिलालेख (ई० १५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्रगुप्त ३५० ई०) जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ में लिखी वत्सभट्टि की मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर संकेत करती हैं। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोकों में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है वह महत्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमें भाव, भाषा सभी कुछ उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इतना तो सत्य है कि बाणभट्ट के हर्षचरित के पहले इस प्रकार के स्तुतिपरक ऐतिहासिक काव्यों का कोई सन्धान नहीं मिलता। हर्षचरित को भी वास्तविक अर्थ में काव्य नहीं कह सकते, यह आख्यायिका है। संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) है जिसमें धारानरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारी के विवाह की कथा वर्णित है। चालुक्य वंशी नरेन्द्र विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के सभा कवि विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रयदाता के चरित्र तथा उसके वंश का वर्णन किया है। इसके बाद तो ऐतिहासिक काव्यों की एक परम्परा ही चल पड़ी और चरित्र, विजय, विलास आदि नामों से कई ऐतिहासिक काव्य लिखे गए जिनमें कल्हण की 'राजतरंगिणी' (१०५० ई०), हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित्र' (१०८९ ई० ११७३ ई०) वस्तुपाल के सभा कवि सोमेश्वर

की कीर्ति कौमुदी (११७९-१२६२) अरिसिंह का 'सुकृत संकीर्तन' (वस्तुपाल) आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रसूरि ने चौदह सर्गों में 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखा तथा १६ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अकबर के सामान्त राजा सुरजन की प्रशंसा में गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने 'सुरजन चरित' की रचना की। इसी तरह विजयनगर के नरेशोंकी प्रशंसा में राजनाथ डिंडिम ने 'अच्युतरायाभ्युदय', तथा कम्पराय की रानी गंगादेवी ने अपने पति की प्रशंसा में 'मधुराविजय' का प्रणयन किया। जयानक की लिखा 'पृथ्वीराज विजय' की भी एक अधूरी प्रति मिली है जो ओझा जी द्वारा सम्पादित होकर अजमेर से प्रकाशित हुई है।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की यह परम्परा थोड़ी-बहुत परिवर्तित रूप में प्राकृत और अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। यशोवर्मा के सभापंडित वाक्पतिराज का 'गउडवहो' अपनी शैली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। अप-भ्रंश के रासो ग्रन्थ भी एक प्रकार के ऐतिहासिक काव्य ही हैं यद्यपि इनमें कल्पना का रंग ज्यादा गाढ़ा है।

कीर्त्तिलता भी एक ऐतिहासिक काव्य है। कवि विद्यापति ने अपने आश्रय-दाता कीर्त्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए इस काव्य की रचना की। यह एक चरित-काव्य है।

राय चरित्त रसालु यहु णाह न राखहिं गोइ
कवन वंस को राय सो कित्ति सिंह को होइ

भृंगी के इस प्रश्न पर भृंग ने कीर्तिसिंह के चरित्र का उद्घाटन किया। कीर्तिलता एक छोटी सी रचना है इसलिए इसमें चरित काव्यों की तमाम प्रवृत्तियों का मिलना कठिन है। मध्यकालीन चरित काव्यों में कथानक रूढ़ियों का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार की कथानक रूढियों में एकाध ही कीर्तिलता में मिलती हैं। उदाहरण के लिए कीर्तिलता संवाद-पद्धति पर लिखी गयी है, भृंगी शंका करती है, भृंग उसका उत्तर देता है। रासो के शुक-शुकी सम्वाद की तरह यह भी संवाद है किन्तु यहाँ भृंग-भृंगी वक्ता श्रोता के रूप में ही बने रहते हैं, नायक की आपद-विपद में सहायता करने के लिए दौड़ते नहीं। इस प्रकार यद्यपि विद्यापति ने एक बहुत प्रचलित रूढ़ि का सहारा लिया है किन्तु उसे खींचकर अस्वाभाविकता की सीमा तक ले जाना स्वीकार नहीं किया।

मध्यकाल के तमाम चरित काव्यों में कीर्तिलता का स्थान इसलिए विशिष्ट है कि लेखक ने कल्पना और अतिरंजना का कम से कम सहारा लिया है ऐतिहा-सिक घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति जितना सतर्क विद्यापति दिखाई

पड़ते हैं, उतना उस काल का दूसरा कोई कवि नहीं। ऐसा नहीं कि उन्होंने नायक की युद्ध-वीरता आदिके वर्णन में अतिरंजना का सहारा लिया हो नहीं है, लिया है और खूब लिया है, किन्तु कथा के नियोग में अस्वाभाविक घटनाओं का कहीं भी समावेश नहीं किया गया है। केवल रूढ़ियों के निर्वाह के लिए या पाठकों को कथा-रस का आनन्द देने के लिए अवान्तर घटनाओं, प्रेम-व्यापार, भूत-परियों, आदि का इसमें कहीं भी स्थान नहीं है। चरित-काव्यों की तरह इसमें भी आरंभ में सज्जन-प्रशंसा और खल-निन्दा के रूप में कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं—

सुअण पसंसइ कव्व मझु दुज्जन बोलइ मन्द
अवसओ विसहर विस बमइ अमिअ विमुक्कइ चन्द

सज्जन पुरुष चन्द्रमा की तरह हैं जो अमृत-वर्षण करते हैं किन्तु खल तो विषधर है उनका काम ही विष-वमन करना है; किन्तु

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहीं लग्गइ दुज्ज न हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ

कवि को अपनी प्रतिभा पर अटूट विश्वास है, वह जानता है कि द्वितीया के निष्कलंक चन्द्रमा पर दुर्जन का उपहास नहीं लग सकता वह तो शंकर के मस्तक पर सुशोभित होगा ही।

खल निन्दा और सज्जन-प्रशंसा आदि की परिपाटी पूर्ववर्ती काव्यों में तो है ही, तुलसी के मानस आदि परवर्ती काव्यों में भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्यों में मुख्य रूप से आखेट, प्रेम और युद्ध का वर्णन होता है। कीर्तिलता में अधिकांश युद्ध या युद्ध के लिए उद्योग का ही वर्णन हुआ है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि संभवतः कीर्तिपताका में प्रेम-आखेट आदि का वर्णन हुआ हो। उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता; यद्यपि पुस्तक में कुछ प्रारंभिक पन्ने जो प्राप्त हैं इसी बात की ओर संकेत करते हैं। उनमें युद्ध की भूमिका नहीं, शान्ति की भूमिका दिखाई पड़ती है।

मध्यकालीन साहित्य में वृतान्त-कथन की दूसरी शैली कहानी या आख्यायिका की है। कीर्तिलता को लेखक ने 'कहाणी' कहा है :

पुरिस कहाणी हओ कहओ जसु पत्थावे पुन्न
सुक्ख सुभोअण सुमवअण देवहा जाइ सपुन्न

मैं उस पुरुष की कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्तार से पुण्य होता है, सुख, सुभोजन शुभ वचन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

लेखक ने इसे कहानी ही नहीं कहा है बल्कि आख्यानों के अन्त में दिये महात्म्य की तरह इस कहानी के सुनने के फायदे भी बताए हैं।

आजकल कथा, कहानी, आख्यायिका का प्रयोग हम सदृशार्थक शब्दों की तरह करते हैं। किन्तु मध्यकाल में इनके अर्थ में अन्तर था। कथा शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अलंकृत काव्य-रूप के लिए भी होता था। वैसे कोई भी कहानी या सरस वृत्तान्त कथा है; किन्तु इस शब्द के अन्दर एक खास प्रकार के काव्य-रूप का भी अर्थ नियोजित मालूम होता है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने सरस गद्य में लिखी हुई कहानी को आख्यायिका कहा है। भामह ने यह भी कहा कि आख्यायिका के दो प्रकार होते हैं, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका गद्य में होती थी और इसे नायक स्वयं कहता था जब कि कथा को कोई भी कह सकता था। आख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और उसमें वक्त्र और उपवक्त्र छन्द होते थे किन्तु कथा में इस तरह का कोई नियम न था।

> अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा
> इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल
> नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा
> स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः
> अपित्वुनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरूदीरणात्
> अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्
> वक्त्रं चापवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्
> चिह्नमाख्यायिकाश्चैतत् प्रसंगेन कथास्वपि
>
> (काव्यादर्श १-२३-२८)

संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि से आख्यायिका और कथा गद्य में लिखी जानी चाहिए किन्तु अपभ्रंश या प्राकृत में इस तरह का कोई बन्धन न था। इसी से संस्कृतेतर इन भाषाओं में कथायें प्रायः पद्य में लिखी हो मिलती हैं। इन कथाओं को चरित काव्य भी कहा गया है। अपभ्रंश भाषा के चरित काव्यों में गद्य का एक प्रकार से अभाव दिखाई पड़ता है। कुछ ग्रंथ अवश्य इसके अपवाद भी हैं। संभव है कि संस्कृत की पद्धति पर कुछ लेखकों ने पद्य-गद्य दोनों में अर्थात् चम्पू काव्य में कथाएँ लिखीं।

जो हो, प्रचलित चरित काव्यों से कीर्तिलता इस अर्थ में थोड़ी भिन्न है और उसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। कथा काव्य की तरह विद्यापति ने भी इस रचना के गद्य खण्डों को भी काफी सरस और अलंकृत बनाने का प्रयत्न किया है। कथा काव्यों में राज्यलाभ, कन्याहरण, गन्धर्व विवाहों की प्रधानता रहती है; किन्तु कीर्तिलता में केवल राज्यलाभ का ही वृत्तान्त दिया गया है। इस तरह कीर्तिलता में कथा-काव्य के कई लक्षण नहीं भी मिलते। इसी आधार पर द्विवेदी जी का कहना है कि विद्यापति ने जान-बूझ कर कीर्तिलता को कथा न कहकर 'कहाणी' कहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर कीर्तिलता मध्यकालीन चरितकाव्यों या ऐतिहासिक किंवा अर्ध ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में गिनी जाती है दूसरी ओर इसमें 'कथा' का भी रूप न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। वस्तुतः कीर्तिलता में मध्यकालीन काव्यों की कई विशेषताएँ, नगर वर्णन, युद्ध वर्णन आदि के प्रसंग में दिखाई पड़ती हैं, कवि ने समयानुकूल इसमें वर्णन की दृष्टिसे छन्दों का भी उचित प्रयोग किया है, साथ ही अपभ्रंश काव्यों की रुढ़ियाँ, कवि-समय आदि इसमें सहज रूप से प्राप्त होते हैं।

कीर्तिलता काव्य, जैसा कहा गया कीर्तिसिंह के जीवन के हिस्से यानी युद्ध और राज्यलाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया। लक्ष्मण सम्वत् २५२ में (ईस्वी सन् १३७१ के आस-पास) राजलोभी मलिक असलान ने तिरहुत के राजा गणेश्वर का धोखे में बध कर दिया। राजा के बध से तिरहुत की हालत अत्यन्त खराब हो गई। चारों ओर अराजकता फैल गई। कवि ने इस अवस्था का बहुत ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया है –

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ
दास गोसाञिनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परभविअ कोइ नहिं होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम काँ पारक
अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ

राजा के बध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने गणेश्वर का राज्य उनके पुत्रों को दे देना चाहा किन्तु पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को कीर्तिसिंह ने स्वीकार नहीं किया। वे अपने भाई वीरसिंह

के साथ जौनपुर के सुल्तान इब्राहिम शाह के पास चले। बड़ी कठिनाई से दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। जौनपुर क्या था लक्ष्मी का विश्राम स्थान और आँखों के लिए अत्यन्त प्रिय। कवि विद्यापति ने जौनपुर का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है। बाग-बगीचे, मकान, रास्ते, रहटबाट, पुष्करिणी, संक्रम, सोपान, और हजारों श्वेत ध्वजों से मंडित स्वर्ण कलश वाले शिवालयों के विशद वर्णन से कवि ने नगर को साकार रूप दे दिया है। यही नहीं, उन्होंने नगर की बारीक-बारीक बातों का ब्योरेवार वर्णन उपस्थित किया है। गलियों में कर्पूर, कुंकुम, सौगन्धिक, चामर, कज्जल आदि बेचने वालों के साथ ही कास्य के व्यापारियों की वीथी जो बर्तन गढ़ने की 'क्रेंकार' ध्वनि से गूंजती रहती थी जिसके साथ और भी मछहटा पनहटा आदि बाजार के हिस्सों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। नगर के चौड़े-चौड़े रास्तों का जनसंमर्दन लगता था जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उमड़ पड़ा हो।

नगर का वर्णन विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। तत्पश्चात् विद्यापति ने मुसलमानों के रहन-सहन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। उनकी आँख के सामने से कोई भी चीज छूट कर बच नहीं सकी। विद्यापति के मन में इनके प्रति सहज विरक्ति है, इनके वर्णन में भी कहीं-कहीं उनके मनका क्षोभ व्यक्त हो जाता है। खासतौर से उनकी गन्दी आदतें, शराब, कबाब, प्याज का उन्होंने थोड़ा घृणा-युक्त वर्णन किया है। विद्यापति के शब्दों में एक राजकर्मचारी तुर्क का स्वरूप देखिए :

> अति गह सुमर षोदाए खाए ले भाँग क गुण्डा
> बिनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुण्डा
> तुरक तोषारहिं चलल हाट ममि हेडा चाहइ
> आडी दीठि निहार दवलि दाढी थुक वाहइ

अंतिम पंक्तियों में तो तुर्क की उन्होंने दुर्दशा ही कर दी है जो घोड़े पर सवार होकर बाजार में घूम कर हेडा (कर या गोस्त) मांगता है, क्रुद्ध दृष्टि से देखकर दौड़ता है तो उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है।

उस प्रकार के क्रूर शासनकाल में एक संस्कारी हिन्दू के मन की ग्लानि का स्वरूप देखिए :

> **धरि आनए वामन बटुआ, मथा चढ़ावए गाइक चुडुवा**
> **फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावए चाह घोर**

धोआ उरिधाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध
गोरि गोमर पुरिल मही, पएरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दुहिँ गोट्टओ गिलिए हल तुरुक देखि होए भान
अइसेओ जसु परतापे रह चिर जीवतु सुलतान

ब्राह्मण-बटुक को पकड़कर लाता है और उसके माथे पर गाय का शुरुवा रख देता है। चन्दन का तिलक चाट जाता है, माथेपर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है। धोए नीवार-धान से मदिरा बनाता है और देवालय तोड़कर मस्जिद खड़ा करता है। कब्रों और कसाइयों से धरती पट गई है, पैर देनेकी भी जगह नहीं। तुर्कों को देखने से लगता था कि हिन्दुओं को पूरा का पूरा चबा जायेंगे—फिर भी जिस सुलतान के प्रताप में ऐसा होता था, वे चिरजीवी हों।

जिस सुल्तान के पास विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह सहायता माँगने गए थे, इसी सुलतान के राज्य में यह सब कुछ होता था। लक्खनसेनि ने भी तत्कालीन परिस्थित का बड़ा मज़ेदार वर्णन किया है।

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज छाँड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, घोट बइदि नहीं चीन्हे बियाधी
कुंजर बाँधे भूखन मरई, आदर सो घर सेइ चराई
चंदन काटि करील जे लावा, आँव काटि बबूर वोआवा
कोकिल हँस मँजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपाली
सारीव पंख उपारि पालै तमचुर जग संसार
लखनसेनि ताहने बसे काढ़ि जो खांहि उधार[1]

गणेश्वर की मृत्यु हो जाने पर विद्यापति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। लखन-सेनि भी अन्त में अपना क्षोभ रोक नहीं पाता। कहता है कि सारिकाओं की पाँखें उखाड़ते हैं और घरोंमें मुर्गियाँ पालते हैं।

इब्राहिम शाह जिसके द्वार पर संसार भर के राजे प्रणिपात करते हैं और वर्षों दर्शन नहीं पाते, दोनों भाइयों पर कृपा करता है और असलान को पकड़ने के लिए सेना लेकर चलता है। किन्तु कारणवश सेना जो पूरब के लिए चली थी पश्चिम की ओर बढ़ जाती है, उस समय दोनों राजकुमारों की दशा का बहुत ही हृदय द्रावक चित्रण कवि उपस्थित करता है –

१. इब्राहिमशाह का समय, लखनसेनि, हरिचरित्र विराटपर्व अप्रकाशित।

सम्बर निरबल, किरिस तनु, अम्बर भेल पुराण
जवन सभावहिँ निक्करुण तौ न सुमरु सुरतान

विदेश में ऋण भी नहीं मिलता, मानधनी भीख भी कैसे माँग सकता है, राजा के घर जन्म हुआ, दीनता भरे वचन भी कैसे निकलें :

सेविअ सामि निसंक भए दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किंकरउँ गण्डज्जे गणिअ उपास

मित्र सहायता नहीं करता, भूख के कारण भृत्यों ने साथ छोड़ दिया, घोड़ों को घास नहीं मिलती, इस तरह अत्यन्त दुःख को अवस्थामें वे दिन बिताते रहे।

किन्तु एक दिन अचानक आशा फलवती हुई, सेना को तिरहुत की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई। कीर्तिसिंह के साथ ही विद्यापति कवि भी आनन्द से गा उठे :

फलिअउ साहस कम्मतरु सन्नग्गह फरमान
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरतान

कीर्तिसिंह के साथ सेना चली। उस समय संसार भर में कोलाहल मच गया, सेना के घोड़ों पर एक दृष्टि डालिए :

अनेक वाजि तेजि-ताजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेंहि जासु नाम दीप-दीपे जानिआ
विसाल कन्ध, चारु वन्ध, सत्तिरूअ सोहणा
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
सुजाति शुद्ध, कोहे कुद्ध, तोरि धाव कन्धरा
विशुद्ध दापे, मार टापे चूरि जा वसुन्धरा

इस तरहके दर्पसे परे घोड़े उस सेना में चले, राजधानी के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हो गई। तलवारें बज उठीं, कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही रुण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्तरिक्ष में अप्सरायें श्रमपरिहार के लिए अंचल से व्यजन कर रही थीं, स्वर्ग से पारिजात सुमनों की वृष्टि हो रही थी। असलान पकड़ा गया; किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते देख जीवन-दान दे दिया। इस तरह तिरहुत का राज्य पुनः सनाथ हुआ।

इस प्रकार विद्यापति के इस काव्य में यथार्थ एक नवीन सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ कीर्तिसिंह के वीरता भरे व्यक्तित्व का दर्प दर्शाया वहीं उनकी दुरवस्था का भी चित्रण किया है। यही नहीं विद्यापति के इस कौशल के कारण कीर्तिसिंह निजंधरी कथाओं के नायकों से भिन्न कोटि

के वास्तविक जीवन्त पुरुष मालूम होते हैं। विद्यापति के इस चरित्र-चित्रण की मूर्तिमत्ता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है कि कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भितिगात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं।'' इतना ही नहीं विद्यापति की लेखनी में स्वरकार का वह जादू भी है कि इन मूर्तिवत् चित्रों को सजीव कर देता है, हम वेश्या के नूपुरों की छमक के साथ ही युद्धभूमि के पटह तूर्य की गगन भेदी आवाज़ भी सुन पाते हैं। काव्य कौशल की दृष्टि से विद्यापति का कोई प्रतिमान नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में एक सुरुचि दिखाई पड़ती है। वेश्याओं के काले-काले केशों में श्वेत पुष्प गुँथे हुए हैं। कवि कहता है, मानो मान्य लोगों के मुख चन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा है।

तन्हि केश कुसुम वस, जनि मान्य जनक लज्जावलंबित मुखचन्द्र चन्द्रिका करि अधओ गति देखि अन्धकार हँस। नयनाञ्चल संचारे भ्रूलता भंग, जनि कज्जल कल्लोलिनी करी वीचिविवर्त बड़ी बड़ी शफरी तरंग।

■

कीर्तिलता का वस्तुवर्णन

•

मध्यकालीन काव्य-ग्रंथों में वस्तु-वर्णन की परिपाटी बहुत रूढ़ रूप में प्रस्तुत हुई है। वस्तु वर्णन वस्तुतः कवि शिक्षा का एक अंग बन गया था और इसे कवि काव्य के अन्य उपकरणों की तरह सीखते और प्रयोग में लाते थे। यह सही है कि वस्तुवर्णन में अनेक कवि अपनी सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति का परिचय देते हैं, किन्तु कवियों की सुविधा के लिए जो मसाले बना दिये गए थे, अधिकांश उन्हीं का ज्यों का त्यों इस्तेमाल कर लेते थे। यद्यपि काव्यों की श्रेष्ठता का मानदण्ड नव-वस्तु का चुनाव और वर्णन भी माना जाता था, यथा—

शब्दार्थशासनविदः कति नो कवन्ते यद्वाङ्मयं श्रुतिघनस्य चकास्ति चक्षुः
किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति सन्दर्भिणा सधुरि तस्यगिरः पवित्रः
—काव्य मीमांसा, १३ वाँ अध्याय

किन्तु 'नव वस्तु वस्तुतः कवि समय की रूढ़ परिपाटी में ही सीमित थी। यायावरीय राजशेखर ने भौम कवि समय को विस्तृत क्षेत्र से सम्बद्ध होने के कारण प्रमुख स्थान दिया है और उसके जातिरूप, द्रव्यरूप, गुणरूप, और क्रिया रूप ये चार विभेद किये हैं। भौम कवि समय कालान्तर में कितना सीमित और रूढ़ हो गया था, इसका पता केशव की कविप्रिया देखने से चल जाता है। ऐसा लगता है कि आरंभ में संस्कृत के कवियों ने वस्तु-वर्णन के क्षेत्र में पर्याप्त मौलिकता और नवीनता का परिचय दिया था, बाण ऐसे कवियों में अद्वितीय हैं; किन्तु धीरे-धीरे यह पद्धति परवर्ती संस्कृत कवियों में भी रूढ़ होकर सीमित हो गई और इसी के अनुकरण पर मध्यकालीन हिन्दी काव्यों में इसका परिसीमन और भी अधिक बढ़ गया। पूर्ववर्ती पद्धति से परवर्ती पद्धति निःसन्देह धूमिल और नीरस दिखाई पड़ती हैं। ऐसी स्थिति में विद्यापति की किर्तिलता का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है क्योंकि यह काव्य परवर्ती वस्तुवर्णन की रूढ़ पद्धति का अनुसरण न करके पूर्ववर्ती पद्धति का अनुसरण करता दिखाई पड़ता है। वस्तु वर्णन रूढ़ यहाँ भी है; किन्तु वैसा नहीं जैसा हिन्दी के चारण काव्यों में अथवा परवर्ती कथा काव्यों में दिखाई पड़ता है।

मध्यकालीन वस्तुवर्णन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है भारतीय पद्धति पर विदेशी

प्रभावों के अंकन का परिज्ञान। विदेशी प्रभाव का मूल अर्थ मुसलमानी प्रभाव ही समझना चाहिए। यद्यपि भारत पर मुसलमानों के पहले ईरानियों, यूनानियों, शकों, पह्लवों, कुषाण और हूणोंने आक्रमण किये थे; किन्तु सांस्कृतिक कलेवर इनके आक्रमणों से उस तरह विक्षुब्ध और पीड़ित नहीं हुआ, जैसे मुसलमानी आक्रमणों से। मुसलमानी आक्रमण ने न केवल हिन्दू राज्यों को नष्ट किया बल्कि हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी उपस्थित कर दिया। मुसलमानों के आक्रमण का सबसे अधिक प्रभाव भारतीय नगर जीवन पर पड़ा। खलीक अहमद निज़ामी ने अपने शोध ग्रंथ 'सम आस्पेक्ट्स ऑव रिलिजन एण्ड सोसाइटी इन इन्डिया ड्युरिंग द थर्टिएथ सैंच्युरी'' में नगरजीवन पर होने वाले प्रभावों की चर्चा करते हुए लिखा है —

"उत्तरी भारत पर तुर्की आधिपत्य का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि नगर योजना की प्राचीन पद्धति छिन्न-भिन्न हो गई। मुसलमानों के सार्वभौम नगरों ने राजपूत युग के जातीय नगरों का स्थान ले लिया। श्रमिकों कारीगरों और चाण्डालों के लिए नगरों के द्वार खोल दिये गए। नगरोंके परकोटे निरन्तर सरकते और बढ़ते रहे। इनके भीतर ऊँच और नीच सब प्रकार के लोगों ने अपने घर बनाये और वे एक दूसरे के साथ बिना किसी सामाजिक भेदभाव के रहने लगे। यह योजना तुर्क प्रशासकों को पसन्द आई जो अपने कारखानों, दफ्तरों, घरों में काम कराने के लिए सभी श्रमिकों को अपने पास रखना चाहते थे। फलतः नगरों का विस्तार हुआ और समृद्धि बढ़ी।[१]

श्री निज़ामी के इस कथन में कुछ सत्य अवश्य है; पर इसे एकदम से निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि हिन्दू राज्यकाल में सभी लोगों को नगर के अन्दर रहने की स्वतंत्रता नहीं थी। खास तौर से चाण्डाल नगर के बाहर रहते थे। या अधिक-से-अधिक अलबैरूनी का यह मत माना जा सकता है कि भंगी, चमार, मदारी, टोकरी बनानेवाले डोम, मल्लाह, शिकारी, चिड़ीमार और जुलाहे नगर के बाहर रहते थे।[२] किन्तु पूरे श्रमिक वर्ग का नगर-निवास निषिद्ध था, ऐसा मानने का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता।

वस्तुतः इस प्रकार की भ्रान्ति का मूल कारण भारतीय पद्धतिके नगर-जीवन की पूरी परम्परा के सही मूल्यांकन का न होना ही है। डॉ० बुद्धप्रकाश ने

---

१. सम आस्पेक्ट्स ऑव रिलिजन एंड सोसाइटी इन इंडिया ड्यूरिंग द थर्टिएथ सैंचुरी, पृष्ठ ८५।

२. अलबेरूनी का भारत, हबीब की प्रस्तावना, पृष्ठ ४०।

इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है—"उपर्युक्त लेखकों ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते समय भारतीय नगर-योजना और वास्तु-व्यवस्था पर विचार नहीं किया है।"[१]

संस्कृत में नगर-योजना सम्बन्धी विपुल साहित्य उपलब्ध है। अग्नि, गरुड़, मत्स्य और भविष्य पुराणों में नगर-विन्यास पर विस्तार से विचार किया गया है। मानसार ग्रंथ में नगर-निर्माण और व्यवस्था का बहुत विशद वर्णन है। उसमें नगर, खेट, खर्वट, पत्तन, कुब्जक आदि कई श्रेणियाँ बताई गयी हैं। तंत्र और आगम साहित्य में भी नगर-वर्णन मिलता है। कामिकागम और सुप्रभेदागम में नगर-योजना के संकेत मिलते हैं। समरांगणसूत्रधार (१०१०-५५ ई०) भोज के राज्यकाल में लिखा गया। इसमें भी नगर-योजना का विस्तृत विवरण है। सबसे, सुन्दर वर्णन श्यामलिक कृत 'पादताडितकम्' भाणी में मिलता है। यहाँ नगर को सार्वभौम कहा गया है। वर्णन का एक रूप देखिए:—

● बाजार (विपणि) में स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी रहती थी जो जल और थल मार्गों से लाये हुए सामानों के बेचने में व्यस्त रहते थे। लोगों के धक्के-मुक्के और हुल्लड़ से ऐसा शोर होता था जैसा चरागाहों में गायों का या संध्याकालीन आवास पर कौवों का होता था। कारीगरों की धड़-धड़ और दस्तकारों की टन-टन कानों को फोड़ती थी। लुहारों के कारखानों में निरन्तर खट-खट होती रहती थी। कसेरे जब बरतनों को खरादकर उतारते थे तो कुररी जैसा शब्द होता था। शंखकार जब छेनियों से शंखों को तरासते थे तो सैं-सैं की आवाज आती थी, जैसे घोड़े जोर से साँस ले रहे हों। मालाकारों की दुकानों पर फूल और गजरे सजे थे। और शौंडिकों की शालाओं में सुरा के चषक चलते थे। बाज़ार में सब दिशाओं से आये हुए लोगों की इतनी भीड़ होती थी कि चलने को रास्ता नहीं मिलता था।[२]

नगर का यह वर्णन आश्चर्यजनक रूप से विद्यापति के जौनपुर-वर्णन से साम्य रखता है—

"हाट करे ओ प्रथम-प्रवेश। अष्टधातु घटना टाङ्कारे कँसेरी पसरां कास्य क्रेंगार। प्रचुर जन संभार संभिन्न। धनहटा, सोनहटा, पनहटा, पक्वानहटा,

१. ना० प्र० पत्रिका, मालवीय जन्मशती अंक, पृ० ४२९।

२. चतुर्भाणी, पृष्ठ १६६-१६७।

मछहटा, करेओ सुख रव कथा कहन्ते होइअ झूठ, जनि गंभीर गुरग्गुरावर्त कल्लोल कोलाहल कान भरन्ते मर्यादा छांड़ि महार्णव ऊठ। मध्यान्हे करी वेला संमद्द साज सकल पृथ्वी चक्र करे ओ वस्तु विकाएँ आए बाज। मानुस का मीसि पीसि वर आँगे आँग, उँगर आनका तिलक आनका लाग। यात्रा हुतह परस्त्रीक वलया भाँग। ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चाण्डाल हृदयलूर। वेश्याह्नि करो पयोधर जतीके हृदय चूर।

[द्वितीय पल्लव—१००-११२]

विद्यापति ने विभिन्न हाटों का वर्णन किया है। उनमें निरन्तर उठने वाली खास आवाज़ों को परिलक्षित किया है। नगर में होने वाली भीड़ का वर्णन किया है और यह बताया है कि इस भीड़ में एक साथ ब्राह्मण-चाण्डाल, वेश्या-यती आदि का संसर्ग होता था। उनके मन में होने वाली प्रतिक्रियाओं का भी कवि वर्णन करता है। यह पूरा वर्णन एक प्रकार के स्थानीय रंग (Local color) से रँगा हुआ है।

हाटों का वर्णन उस समय के अन्य भी अनेक ग्रंथों में मिलता है। विद्यापति के ही समसामयिक श्री माणिक्यचन्द्र सूरि ने वाग्विलास (पृथ्वीचन्द्र चरित्र) में चौरासी हाटों के नाम गिनाए हैं : १ सोनी हटी, २ नाणावर हटी, ३ सौगंधिया हटी, ४ फोफलिया, ५ सूत्रिया, ६ पडसूत्रिया, ७ घीया, ८ तेलहरा, ९ दन्तरा, १० त्रलीयार, ११ मणीयारहटी, १२ दोसी, १३ नेस्ती, १४ गंधी, १५ कपासी, १६ फडोया, १७ फडीहटी, १८ एरंडिया, १९ रसणीया, २० प्रवालीया, २१ त्रांबहटा (ताम्र) २२ सांपहटा, २३ पीतलगरा, २४ सोनार, २५ सीसाहडा, २६ मोतीप्रोया, २७ सालवी, २८ मीगारा, २९ कुँआरा, ३० चूनारा, ३१ तूनारा, ३२ कूटारा; ३३ गुलीयाल, ३४ परीयटा, ३५ घांची, ३६ मोची, ३७ सुई, ३८ लोहटिया, ३९ लोढारा, ४० चीत्रहरा, ४१ सतूहारा आदि। [देखिए, प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ, पृष्ठ १२९]

इन वर्णनों से पता चलता है कि मध्यकालीन नगरों में विपणि या बाजार में भिन्न प्रकार के चौरासी हाट होते थे। १४११ वि० सम्वत् के प्रद्युम्न चरित (सधार अग्रवालकृत) में चौरासी हाटों का उल्लेख मिलता है।

इक सों वने धवल आवास। मठ मंदिर देवल चउपास
चौरासी चौहट्ट अपार। बहुत भाँति दीसइ सुविचार ॥१७॥

वास्तु या वास्य का भी नगर वर्णन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भवन निर्माण की पद्धति भी भारत में बहुत प्राचीन और समृद्ध रही है। संस्कृत के

कवियों ने महाकाव्यों या आख्यायिकाओं में, तथा प्राकृत अपभ्रंश के कवियों ने चरित और कथाकाव्यों में भवन-निर्माण या वास्तुकला का पुरस्सर वर्णन किया है। विद्यापति ने भवन या महल के वर्णन में एक ओर जहाँ भारतीय पद्धति के अपने ज्ञान और सूक्ष्म दर्शन का परिचय दिया है; वहीं उन्होंने मुसलमानी भवन-निर्माण कला से अपना निकटतम परिचय भी प्रमाणित किया है। जौनपुर के शाही महल का वर्णन इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। शाखानगर, शृंगाटक में घूमते हुए गोपुर, बकहटी, बलभी,वीथी, अटारी, ओवरी, रहट, घाट, कोसीस, प्राकार की उन्होंने चर्चा की है। शृंगाटक शब्द से ही "सिंघाड़ा" बना है जो त्रिकोणात्मक होता है। शृंगाटक पथों की त्रिमुहानी को कहते थे। गोपुर नगर का प्रधान द्वार है। बलभी छोटे मंडपाकार 'केबिन' को कहते हैं। इसे ही संस्कृत कवि 'बलभिका' कहते हैं। बाणभट्ट ने उज्जयिनी में केले के बगीचों के बीच बीच में हाथी दाँत की बनी हुई बलभिकाओं का उल्लेख किया है : **अविरल कदलीवन कलिताभिः अमृतफेनपुञ्जपाण्डुराभिः दिशि दिशि दन्त बलभिकाभिः धवली कृता –**] वीथी नगर मार्ग है; किन्तु प्रमुख मार्गों से भिन्न बाज़ार के सँकरे मार्गों के लिए इसका प्रयोग ज्यादा समुचित प्रतीत होता है। ओबरी विशिष्ट शब्द है। कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर 'सोवारी पाठ भी है। डा० वासुदेवशरण इसको उचित नहीं मानते। उन्होंने 'सोवारी' के स्थान पर 'ओबरी' पाठ सुझाया है। इसकी व्युत्पत्ति उन्होंने संस्कृत 'अपवरक' से लगाई है। ओबरी भोजपुरी भाषा में आज भी एकान्त घर, के लिए प्रयुक्त होता है। घर में नववधू से प्रेमासक्त होकर निरन्तर घुसे रहने वाले को "ओवरी सेने वाला" कहा जाता है। रहट या रहँठ ∠अरघट्ट अत्यन्त परिचित शब्द है। बाल्टियों की माला के सहारे नीचे ऊपर चलने वाला यंत्र सर्वत्र पाया जाता है। कौसीस कपिशीर्षक से बना हुआ शब्द है। उक्तिरत्नाकर में कौसीस शब्द आता है। [§२६।२] पृथ्वी चन्द्र चरित्र में **प्रधान कौसीसा तणी ओलि**" में भी इसका उल्लेख है।

नगर वर्णन में इन उपादानों का वर्णन रूढ़ हो चुका था। पृथ्वी चन्द्र चरित्र में अयोध्या के वर्णन के सिलसिले में लेखक ने एक साथ ही इनके नाम गिना दिये हैं :—

जीणइ नगरी देवगृह, मेरुशिषरोपमान, धवलगृह स्वर्गविमान समान। अनेक गवाक्ष, वेदिका चउकी, चित्रसाली, जाली, त्रिकलसां तोरण, धवलगृह, भूमिगृह, भांडागार, कोष्ठागार सत्रागार, गढ, मढ, मन्दिर, पडवाँ, पटसाल,

अधहटां, फडहटां, दंडकलस, आमलसार, आंचली, वंदरवाल, पंचवर्ण, पताका दीपइं। [प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ, पृ० १३२]

इन वस्तुओं से संबलित समानान्तर वर्णन विद्यापति ने भी किया है :—

पेक्खियउ पट्टन चारु मेखल जज्ञोन नीर पखारिया।
पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर ढारिया॥
पल्लविय कुसुमिय फलिय उपवन चूअ चम्पक सोहिया।
मकरन्द पाण बिमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिया॥
बकवार, पोषरि बाँध साकम नीक नीर निकेतना।
अति बहुत भाँति विवट्ट वट्टहिं भूल वड्डियो चेतना॥
सोपान तोरण यन्त जोरण जाल गाओष खंडिआ।
धअ धवल हर घर सहस पेखिअ कनक कलसहिं मंडिआ॥

[२।७९-८६]

पत्थरों का फर्श बनाया जाता था ऊपर गिरे पानी को दीवालों के भीतर से क्रमबद्ध बाहर गिरानेकी प्रणाली, विद्यापतिने लक्षित की थी। बीच में उन्होंने उपवन का भी वर्णन किया है

उस काल के अन्य वर्णनों की तुलना में उपवन का यह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त और कमजोर कहा जायेगा। एक दृष्टि से इसकी संक्षिप्ति गुण भी हो गई है क्योंकि लेखक उसके अन्तर्गत वृक्षों की सूची नहीं देता है और न तो उसमें विहार करने वाले पक्षियों के नाम ही, जिन्हें लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि ये तो बहेलियों की दूकान पर भी मिल जा सकते हैं।

एक सुन्दर सरस उदाहरण पृथ्वी चन्द्र चरित्र का देखिए :—

मउरिया सहकार, चंपक उदार, वेउल वकुल, भमरकुल सँकुल, कलरव करइ कोकिल तणाकुल। प्रवर प्रियंगु पाडल, निर्मल जल विकसित कमल, राता पलास, सेवंत्रीवास। [२।२५]

विद्यापति के उपर्युक्त अंश से निम्नलिखित गद्यांश की तुलना करने पर पता चलेगा कि ये वर्णन उस काल में कितने रूढ़ हो चुके थे,

जेह नगर पाषलीया, अनेकि कूया, वापि, सरोवर, नई, नीक निरुपम, उद्यान आंब, नींब, जांबू, जंबीर; बीजपूर प्रमुख वृक्षावली करी प्रधान च्यारि पोलि,

यह सब देखते हुए दोनों राजकुमार "दृष्टिकुतूहल लाभ" के लिए दरबार में प्रविष्ट हुए। दरबार और महल का वर्णन करते हुए विद्यापति ने एक साथ ही

हिन्दू और इस्लाम दोनों पद्धतियों को मिला दिया है। इसीलिए ये वर्णन तत्कालीन स्थापत्य को जानने के ऐतिहासिक अभिसाक्ष्य बन गए हैं :—

"दारपोल यानी ड्योढ़ी पर चमकते हुए तेगे लिए द्वारपाल खड़े थे। **दर सदर** यानी मुख्य द्वार से आगे बढ़ने पर **दारिगह** यानी भीतर का विस्तृत क्षेत्र दिखाई पड़ता था, इसे एक प्रकार का प्रांगण कह सकते हैं, इसे बाहरी ड्योढ़ी का भाग भी कहा जा सकता है। किलों में इस तरह के अनेक चौक या क्षेत्र हुआ करते थे, जिनमें आवश्यकता और सम्मान के हिसाब से लोगों का आना-जाना अनुज्ञापित या निषिद्ध हुआ करता था। इसमें **वारिगह** (जिसका अर्थ तम्बू होता है) था। यह वारिगह सामान्य लोगों के लिए प्रतीक्षालय के समान था। बाह्य आस्थान मण्डप ऐसे ही स्थान को कहा जाता था। यह फारसी के बारगाह शब्द से बना है जिसका अर्थ दरबारे आम लिया जाता था। वर्ण-रत्नाकर, कान्हड़दे प्रबन्ध, और पद्मावत में इसका प्रयोग तम्बू के अर्थ में हुआ है। इसी के साथ **निमाजगह** यानी नमाज पढ़ने का गृह यानी मस्जिद बनी हुई थी। बगल में **षोआरगह** यानी ख्वारगाह, भोजनालय था। **षोरमगह** बादशाह का व्यक्तिगत सुखमंदिर है।

यह तो सामान्य स्थानों का वर्णन हुआ। किले या महल के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट दर्शनीय स्थान भी हैं।

प्रासाद ऐसे कि उनके शिरोभाग पर स्थित हीरक जटित कंचन कलश इतने ऊँचे थे कि सूर्य रथ के सातों घोड़ों की अट्ठाइसों टापें बजती रहती हैं [२।२४३]

प्रमदवन अन्तःपुर से सम्बद्ध उपवन को कहते हैं। 'रसरतन' में नये भवन के निर्माण के बाद सूरसेन द्वारा अपनी रानियों के लिए प्रमदवन बनवाने का वर्णन है। इस तरह के वर्णन प्राचीन काल से ही होते आये हैं। इसे ही बाणभट्ट ने भवनोद्यान कहा है। **पुष्पवाटिका** राजकुल के उद्यान का ही एक अधिक विशिष्ट और परिष्कृत भाग है, इसके समीप सरोवर और देवगृह का वर्णन भी होता है : 'रसरतन'[1] में चंपावती के राजकुल में इसी प्रकार की एक विशिष्ट पुष्पवाटिका थी, जिसमें रंभा सखियों के साथ विहार करती दिखाई गई है :—

मंदिर मध्य निरखि फुलवारी, उतरौ कीर चतुर गुन भारी।
नाना वरन फूल तहँ फूले, मधुकर वास मान तहँ भूले॥
सरवर सुभग मध्य सुषदाई, पंकज परम रम्य छवि छाई॥
[युद्ध खण्ड १२२–२३]

१. रसरतन, सम्पादक डॉ० शिवप्रसाद सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। वस्तुवर्णन, भूमिका भाग।

कृत्रिम नदी जल को सुनियंत्रित करके राज प्रासादों में ले जाया जाता था, इसे ही कृत्रिम नदी कहा गया है। मुगल काल में ऐसी धाराओं को 'नहरे विहिश्त' कहते थे। संस्कृत में इसे ही दीर्घिका कहा गया है।' ऐसा डॉ० वासुदेवशरण का अनुमान है। किन्तु मालविकाग्निमित्र २।१२ तथा रघुवंश १६।१३ में जहाँ कालिदास ने दीर्घिका शब्द का प्रयोग किया है वहाँ उसका अर्थ बावली या पुष्करिणी ही प्रतीत होता है—

> **आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।**
> **वन्यैरिदानीं महिषैस्तदंभः शृंगाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥**
>
> रघु० १६।१३

मुकुलित नयनां दीर्घिका पद्मिनीनां। मालविकाग्निमित्र २।१२। **क्रीडाशैल**-राज्योद्यानों में बनाया हुआ कृत्रिम पर्वत है, यह प्रायः सरोवर से सम्बद्ध हुआ करता था। मेघदूत में कालिदास ने मरकतशिला निर्मित सोपान वाली वापी के तट पर क्रीडाशैल का वर्णन किया है, क्रीडाशैलः कनककदली वेष्टनप्रेक्षणीयः [मेघदूत, उत्तरमेघ, १७] **धारागृह** भी सुनियोजित जल-प्रणाली की ही एक क्रीड़ा है—जलको नियंत्रित करके उसे विकीर्ण करके छोड़ना। कालिदास ने रघुवंश में धारागृह का उल्लेख किया है :—

> **यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।**
> **शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥**
>
> [१६।४९]

धारागृहोंमें चन्दन से धुली हुई तथा जल के फव्वारों से घिरी हुई शिलाओं पर सोकर धनी लोग ग्रीष्म को व्यतीत करते थे। बाणभट्ट ने कादम्बरी में "सहस्र धाराओं से विशीर्ण होते जलके कुहासे" को लक्ष्य किया था। **यंत्रव्यजन** यंत्रों से संचालित पंखा था। कादम्बरीकार ने "यंत्र चक्रवाक" का उल्लेख किया है। **शृंगारसंकेत**—संकेतस्थल है, जहाँ प्रेमी प्रेयिकायें मिलते थे। पर्वतीय जाति के लोगों में संकेत-उत्सव होते थे। कालिदास ने रघु के और पर्वतीयजनों के युद्ध के वर्णन में लिखा है कि उन्होंने "शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्" अर्थात् उन्होंने बाण चलाकर संकेतोत्सव प्रियों के छक्के छुड़ा दिया [रघु० ४।७८]। संकेत का शाब्दिक अर्थ है प्रेमी या प्रेमिका द्वारा किसी प्रकार का आवाहन संकेत। गीतगोविन्द में 'नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदु वेणुम्' [गीत० ५।६] में संकेत का यही तात्पर्य है। अमरकोश संकेत का अर्थ संकेत स्थल भी

देता है, कांतार्थिनी तु याति संकेतं सा अभिसारिका। **माधवी मंडप**—माधवी लता को वृक्ष या कृत्रिम स्तंभ आदि पर चढ़ाकर जो मंडप बनाया जाय। वर्तमान उद्यानों में भी जूही या चमेली मँडवा इसी प्रकार का बनाया जाता है। राजकुलों में विलास प्रिय राजे-रानियों के लिए यह एक प्रकार का विहार-निकुंज था। **विश्राम चौरा** धवलगृहों या राजभवनों में आँगन में विश्राम करनेके लिए बनाया हुआ चत्वर। कुट्टनीमतम् में (४०६) "विचरन्नुद्यानवेदिका पृष्ठे" में उद्यानवेदिका विश्राम चौरा का ही रूप है। **चित्रशाली** वासगृहों में विशेषतः शयनगृह में खास प्रकार के चित्र बनाए जाते थे। छिताई वार्ता में इसी प्रकार की चित्रशाली का वर्णन है जहाँ चित्रकार ने पहली बार छिताई को देखा और उसके अपरूप सौन्दर्य से मूछित सा हो गया :—

एक दिवस की कहन न जाइ।
छजइ छिताई उझुकइ आइ॥
दामिन ज्यों सुन्दरि दुर गई।
देखि चितेरो मुरछा भई॥ १२७॥

'रसरतन' में भी चित्रशाली का वर्णन मिलता :—

लखि रहइ भूमि मृग पहुँमिपाल
अति रुचिर रुचितवर चित्रसाल

[चंपावती० २२३]

पद्मावत में जायसी ने भी "मँदिल मँदिल फुलवारी वारी, बार बार तहँ चित्तर सारी" में चित्रशाली का उल्लेख किया है; किन्तु यह शयन-गृह की चित्र-शाली से भिन्न प्रतीत होती है।

खट्वाहिंडोल—एक प्रकार का झूला था। रस्सी में पालने या पटरे के स्थान पर खाट या माँच डालकर यह बनाया जाता था।

कुसुमशय्या—का उल्लेख परवर्ती हिन्दी प्रेमाख्यानकों में अनेक बार आया है। रसरतन में रंभा की सेज, कल्पलता की सेज आदि का कई बार वर्णन आया है। शय्या पर फूल बिछा दिये जाते थे। इसको कुसुमशय्या कहा जाता था। रसरतन का एक उदाहरण :—

चंपक बेलि गुलाबन हार। फूल सेज वह रचीं अपार।
मलयागिरी उदीप सुखराती। चहुँ दिसि बरै अगर की बाती॥

[अप्सराखंड, ८५]

प्रदीपमाणिक्य—यह भी विलास कक्ष की ही शोभा का उपादान था। शय्या के इर्द-गिर्द जलनेवाले दीपों को माणिक्यदीप कहा गया है। रसरतन में ऐसा एक वर्णन आता है:—

> मानिक हीर परम छवि छाई।
> सप्त दीप तहँ धरे बनाई॥
> [अप्सरा ८८]

चन्द्रकान्त शिला

बगीचों में नाना प्रकार की चिकनी सुन्दर शिलाएँ बैठने लेटने आदि के लिए लगाई जाती थीं। इसी को चन्द्रकान्त शिला कहा है। इन शिलाओं पर चाँदनी रात में बैठने का आनन्द ही विशिष्ट होता है। संभवतः इसी कारण इन्हें 'चन्द्रकान्त' कहा गया है।

चतुस्सम पल्लव—चतुस्सम का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने एक प्रकार की सुगंधि बताया है जो चन्दन, अगरु, कस्तूरी और केसर के समान अंशों को मिलाकर बनाई जाती थी। तुलसी ने 'वीथी सोचि चतुरसम चौके चारु पुराई" (बालकांड २९६।१०) में तथा जायसी ने "कइ स्नान चतुरसम सारहु (पद्मावत २७६।४) में इसका उल्लेख किया है। वर्णरत्नाकर में "चतुःसम लए हाथ माण्डु" (पृ० १३) में भी इसका वर्णन है। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में चतुस्सम का विवरण इस प्रकार दिया है :—

> चन्दनागरुकस्तूरी कुंकुमैस्तु चतुस्समम्
> चन्दनादिनी समान्यत्र च चतुः समं ॥३।३०३॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुस्सम पल्लव एक प्रकार की सुगंधि से भरा हुआ छोटा हौज़ या चौकोर वापी होता था।

नगर वर्णन का एक विशिष्ट तत्त्व वेश्या-वर्णन भी होता था। केशवदास ने नगर वर्णन के आवश्यक उपादानों की सूची इस प्रकार दी है :—

> खाई कोट अटा ध्वजा, वापी कूप तड़ाग
> वार नारि असती सती, वरनहु नगर सभाग
> [कविप्रिया ७।४]

विद्यापति का वेश्या वर्णन बहुत ही विशद् और मनोरंजक है। "उन हाटों में एक हाट सबसे सुन्दर था और यह हाट वेश्या हाट था"। यह वह स्थल है जहाँ :—

जं गुणमन्ता अलहना गौरव लहइ भुवंग ।
वेसा मंदिर धुअ वसइ, धुत्तह रूअ अनंग ॥
[२।१३४–१३५]

ये वेश्याएँ शृंगार करती थीं । सुखमंदिर सजाती थीं और बालों में काटावदार पत्रावलियाँ बनाती थीं । शरीर, कपोल-स्तनों आदि पर "अलका-तिलका" चन्दन, गोरोचन, कस्तूरी आदि से बनाती थीं । शरीरपर द्रव उपकरणोंसे तरह-तरह के चित्र बनाना यह अत्यन्त प्राचीन भारतीय शृंगार पद्धति है । भागवत में "कुचकुङ्कुममाङ्किते" (१०।३३।१३) का उल्लेख है । रघुवंश १३।५५ में "अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव" में पत्र का अर्थ भी चित्रित करना ही है । "रचय: कुचयो: पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो:" (गीत गोविन्द १२) भी ऐसी ही पत्रावलियों की साक्षी देता है । वेश्याहाट में किस प्रकार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं इसका सजीव वर्णन कुट्टनीमतम् में ३३१वें श्लोक से ४०६वें श्लोक तक दिखाई पड़ता है । सयानी, लावण्यमयी, पत्रोदरी (कृशोदरी) तरट्टी (प्रगल्भाएँ) वन्ही (वर्णिनी) परिहास पेषली (सुन्दर व्यंग्य-विनोद करने वाली) वेश्याएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की कामचेष्टाओं में लीन थीं ।

वेश्या हाट के साथ ही तुर्क सौदागरों और खरीद-फरोख्त करने वाले गुलामों आदि का भी पुरस्सर वर्णन दिखाई पड़ता है । ऐसे स्थलों पर कवि ने अरबी-फारसी शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है । इन वर्णनों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि उनकी श्रवणशक्ति कितनी सूक्ष्म और उदार थी । उन्होंने बाज़ार की चहल-पहल को इन शब्दों में रूपायित किया है :—

कहीं करोड़ो गोयन्दे (गुप्तचर) थे तो कहीं बाँदी बन्दे । कहीं हिन्दुओं को गन्दा या नापाक कहकर वे दूर भगा रहे थे । कहीं तश्तरियाँ (तथ्थ) और सुराहियाँ (कूजे) बिक रही थीं, तो कहीं तवेल्ले (मिट्टी के कुंडे आदि) फैलाये गए थे । कहीं तीर-कमान की दुकानें थी । कहीं हेरा, लसूला और पियाजू बिक रहा था ; हजारों गुलाम इन वस्तुओं को खरीदकर ले जा रहे थे । तुर्कों में परस्पर सलाम बन्दगी हो रही थी । वे षीसा (पटुवे) पइज्जल (जूते) और मोजा (मोजे) ख़रीद कर ले जा रहे थे । मीर, बली, सालार और ख्वाज़े 'अबे-वे' कहते, शराब पीकर इधर उधर घूम रहे थे । कुछ कलमा कह रहे थे, कुछ कलाम (काव्य) पढ़ रहे थे, कुछ क़सीदे (कविताएँ) कह रहे थे और अनेक मस्जिदों में भरे हुए थे ।

घोड़ों के वर्णन के—विषय में पीछे लिखा जा चुका है । माणिक्य चन्द्रसूरि ने पृथ्वी चन्द्र चरित्र में घोड़ों की जातियों की एक सूची दी है ।

"तरल तेजी तरवारिया। किस्या ते – हयाणा, मयाणा, कूंकणा, कास्मीरा, हयठाणा, पइठाणा, सरसईया, सींधउरा, केकाइला, जाइला, उत्तरपंथा, ताजा, तेजी, तोरक्का, काच्छूला, कांबोजा, माडेजा, आरट्ट, वाल्हीकज, गांधार, चांपेय, तैतिल, त्रैगर्त्त, आर्जनेय, कांदरंय, दरद, सौबीर, क्षेत्रशुद्ध, प्रमाणशुद्ध, चपलं, सरल, तरल, उंचासणा, परीक्षणा, जो यउं सहइं, बपूकारिया रहइं, बाँकी द्रेठी, समरपूठि, छोटे काने, सूधइ वानि, सइरनी ललवलाई, नीछटनी कलाई, पूछतणी आयताई, पलाणतणी सामंत्राई, बाँकी तुंडवालि, बहुली पेटवालि, मुहि रूधा, आसणि सूधा, हसमंत, हयहेषारवि, अंबर वधिर करंता।"

विद्यापतिके अश्ववर्णन (कीर्ति० ४।४२-५६) में घोड़ोंकी जाति, शरीर-गठन, साज-सामान तथा उनकी विविध प्रकार की चालों का विशद् उल्लेख है। सुरुली (सालरी,) मुरुली कुंडली (वक्रगति) मंडली (मंडलाकृत) आदि गतियों या चालों का वर्णन है। धाव, धूप, धसमसइ (४।५४) को माणिक्यचन्द्र द्वारा उल्लिखित ससइं, धसइं, साटि पइसइं, जुडइं, दउडइं से मिलाने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस समय घोड़ों की गति आदि के विषय में कितने सूक्ष्म प्रकार के क्रिया रूपों का प्रयोग होता था।

हस्तिसेना का वर्णन विद्यापति ने कीर्तिलता के चतुर्थ पल्लव [४।१५–२५] में प्रस्तुत किया है।

> संगाम थेघ। भूमिट्ठ मेघ।
> अन्धार कूट। दिग्विजय छूट॥
> ससरीर गव्व। देखन्ते भव्व॥
> चालन्ते काण। पव्वत समाण॥

जरा पृथ्वीचन्द्र चरित्र के साथ मिलाकर देखिए:—

"सिंहलद्वीपतणा, जाजनगरतणा, भद्रजातीक, उल्ललित सुंडादंड, प्रचंड, पर्वतसमान, जलधरवान, चपलकान, मदजल झरता, आलि करता, अतुलबल, उच्छृंखल, गलगजित करत, गजेन्द्र संचारिया।"

मेघ, पर्वत, के समान, चंचल कानोंवाले, उच्छृंखल (भागन्ते गाछ, चापत्ते काछ) आदि विशेषण और उपमान कितने एक जैसे हैं।

सैन्य संचरण की भी एक रूढ़ि थी। सेना के संचरण के समय का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है "जिस समय सुल्तान इब्राहीम शाह की सेना चली सूर्य का तेज सम्वरित हो गया यानी छिप गया। आठों दिक्पालों को कष्ट हुआ।

धरती ने धूल के अन्धकार को छोड़ा, रात का आगमन जानकर प्रेयसि ने प्रिय को देखा ।

युद्ध का वर्णन भी पूरी तरह रूढ़िग्रस्त है । वे ही दृश्य वे ही प्रतीक —

दुहु दिस पाखर उट्ठ माझ संगाम भेंट हो ।
खग्गे खग्गे संघलिय फुलुग उफ्फलइ अग्गि को ॥
अस्सवार असिधार तुरअ राउत सओ टुट्टइ ।
वेलक वज्ज निघात काअ कवचहु सओ फुट्टइ ॥
अरि कुंजर पंजर सल्लि रह रुहिर चीक गए गगन मरु ।
रा कित्ति सिंह को कज्ज रसे वीर सिंह संगाम करु ॥

इसी प्रकार के वर्णन पृथ्वीराज रासो, रणमल्लछन्द, रसरतन आदि में भी दिखाई पड़ते हैं । वस्तुतः वीर रस के वर्णन की जो चारण पद्धति पश्चिमी अपभ्रंश या पिंगल में रूढ़ थी विद्यापति ने उसका पुरस्सर अनुसरण किया है । प्राकृत पैंगलम् में करीब करीब ऐसे ही वर्णन, इसी प्रकार के छन्दों में मिल जाते हैं । प्राकृत पैंगलम् से सैन्य-संचालन और युद्ध के कुछ वर्णन तुलना के लिए दिये जा रहे हैं :—

१— कुंजरा चलंतआ, पव्वआ पलंतआ ।
कुम्म पिट्ठि कंपए, धूलि सूर झंपए ॥
[मात्रावृत्त—५९]

२— जुज्झ भड भूमि, पल उट्ठि पुणु लग्गिआ ।
सग्गमण खग्गहण कोई णहि भग्गिआ ॥
वीर सर तिक्ख कर कण्णु गुण अप्पिआ ।
इत्थ तह जोह दह चाउ सह कप्पिआ ॥
[मात्रावृत्त १६१]

३— उम्मत्ता जोहा उट्ठे कोहा ओत्था ओत्थी जुज्झंता ।
मेणक्का रंभा णाहं दंभा अप्पा अप्पी बुज्झंता ।
धावंता सल्ला छिण्णो कंठा मत्था पिट्ठी पेरंता ।
णं सग्गा मग्गा जाए अग्गा लुद्धा उद्धा हेरंता ॥
[१७५]

४— जहाँ भूत वेताल णच्चन्त गावंत खाए कवन्धा ।
सिया फार फक्कार हक्का रवंता फुले कण्ण रंधा ॥

कआ टुट्ट फुट्टेइ मंथा कवंधा णचन्ता हसंता।
तहां वीर हम्मीर संगाम मज्झे तुलंता जुझंता ॥

[१८३]

इन चारों पदों के साथ तुलानात्मक अध्ययनके लिए कीर्तिलता से भी इसी के समानान्तर भावों के चार छन्द नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं :—

१— कुरुम भण धरणि सुण धरण बल नाहि मो।
गिरि टरइ, महि पडइ, नाग मन कंपिआ
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ ॥

३। ६६–६८

२— राउत्ता रोसे लग्गीआ खग्गेहि खग्गा भग्गीआ।
आरुट्ठा सूरा आवन्ता उमग्गे मग्गे धावन्ता ॥
एक्के रंगे भेट्न्ता परारी लच्छी मेटन्ता।
अप्पा नामाना सारन्ता वेलक्के सत्तू मारन्ता ॥

४।१७६–१७५

३— हुङ्कारे वीरा गज्जन्ता; पाइक्का चक्का भज्जन्ता।
धावन्ते राधा टुट्टन्ता साम्राहा वाणे फुट्टन्ता ॥

४।१५४–१५५

युद्धोपरान्त युद्धभूमि की वीभत्स स्थिति का वैसा ही चित्रण। फेंकार करती शृगांलि ने, नाचते हुए भूत वैताल, डाक्कार लेती हुए डाकिनें :—

४— सिया सार फेक्कार रोलं करन्तो।
बहुष्खा बहू डाकिनी डक्करन्तो ॥
बहुफ्फाल बेआल रोलं करन्तो।
उलट्टो पलट्टो कबन्धो परन्तो ॥

४।२००–२०३

युद्ध यात्रा के समय या युद्ध भूमि में बजाये जाने वाले रणवाधों का भी वर्णन है। तत्कालीन युद्धों में प्रयुक्त होने वालें बाजों में भेरी, मृदंग, पटह, तूर्य, नीसान आदि प्रमुख थे। विद्यापति ने लिखा है भेरी काहल ढोल तवल रणतूरा वज्जिय (४।१५९)। विद्यापति ने वेश्याओं के वर्णन के सिलसिले में भी "सस्वर बाज" का उल्लेख किया है। बाजों के नाम मध्यकालीन काव्यों में प्राय: आते हैं, इसीलिए यहाँ पृथ्वीचन्द्र चरित्र में प्रस्तुत बाजों की सूची संलग्न की जा रही है :—

वीणा, त्रिपंची, बल्लकी, नकुलोष्ठी, जया, त्रिचित्रिका, हस्तिका, करवादिन कुब्जिका, घोषवती, सारंगो, उदंवरी, त्रिसरी, झंषरी, आलविणि, छकना, रावणहत्था, ताल, कंसाल, घंट, जयघंट, झालरि, उंगरि, कुरकचि, कयरउ, घाघरी, द्राक, डाक, ढाक, धूंस, नीसाण, तावंकी, कडुआलि, सेल्लक, कांसी, पाठी, पाऊ, सांष, सींगी, मदन, काहल, भैरी, धुंकार, और तरवरा, मृदंग, पटु, पडह प्रमुख वादित्र वाज्यां ॥ ये हैं इगुणपंचास भेद वाजित्रों (४९) के नाम ।

युद्धभूमिमें काम आने वाले अस्त्रों-शस्त्रों का भी कीर्तिलता में उल्लेख है । पृथ्वीचन्द्र चरित्र में ३६ दण्डायुधों के नाम आते हैं । चक्र, धनुष, अंकुश, षंग, छुरिका, तोमर, कुंत, त्रिशूल, माला भिंडमाल, मुसंढि, मक्षिक, मुद्गर, अरल, हल, परशु, पट्टि, शविष्ठ, कणय, कंपन, कर्तरी, तरवारि, कुद्दाल, दुष्फोट, गदा, प्रलय, काल, नाराच, पाश, फल यन्त्र, द्रस, दंड, लगड, कटारी और वह्नि ।

इन सब वर्णनों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति एक जागरूक सूक्ष्म-द्रष्टा कवि थे । उन्होंने न केवल भारतीय वस्तु-वर्णन की शैली को पूरी तरह हृदयंगम कर लिया था; बल्कि तुर्कों की जीवन प्रणाली की भी अनेक विशेषताओं से परिचित थे । वे मुसलमानी राजदरबारों की पद्धति, भवन निर्माण कला, युद्ध, अस्त्र-शस्त्र आदि की भी जानकारी रखते थे । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे मध्यकालीन पिंगल या अवहट्ट की चारणशैली वाले काव्यों से पूर्णतः परिचित थे । एक ओर जहाँ वे पदावली में शृंगार के विविध रूपों का इतना सूक्ष्म और मंजुल चित्रण उपस्थित करते हैं वहीं वे प्रशस्तिकाव्यों की चमत्कारपूर्ण, टंकाराभरी ओजस्वी पिंगल भाषा पर भी असामान्य अधिकार रखते हैं । इन्हीं कारणों से कीर्तिलता मध्यकालीन सांस्कृतिक जीवन का नखदर्पण बन गई है ।

■

कीर्तिलता

प्रथमः पल्लवः

[मालिनीवृत्त]

पितरुपनय मह्यं नाकनद्या मृणालं
नहि तनय मृणालः किन्त्वसौ सर्पराजः।
इति रुदति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शम्भौ
गिरिपतितनयायाः पातु कौतूहलं वः ॥१॥

अपि च

[अनुष्टुप्]

शशिभानुबृहद्भानुस्फुरत्त्रितय चक्षुषः।
वन्दे शम्भोः पदाम्भोजमज्ञानतिमिरद्विषः ॥२॥

[शार्दूलविक्रीडित]

द्वाः सर्वार्थ समागमस्य रसनारङ्गस्थलीनर्तकी
तत्त्वालोकनकज्जलध्वजशिखा वैदग्धविश्रामभूः
शृङ्गारादिरसप्रसादलहरी स्वर्ल्लोककल्लोलिनी
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसंभ्रमसखी सा भारती पातु वः ॥३॥

१—मालिनीवृत्त—पिता जी, मुझे स्वर्गंगा का मृणाल ला दीजिये। पुत्र, वह मृणाल नहीं, यह तो सर्पराज है। यह सुनकर गणेश रोने लगे और शंभु के मुँह पर हँसी छा गई। यह देखकर पर्वतराज कन्या पार्वती को बड़ा कौतूहल हुआ। वह कौतूहल तुम्हारी रक्षा करे।

२—अनुष्टुप्—शंभु के तीन प्रकाशपूर्ण नेत्र हैं, चन्द्र, सूर्य, और अग्नि। वे अज्ञान रूपी तिमिर के नाश करने वाले हैं। उन भगवान् शंकर के कमल चरणों की मैं वन्दना करता हूँ।

३—शार्दूलविक्रीडित—सरस्वती तुम्हारी रक्षा करें जो सब प्रकार के अर्थबोध के लिए द्वार-रूप हैं। जिह्वा रूपी रंगस्थली की वे नर्तकी हैं। तत्त्व

को आलोकित करने वाली दीप-शिखा हैं, विदग्धताके लिये विश्राम-स्थल हैं, शृङ्गारादि रसों की निर्मल लहरियों की मन्दाकिनी हैं और कल्पान्त तक स्थिर रहने वाली कीर्ति की प्रिय सखी हैं।

१—पौराणिक कथाओंमें गणेश की शरारतों के प्रति शिव के मन के क्षोभ का अनेकशः वर्णन मिलता है। ऐसे अवसर पर पार्वती पुत्र का पक्ष लेकर शिव की उदासीनता पर व्यंग्य भी करती हैं। पिता के औघड़ रूप, जटा जाल, व्याल, चन्द्रमा आदि से विनोद करना गणेश का स्वभाव था। नीलमत पुराण का एक श्लोक देखिए :—

यो मातुरुत्संग गतोऽथ मात्रा निर्वार्यमाणोऽपि बलाच्च चन्द्रम्।
संगोपयामास पितुर्जटासु गणाधिनाथस्य विनोद एषः॥
११४।१०

शिव की पारिवारिक स्थिति के ऐसे विलक्षण वर्णन वस्तुतः पारिवारिक मंगल की कामना के ही रूप हैं। तुलनीय विद्यापति पदावली, "नित मोयँ जाओ भिखि आनओ मांगि" मित्र, मजूमदार संस्करण, छन्द १३।

२—यहाँ शिव के तीनों नेत्रों के प्रकाश को अज्ञानान्धकार का विनाशक कहा गया है। नेत्र ज्ञानके प्रतीक हैं और शिव ज्ञान रूप ही हैं। नेत्र संस्कृत नेतृ से बना है उसका अर्थ होता है ले जाना या मार्ग दिखाना। शिव ज्ञानगुरु हैं, इसीलिए उनको "सहस्त्राक्ष" और "सर्वतश्चक्षुस्" भी कहा जाता है :—

सहस्राक्षोऽच्युताक्षश्च सर्वतोऽक्षिमयोपि च।
चक्षुषः प्रभवं तेजः सर्वतश्चक्षुरेव च॥
[महाभारत, अनुशा० १५१।१३]

३—सरस्वती को "रसना रंगस्थली नर्तकी" कहा गया है। नर्तकी' विशेषण कुछ खटक सकता है; पर विद्यापति ने यह विशेषण 'नटी' के अर्थ में ही रखा है। पराशक्ति का 'कज्जल रूप' काली है जो युद्ध की रंगस्थली की नर्तकी हैं जब कि 'उज्जल रूप' वाणी या सरस्वती है, जो रसनारंगस्थलीकी नर्तकी हैं :—

एकाएक सहस को धारिनि
जनि रंगापुर नटी
कज्जलरूप तुअ काली कहिय
उज्जलरूप तुअ बानी
[पदावली पद—१]

[अनुष्टुप्]

गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे पुरे ।
देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुर्लभः ॥४॥
श्रोतुर्ज्ञातु[1]र्वदान्यस्य कीर्तिसिंह महीपतेः ।
करोतु कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः ॥५॥

दोहा

तिहुअन खेत्तहिं काञि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ ॥१॥
अक्खर खंभारंभ जउ मञ्चो वन्धि न देइ ॥२॥
ते मोञे भलञो निस्र्ढ़ि गए जइसओ तइसञो कब्ब ॥३॥
खल[2] खेलत्तणें दूसिहइ सुअण पसंसइ सब्ब ॥४॥
सुअण पसंसइ कब्ब मझु दुज्जन बोलइ मन्द ॥५॥
अवसञो विसहर विस वमइ अमिञ विमुक्कइ चन्द ॥६॥

१. कः दातुः । 'वदन्य' के साथ दातुः की अपेक्षा ज्ञातुः पाठ ठीक लगता है ।

२. क० खेलछल

अनुष्टुप्—४-५ कलियुग में घर-घर काव्य है, नगर नगर उसके श्रोता हैं; देश-देशमें रस मर्मज्ञ हैं; किन्तु संसार में दाता दुर्लभ हैं । महाराज कीर्ति सिंह काव्य के श्रोता हैं, रसज्ञाता हैं और दान देनेवाले भी हैं । वे स्वयं काव्यकी रचना भी करते हैं । कवि विद्यापति उन्हीं महाराजा कीर्ति सिंह के भव्य काव्य की रचना करते हैं ।

पंक्ति सं० १-६ यदि अक्षर रूपी खंभे गाड़कर (आरम्भ कर) उसपर मंच न बाँध दें, तो त्रिभुवन-क्षेत्र में उसकी कीर्तिलता किस तरह फैलेगी । मेरा ऐसा-वैसा काव्य यदि ख्याति प्राप्त कर ले तो भी बहुत है । दुष्टजन इसको खेल के बहाने निन्दा करेंगे, पर सज्जन लोग इसकी प्रशंसा करेंगे । सज्जन मेरे काव्य-को सराहेंगे, दुर्जन बुरा कहेंगे । ५ । विषधर निश्चय ही विष उगलता है, चन्द्रमा अमृत वर्षण करता है ।

अनुष्टुप् ४-५ इन पंक्तियोंमें तत्कालीन संस्कृतिक विनिपातको स्थितिका संकेत है । राजा गणेश्वर की मृत्यु के बाद मिथिला के कविकुलों को कैसी दुरवस्था

थी इसका संकेत कवि ने आगे भी किया है, देखिए २ । ११–१५ । यह व्यंग्य भी है कि काव्य करनेवाले तो घर-घर हैं मगर श्रोता कम हैं, उनसे भी कम रस-ज्ञाता हैं, और दाता तो कहीं हैं ही नहीं ।

पं० सं० १-६ खलनिन्दा और सज्जन प्रशंसा की परिपाटी मध्यकालीन कथा काव्यों में एक कथानक रूढ़ि जैसी वस्तु हो गई थी । कविकर्म की व्याख्या करते हुए तुलसी ने भी "खल परिहास होहि हित मोरा, काक कहहिं कलकंठ कठोरा" आदि में इसी रूढ़ि का निर्वाह किया है ।

सज्जन चिन्तइ मनहिं मने मित्त करिश्र सब कोए ।।७।।
भेश्र[1] कहन्ता मुज्झ जइ दुज्जन वैरि ण होए ।।८।।
बालचन्द विज्जावइ भासा ।।९।।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा ।।१०।।
श्रो परमेसर सेहर[2] सोहइ ।।११।।
ई णिच्चइ नाश्चर मन मोहइ ।।१२।।
का परबोधञो कवण मणावञो ।।१३।।
किमि नीरस मनें रस लए लावञो ।।१४।।
जइ सुरसा होसइ मझु भासा ।।१५।।
जो बुज्झह सो करिह पसंसा ।।१६।।
महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ[3] छइल्ल ।।१७।।
सज्जन पर उँश्रश्रार मन दुज्जन नाम[4] मइल्ल ।।१८।।
सक्कय वाणी बुहश्रन भावइ ।।१९।।
पाउँश्र रस को मम्म न पावइ ।।२०।।

१. क. भेदक हत्ता २. स्तंभ – मेभकरन्ता
२. शा. क. हर सिर
३. स्तं. कव्वह सावु
४. स्तं. माण । B. A. मान

पं० ७–१४ सज्जन मनहिं मन सबको मित्र समझ कर शुभ चिन्ता करता है । भेद (त्रुटि) को कहने वाला दुर्जन कभी भी मेरा शत्रु नहीं है । बालचन्द्र और विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुष्टजन की हँसी (उपहास) नहीं लगती । वह (बालचन्द्र) परमेश्वर शंकर के माथे सुशोभित होता है, और यह भाषा

चतुर लोगों के मन को मुग्ध करती है। मैं क्या प्रबोधन करूँ। किस प्रकार मनाऊँ ! नीरस मन में रस लाकर कैसे भर दूँ।

पं० १५-२० यदि मेरी भाषा रसपूर्ण होगी तो जो भी उसे समझेगा, वही उसकी प्रशंसा करेगा। मधुकर कुसुम रस (मकरन्द) को जानता है और छइल्ल (विज्ञपुरुष) काव्य कला का मर्म जानता है। सज्जन परोपकार में मन लगाते हैं ! दुर्जन का नाम ही घृणित है। संस्कृत भाषा केवल विद्वान लोगों को अच्छी लगती है। प्राकृत भाषा में रस का मर्म नहीं होता। २०

७-१४ कवि के लिए दुर्जन की निन्दा का कोई मूल्य नहीं होता। उसे 'लोक सम्मत' और 'आत्माभिमत' दोनों ही देखना होता है। विद्यापति ने अपनी कविता को 'बालचन्द्र' की तरह कहा है। निष्कलंक कीर्ति के लिए यह उपमान प्रसिद्ध है। तुलसी ने 'नव विधु विमल तात जस तोरा' में इसी के आधार पर अपना प्रसिद्ध सावयव रूपक प्रस्तुत किया है।

१५-२० छइल्ल : **वम्म ते विरला केवि नर जे सवंग छइल्ल।**
जे वंका ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते वइल्ल॥
[हेम ८।४।४१२]

यहाँ 'छइल्ल' ∠ छविल्ल बोलियों का छैल, छबीला, छैला आंगिक सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त होते हुए भी स्वभाव और गुण की ओर संकेत करता है। दूसरी पंक्ति इसका प्रमाण है। जो बाँके हैं वे वंचक हैं जो सीधे हैं वे बैल हैं। छइल्ल वह है जिसमें बाँकपन भी हो, सीधापन भी, पर न वंचकता हो और न बैलपन। काव्य मर्मज्ञ भी ऐसा ही होता है। वह काव्य का बाँकपन भी समझता है और इतनी सहजता होती है कि उसका रस भी ले सकता है। वह न तो वंचक होता है न बेवकूफ। इसे ही साहित्यशास्त्र में 'सहृदय' कहा गया है।

देसिल बअना सब जन मिट्ठा ॥२१॥
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥२२॥
भृंगी पुच्छइ भिंग सुन की संसारहि सार ॥२३॥
मानिनि जीवन मानसओ वीर पुरुस अवतार ॥२४॥
वीर पुरुस कइ जम्मिअइ नाह न जम्पइ नाम ॥२५॥
जइ उँच्छाहे फुर कहसि हओ आकण्डन काम ॥२६॥

रड्डा

किर्त्तिलद्ध[1] सूर सङ्गाम ॥२७॥
धम्म पराअण हियय विपयकम्म[2] नहु दीन जम्पइ ॥२८॥
सहज भाव सानन्द सुअण भुञ्जइ जासु सम्पइ ॥२९॥
रहसें दव्व दए विस्सरइ सत्ते सरुअ सरीर ॥३०॥
एत्ते लक्खण लक्खिअइ पुरुष पसंसओ वीर ॥३१॥

जदौ

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन ॥३२॥
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो ॥३३॥

१. शा० क० किंतिलुद्ध, रतं० किर्त्तिलुद्धउ ।
२. रतं० पिपय काल ।

२१-२६—देशी भाषा सबको अच्छी लगती है। इसीलिए मैं उसी प्रकार का अवहट्ट कहता हूँ। भृंगी पूछती है कि हे भृंग सुनो, संसार में सार क्या है ! मानिनि ! ऐसे वीर पुरुष का अवतार, जिसका जीवन मान-संयुक्त हो। नाथ, यदि कहीं वीर पुरुष जन्मा हो, तो उसका नाम क्यों नहीं लेते ! यदि सोत्साह स्फुट रूप से कहो तो मैं भी सुनकर तृप्त होऊँ।

२७-३१—कीर्तिप्राप्त, संग्राम में वीरता दिखाने वाला, धर्म प्रयाण हृदयवाला तथा जो विपत्तियों के बार-बार आने पर भी दीन वचन न बोलता हो। सज्जन लोग जिसकी सम्पत्ति का आनन्द पूर्वक आसानी से उपभोग कर सकें। एकान्त में किसी को द्रव्य की सहायता देकर जो उसे भूल जाये, सत्वभरा सुरूप शरीर वाला हो इतने लक्षणों से युक्त पुरुष की मैं वीर मानकर प्रशंसा करता हूँ।

३२-३३ (यदुक्तम्)—जैसा कहा गया है कि पुरुषत्व से पुरुष (श्रेष्ठ) है। केवल जन्म लेने से पुरुष (श्रेष्ठ) नहीं हैं। जलदान से जलद-जलद है, धूम का पुंज जलद नहीं है।

२१-२६—संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट और देशी के विषय में कवि द्वारा व्यक्त मत की सांगोपांग व्याख्या के लिए इसी पुस्तक में देखिए "अवहट्ट और देसिल बअन" शीर्षक अध्याय।

भृंग-भृंगी सम्वाद की कथानक रूढ़ि की ऐतिहासिक व्याख्या "कीर्तिलता के काव्य रूप" शीर्षक अध्याय में की गई है।

२७-३१—रड्डा छन्द पर 'छन्दों की दृष्टि से पाठ शोध' में विचार किया गया है। विद्यापति ने 'पुरुष परीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें पुरुषत्व की अनोखी व्याख्या दी गई है। ये वर्णन उसी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं।

सो पुरिसो जसु मानो सो पुरिसो जस्स अज्जने सत्ती ॥३४॥
इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूना पसू होइ ॥३५॥

दोहा

सुपुरिस कहनी हौं कहउँ जसु पत्थावे पुन्न ॥३६॥
सुक्ख सुभोजन सुभ वअन देवहा जाइ सपुन्न ॥३७॥

छपद

पुरुष हुअउ वलिराए जासु कर कन्न पसारिअ ॥३८॥
पुरिस हुअउ रघुतनअ[1] जेन बलें[2] रावण मारिअ ॥३९॥
पुरिस भगीरथ हुअउ जेन्ने णिअ कुल उद्धरिउ ॥४०॥
परसुराम पुनि पुरिस जेन्ने खत्तिअ खअ करिअउ ॥४१॥
अरु पुरिस पसंसओ राय गुरु कित्ति सिंह गअणेस सुअ ॥४२॥
जे सत्तु समर सम्मद्दि करु[3] वप्प वैर उद्धरिअ धुअ ॥४३॥

१—स्तं० रघुराय
२—स्तं० रण।
३—स्तं० कट्टु।

३४-३५—पुरुष वही है जिसका सम्मान हो, जो अर्जन की शक्ति वाला हो, इतर लोग पुरुष के आकार में पुच्छहीन पशु की तरह हैं।

३६-३७ दोहा—सुपुरुष की मैं कहानी कहता हूँ! जिसके प्रस्ताव (कथन) से पुण्य होता है सुख मिलता है। सुभोजन, सुभवन, और अन्त में पुण्य के कारण देवगृह (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है अथवा उसका दिवस सुख पूर्वक अच्छे भवन में सुभोजन के साथ सम्पूर्ण होता है।

३८-४३ छपद—पुरुष राजा बलि हुए थे जिनके आगे कृष्ण ने हाथ पसारा। पुरुष रामचन्द्र हुए जिन्होंने बल से रावण को मारा! पुरुष राजा भगीरथ हुए जिन्होंने अपने कुल का उद्धार किया। परशुराम पुरुष थे जिन्होंने क्षत्रियों का नाश किया। और पुरुष राजश्रेष्ठ गणेश्वर के पुत्र कीर्तिसिंह हैं

जिन्होंने शत्रुओं को समर में मर्दित करके अपने पिता के बैर का बदला लिया।

३७—'डॉ० वासुदेवशरण इस पंक्तिको 'सुपुरुष' का विशेषण मान कर अर्थ करते हैं कि वीर पुरुष का समय तीन प्रकार से व्यतीत होता है। सुख समृद्धि के अनुसार विहार, मित्रादि के साथ भोजन और काव्यादि विनोदों में। किन्तु 'जसु' ∠यस्य सर्वनाम देवहा [∠दिवह ∠दिवस हेम १।२३६] का विशेषण न होकर कथा-प्रस्ताव का विशेषण लगता है। इसलिए इसे कहानी सुनने का माहात्म्य क्यों न माना जाये। जबकि मध्यकालीन कथाओं में कथा-श्रवण के फल गिनाने की कथानक रूढ़ि बहुत प्रचलित थी। पुराणों, धार्मिक आख्यानों आदि के सुनने के माहात्म्य का वर्णन हमारे साहित्य में विरल नहीं है, तुलसी ने राम कथा कहने-सुनने वाले के लिए "कलिमल रहित सुमंगल भागी" होने का फल बताया है। कवि पृथ्वीराज ने कृष्ण-रुक्मिणी की बेलि में इसके पढ़ने का माहात्म्य बताते हुए कहा कि इसे जो पढ़ता है उसके कण्ठ में सरस्वती, घर में लक्ष्मी, और मुख में शोभा विराजती है। संसार में भोग और मरने के बाद मुक्ति मिलती है। पारलौकिक सुख की रूढ़ि को दृष्टि में रखकर इस पंक्ति में आये 'देवहा' शब्द का अर्थ देवगृह [स्वर्ग] भी लगाया जा सकता है। कथा-श्रवण-फल के कुछ अन्य उद्धरण :—

लखमसेन पद्मावती—

लखमराय तणउ संयोग। सुणउ कथा या परिमल भोग ॥१२७॥
खाम्रो पिऊ नित विलस्यउ भोग। साँभलइ तेहनइ नहीं वियोग ॥१२८॥

रसरतन—

सुनहि सुजान कामु मन ल्यावै। जिमि सुख लहै राँक धन पावै ॥आदि० ९२॥

उषा अनिरुध—

उषा अनिरुध की कथा कहै सुनै मन लाइ।
मुकुति सुगति अरु सुख लहै कलिमल दुःख नसाइ ॥

दोहा

राय चरित्त रसाल एहु णाह न राखेहि गोइ ॥४४॥
कवन वंस को राय सो कित्तिसिंह को होइ ॥४५॥

रड्डा

तक्कक्कस वेद पढ़ तिन्नि ॥४६॥
दाने दलइ[१] दारिद्द परम बंभ परमत्थे बुज्झइ ॥४७॥

वित्ते बटोरइ[2] कित्ति सत्ते सत्तु संगाम जुज्झइ ॥४८॥
ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ ण सेव ॥४९॥
दुहु एकत्थ न पाविअइ भुअवै अरु भूदेव ॥५०॥
जेन्हे खण्डिअ पुव्व वलि कन्न[4] ॥५१॥
जेन्हे सरण परिहरिअ जेन्हे अत्थिजन विमन न किज्जिअ[5] ॥५२॥
जेइ अतत्थ न भणिअ जेइ न पाउं उमग दिज्जिअ ॥५३॥
ता कुल केरा बड्डिपन कहबा कवन उँपाए ॥५४॥
जज्जमिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राए ॥५५॥

१—क० शा० दलिअ।
२—ख० विथारै।
३—ख० परमै एक भुअबै भुअदेव।
४—स्तं० पतिकख
५—स्तं० किज्जिय।

४४-४५ यह राज-चरित बड़ा रसपूर्ण है। इसे नाथ, गुप्त न रखें। वे राजा किस वंश के थे? कीर्तिसिंह कौन थे?

४७-५० रड्डा—वे तर्क-कर्कश, तीनों वेद पढ़े हुये थे। उन्होंने दान से दारिद्रय का दलन किया। वे परब्रह्म परमार्थ को समझते थे। धन से कीर्ति प्राप्त करते और संग्राम में शत्रु से युद्ध करते थे। ओइनी वंश के प्रसिद्ध उस राजा की सेवा कौन नहीं करता? दोनों एकत्र दुर्लभ हैं एक तो भूपति (राजा) और दूसरा (भूदेव) ब्राह्मण। (कीर्ति सिंह दोनों ही हैं)।५०।

५१-५५—जिन्होंने पूर्व (यश प्राप्त) बलि और कर्ण को खंडित (पराजित) किया। जिन्होंने शरण नहीं चाहा, जिन्होंने अर्थार्थी लोगों को विमन नहीं किया, जिन्होंने असत्य भाषण नहीं किया और कभी कुमार्ग पर पैर नहीं दिया। उस वंश का बड़प्पन वर्णन कहने का उपाय (शक्ति) कहाँ, जिस कुल में कामेश्वर के समान व्युत्पन्नमति राजा हुये।५५।

४५—चरित्त—मध्यकाल में ऐतिहासिक अथवा अर्द्धऐतिहासिक काव्यों को चरित-काव्य कहा जाता था।

४६—ओइनी वंश। जयपति के पुत्र हिंगु तथा उनके पुत्र ओइन ठाकुर हुए। किसी राजा ने इन्हें एक गाँव दिया था जो इनके नाम पर ओइनी गाँव

हुआ। यद्यपि ये लोग खौआडे जगतपुर मूल के काश्यपगोत्री थे, पर बाद में ओइनी ही मूल ग्राम हुआ और इसी के आधार पर यह वंश ओइनीवार कहा गया। देखिए—मध्यकालीन तिरहुत—ना० प्र० सभा पत्रिका वर्ष ६४ अंक १; सं० २०१६। डॉ० वासुदेव शरण ओइनी की उत्पत्ति अवतीर्ण से लगाते हैं।

५१—स्तं. तीर्थ की प्रति में "जेन्ने खंडिय पुव्व पतिक्ख" पाठ है! यदि इसका अर्थ यह हुआ कि जिन्होंने पूर्व यानी पहले के प्रतिपक्षियों (शत्रुओं) का खण्डन किया। तो इससे वहाँ 'पूर्व' विशेषण अनुपयुक्त हो जाता है। यदि पाठ यही माने तो अर्थ होना चाहिए जिन्होंने भूत(पूर्व) और वर्तमान (पतिक्ख ∠ प्रत्यक्ष) का खण्डन किया। अर्थात् ऐसे नरेश न पहले हुए न वर्तमान मे हुए।

छपद

तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर ॥५६॥
हुअउ हुआसन तेजि, कन्ति कुसुमाउँह सुन्दर ॥५७॥
जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम बलि जानल ॥५८॥
पिय सख भणि पिअरोज साह सुरताण समानल ॥५९॥
पत्तापे दान सम्मान गुणे[1] जे सब करिअउँ अप्प बस ॥६०॥
वित्थरिअ कित्ति महिमण्डलहिं कुन्द कुसुम संकास जस ॥६१॥

दोहा

तासु तनअ नअ विनअ गुन गरुअराअ गएनेस ॥६२॥
जें पट्ठाइअ दस दिसओ[2] कित्ति कुसुम संदेस ॥६३॥

छपद

दाने गरुअ गएनेस जेन्ने[3] जाचक जन रञ्जिअ ॥६४॥
माने गरुअ गएनेस जेन्हे रिउं बड्डिम भंजिअ ॥६५॥

१—स्त. पत्तापइ दाने। सम्माने। गुने।
२—शा० क० दसओ दिस।
३—शा० क० जेण

५६-६१ छपद—उसके पुत्र भोगीशराय, इन्द्र के सामान श्रेष्ठ भोगों को भोगने वाले थे। तेज में हुताशन (अग्नि) की तरह और कान्ति में कुसुमायुध

कामदेव की तरह हुए। वे याचकों के मनोवांछित देने वाले, और पाँचवें दान यानी क्षेत्रदान (भूमिदान) में बलि की तरह थे। उन्हें प्रिय सखा कहकर सुलतान फिरोजशाह ने सम्मानित किया। उन्होंने अपने प्रताप, दान, सम्मान आदि गुणों से सबको अपने वश में कर लिया और महिमण्डल में कुन्द-कुसुम की तरह धवल-यश को विस्तृत किया।६१।

६२-६३ दोहा—उनके पुत्र थे नीति, विनय आदि गुणों में श्रेष्ठ राजा गणेश्वर जिन्होंने दशों दिशाओं में अपने कीर्ति-कुसुम का सन्देश (गन्ध) फैलाया ।।६३।।

६४-६५ छपद—राजा गणेश्वर दान में श्रेष्ठ थे। उन्होंने याचकों के मन को अनुरंजित किया। राजा गणेश्वर मान में श्रेष्ठ थे। उन्होंने शत्रुओं के बड़प्पन को भंग किया।

५८ डॉ० वासुदेवशरण ने 'सिद्धिकेदार' का अर्थ सिद्धि वृक्ष अथवा कल्प-वृक्ष किया है। केदारः क्षेत्रम् (अमरकोश) के अनुसार केदार का अर्थ भूमिखण्ड ही है। उन्होंने पंचमदान का अर्थ आत्मदान किया है।

मध्यकालीन काव्य ग्रन्थों में 'षोडसदान' का उल्लेख मिलता है।

कहै पदमाकर करोरन के कोस दए
षोडसहू दानो महादान अधिकारी को
जगद्विनोद ६६६

इहि विधि जन्म पत्र ठहरायौ, षोडसदान नृपति पहँ पायौ।
रसरतन, आदि० १३३

मनुस्मृति में षोडसदान का वर्णन इस प्रकार हुआ।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥
वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥
यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥

मनु० ४।२२९-२३२

जल, अन्न, तिल, दीप, भूमि, स्वर्ण, गृह, चाँदी, वस्त्र, अश्व, वृषभ, गाय, यान, शय्या, धान्य और ब्रह्मज्ञान।
इस प्रकार मनुस्मृतिके के अनुसार "पंचमदान" भूमिदान ही है।

५९—संस्कृत भाषा ने अनेक विदेशी शब्दों को स्वप्रकृति में ढालकर आत्मसात् कर लिया था। सुरताण या सुरत्राण सुल्तान का ही संस्कृत रूपान्तर है।

६३—कित्ति कुसुम सन्देश बहुत सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है! कुसुम की गंध दिशाओं में फैलती है, इसे कवि ने कुसुम-सन्देश कहा है।

सत्ते गरुअ गएनेस जेन्हे तुलिअउ आखण्डल ॥६६॥
कित्ति गरुअ गएनेस जेन्हे धवलिअ[1] महिमण्डल ॥६७॥
लावन्ने गरुअ गएनेस पुनु देक्खि सभासइ पञ्चसर ॥६८॥
भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअराए गएनेस वर ॥६९॥

अथ गद्य

तान्हि करो पुत्र युवराजन्हि मांझ[2] पवित्र ॥७०॥
अगणेयगुणग्राम, प्रतिज्ञापदपूरणैकपरसुराम ॥७१॥
मर्यादामङ्गलावास, कविताकालिदास, प्रबलरिपुबल ॥७२॥
सुभटसंकीर्णसमरसाहसदुनिवार, धनुर्विद्यावैदग्ध ॥७३॥
धनञ्जयावतार, समाचरितचन्दचूड[3]चरणसेव, समस्त- ॥७४॥
प्रक्रियाविराजमान महाराजाधिराज श्रीमद्वीरसिंहदेव ॥७५॥

दोहा

तासु कनिट्ठ गरिट्ठ गुण कित्तिसिंह भूपाल ॥७६॥
मेइनि साहउ, चिर जियउ करो धम्म परिपाल ॥७७॥

१. शा० क० धरिअउँ।
२. ख० मह।
३. ख० समासादित्य।

६६-६९. राजा गणेश्वर सत्वमें श्रेष्ठ थे, उन्होंने इन्द्र की बराबरी की। कीर्ति में वे गुरु थे उन्होंने कीर्ति से सारे पृथ्वी मंडल को धवल कर दिया। लावण्य में भी वे श्रेष्ठ थे और देखकर लोग उन्हें 'पंचशर' कहते, भोगीश्वर के पुत्र गणेश्वर जगत्प्रसिद्ध श्रेष्ठ पुरुष थे।६९।

७०—७५ गद्य—उनके पुत्र युवराजोंमें पवित्र, अगणित गुणों के आगार, प्रतिज्ञापूर्ति में परशुराम, मर्यादा के मंगलमय स्थान, कविता में कालिदास, प्रबल रिपुओं की सेना के सुभटों के बीच युद्ध में साहस दिखाने वाले अडिग, धनुर्विद्या-वैदग्ध अर्जुन के अवतार, चन्द्रचूड शंकरके चरणों के सेवक, समस्त रीतियों के निबाहने वाले महाराजाधिराज श्रीमत् वीरसिंह देव थे।७५।

७६—७७. उनके कनिष्ठ, गुणों में गरिष्ठ [श्रेष्ठ] कीर्तिसिंह हैं। वे मेदिनी का शासन करें, चिरजीवी हों, और धर्म का परिपालन करें।

७०–७५ गद्यः—कीर्तिलता के गद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संस्कृत के आलंकारिक गद्य की पद्धति पर लिखा गया। संस्कृत गद्य की विशेषताएँ ले आने के लिए लेखक ने भाषा को भी संस्कृतमय कर दिया है। संस्कृत गद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह काव्य की तरह ही अलंकार-पूर्ण हुआ करता था। कीर्तिलता का गद्य भी आलंकारिक है। उसमें अन्तर्तुकान्त की पद्धति का निर्वाह भी दिखायी पड़ता है। विद्वानों की धारणा थी कि गद्य में अन्तर्तुकान्त की पद्धति का प्रचलन मुसलमानी सम्पर्क की देन है। आधार शायद खड़ी बोली के गद्य का आरम्भिक रूप था, जिसमें प्रायः मुसलमान लेखकों ने अन्तर्तुकान्त की पद्धति का बहुतायत से प्रयोग किया है! किन्तु अपभ्रंश की अनेक पुरानी रचनाओं में भी अन्ततुर्कान्त की पद्धति दिखाई पड़ती है। इसलिए इस बिषय पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। कीर्तिलता के गद्य की सारी विशेषताएँ असल में रूढ़ियों की उपज हैं। परवर्ती अपभ्रंश के या भाषा के रचनाकारों के सामने गद्य-निर्माण के समय संस्कृत गद्य का ही आदर्श था, वह गद्य जो बाण, सुबंधु, दण्डी आदि गद्यकारों की लेखनी से मँज कर यह एक साहित्यिक माध्यम बन चुका था। इसलिए इस काल के परवर्ती अपभ्रंश के जिस किसी भी गद्यकार ने इसे अपनाया उसमें संस्कृत गद्य की अनेक विशेषताएँ आपोआप आ गयीं।

गद्य

जेन्हे राजे अतुलतर विक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलनाजे ॥७८॥
साहस साधि पातिसाह आराधि दुष्ट करेओ दप्प— ॥७९॥
चूरेओ, पितृवैर उंद्धरि साहि करो मनोरथ पूरेओ ॥८०॥
प्रवल शत्रु वलसंघट्ट सम्मिलन सम्मर्दसंजात पदाघात— ॥८१॥
तरलतरतुरङ्गखुरक्षुण्णवसुन्धराधूलि संभार घनान्धकार- ॥८२॥
श्यामसमरनिशाभिसारिकाप्राय जयलक्ष्मीकर ग्रहण ॥८३॥

करेओ। बूडन्त राज उद्धरि धरेओ ॥८४॥
प्रभुशक्ति दानशक्ति ज्ञानशक्ति तीनहु शक्तिक परीक्षा ॥८५॥
जानलि। रूसलि विभूति पलटाए आनलि। अहितन्हि करो ॥८६॥
अहंकार हरिओ[3]। तरलतरवारिधारातरङ्गसंग्रामसमुद्र- ॥८७॥
फेणप्रायशयश उद्धरि दिगन्त विथ्थरेओ ॥८८॥

ईशमस्तकविलासपेसला।
भूतिभाररमणीयभूषणा ॥
कीर्तिसिंह नृप कीर्तिकामिनी
यामिनीश्वरकला जिगीषतु ॥

इति श्रीविद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां प्रथमः पल्लवः।

१. स्त० परिग्रह।
२. क० शा० तन्हिकरो।
३. क० शा० सारेओ।

७८—८८ जिस राजा ने अतुल विक्रम में विक्रमादित्य से तुलना की, साहस के साथ, बादशाह को प्रसन्न करके, दुष्ट (असलान) का दर्प चूर किया, पिता के बैर का बदला लेकर शाह का मनोरथ पूर्ण किया। प्रबल शत्रुओं की सेना के संगठन की भीड़ से पदाघात के कारण चंचल हुए घोड़ों की टाप से क्षुन्न वसुन्धरा की धूलि के अन्धकार की काली युद्ध-निशा की अभिसारिका जयलक्ष्मी का पाणिग्रहण किया। डूबते हुये राज्य का उद्धार किया।८४। प्रभुशक्ति, दानशक्ति, ज्ञानशक्ति तीनों ही शक्तियों की परीक्षा दी। रूठी हुई विभूति को लौटा लाए। शत्रुओंका अहंकार दूर किया। उन्होंने तरल कृपाण की धारा से संग्राम रूपी समुद्र मथ कर फेन के समान यश निकाल कर दिगन्त में फैलाया।

ईश (शिव और कीर्तिसिंह) के मस्तक पर विलास करनेवाली विभूति (भस्म और वैभव-श्री) से भूषित यामिनीश्वर चन्द्रमा की कला की तरह कीर्तिसिंह की कीर्तिकामिनी विजय को प्राप्त करे।

विद्यापति ठाकुर विरचित कीर्तिलता का पहला पल्लव समाप्त।

स्तम्भतीर्थ प्रतिकी संस्कृत टीका

प्रथमः पल्लवः

श्री गणेशाय नमः

श्री गोपालगिरापङ्गुरपि शैलं विलङ्घते ।
तदादेशवशादेषा क्रियते मंगलैरलम् ।।

१-२ तिहुअणेत्यादि—त्रिभुवनक्षेत्रे किमिति तस्य कीर्तिवल्ली प्रसरिता । अक्षरसंभारस्तं यदि मंचं न बध्नामि (? बध्नाति) ।

३-४ ततोहं भणामि निश्चितं कृत्वा यादृशं तादृशं काव्यं । खलः खलत्वेन दूषयिष्यति । सुजनः प्रशंसतु सर्वः ।

५-६ सुअणेत्यादि—सुजनः प्रशंसतु काव्यं मम, दुर्जनो वदतु मंदं । अवश्यं विषधरो बिषं वमति अमृतं विमुंचति चंद्रः ।

७-८ सज्जणेत्यादि—सज्जनश्चिन्तयति मनसा मनसा । मित्रं क्रियते सर्व एव । मेदं कुर्वन् मयि यदि दुर्ज्जनो वैरी न भवति ।

९-१२ वालचंदेत्यादि—बालचंद्रो विद्यापति भाषा, द्वयोरपि न लगति दुर्ज्जन-हासः । स परमेश्वरशेखरे शोभते । असौ नागरमनो मोहयति ।

१३-१६ कं प्रबोधयामि ? कं मानयामि ? किमिति नीरसमनसि रसं गृहीत्वा लापयामि । यदि सुरसा भविष्यति भाषा यः बुध्यते स करिष्यति प्रशंसा (म्) ।

१७-१८ मधुकरो बुध्यते कुसुमरसं काव्यं साधुविदग्धः ।
सज्जनः परोपकारमनाः दुर्ज्जनो मनो मलिनः ।

१९-२२ सक्कअ इत्यादि—संस्कृतवाणीं बुधजनः भावयति । प्राकृतरसं कोपि न प्राप्नोति । देशीयवचनं सर्वजनमिष्ठ तेन तादृशं जल्पामि प्राकृतं ।

२३-२४ भृंगीत्यादि—भृंगी पृच्छते, भृंग ! शृणु कः संसारे सारः । मानिनि-जीवनं समानं वीरपुरुषावतारः ।

२५-२६ वीरेत्यादि—वीरपुरुषः कः जातः स्वामिन् ! न जानामि नामा । यदि उत्सवे स्फुटं कथयसि । अहं आकर्ण्णन कामा ।

२७-३१ कित्तीत्यादि—कीर्तिलुब्धः शूर संग्रामे धर्मपरायणहृदयः । विपत्कालेन खलु दीनं जल्पति । सहजभावे सानन्दः स्वजनो भुंक्ते यस्य सम्पत्ति ।

रभसेन द्रव्यं दत्त्वा विश्रामयति। सत्यस्वरूपहृदयः, एतैर्लक्षणैः संलक्ष्य पुरुषं प्रशंसामि वीरम्।

३२-३३ यतः पुरिसेत्यादि—पुरुषत्वेन पुरुषः न खलु पुरुषो जन्ममात्रेण। जलदानेन खलु जलदः न खलु जलदः पुंजितो धूमः।

३४-३५ सो पुरिस इति—स पुरुषो यस्य मानः स पुरुषः यस्य अर्ज्जने शक्तिः। इतरः पुरुषाकारः पुच्छविहीनः पशुर्भवति।

३६-३७ पुरिसेत्यादि—पुरुषकथा अहं कथयिष्ये यस्याः प्रस्तावे पुण्यम्। सुखेन सुभोजनेन शुभवदनेन दिवसो याति सम्पूर्णः।

३८-४३ पुरिसेत्यादि—पुरुषोभवद् बलिराजा यत्र करो कृष्णेन प्रसारितो। पुरुषोभवद्रघुराजा येन रणे रावणो मारितः। पुरुषो भगीरथो भवतु, येन निज कुलमुद्धृतं। परशुरामः पुनः पुरुषो क्षत्रिय क्षयं कृतं। पुनः पुरुषं प्रशंसामि कीर्तिसिंहगणेश सुतं। येन शत्रून्समरे संमर्द्य वप्रवैरं उद्धृतं ध्रुवम्।

४४-४५ राअइत्यदि—राअचरितं रसालमिदं नाथ न रक्षय संगोप्य। कस्य वंशस्य राजा सः कीर्त्तिसिंहः कः भवति।

४६-५० तक्केत्यादि—तर्ककर्कशवेदान् पठति त्रिभिर्दाने दलयति दारिद्र्यं। परंब्रह्म परमार्थं बुध्यते। वित्तेन वर्त्तुली करोति कीर्त्तिम्। शक्त्या शत्रुणा संग्रामे युध्यते। ओइनीवंशः प्रसिद्धो जगति। कः तस्य न करोति सेवां द्वौ एकत्र न प्राप्यते भूपतिः पुनर्भूदेवः।

५२-५५ येन शरणागतो न परिहृतः, येन अर्थीजनो विमना न कृतः। येन अतथ्यं न भाषितं। येन पाद उन्मार्गे न दत्तः। तस्य कुलीयबृहत्त्वं कथने कः उपायः। यत्र जातः उत्पन्नमतिः कामेश्वरसमो राजा।

५६-६१ तसु इत्यादि—तस्य नन्दनः भोगीशो राजवरभोगपुरन्दरः अभवत्। हुताशनतेजाः कान्त्या कुसुमायुधसुन्दरः याचक सिद्धिकेदारदाने पंचमबलिः ज्ञातः। प्रियसखा उक्त्वा प्रियरोजसाह सुरत्राणेन सम्मानितः। प्रतापेन दानेन संमानेन गुणेन येन सर्वे कृता आत्मवशं। विस्तार्य कीर्त्तिमही-मण्डले कुंदकुसुमसंकाशयशाः।

६२-६३ तासु इत्यादि—तस्य तनयो नय विनय गुरुकः राजा गणेशः, येन प्रस्थापित दशदिक्षु कीर्त्तिकुसुमसंदेशः।

६४–६९ दानेन गुरुको गणेशः येन याचकोऽनुरंजितः। माने गुरुको गणेशः येन रिपु बृहत्त्वं भग्नं। सत्ये गुरुको गणेशो येन तुलितः आखण्डलः। कीर्त्या गुरुको गणेशो येन धवलितं महीमण्डलं। लावण्ये गुरुको गणेशो यं प्रेक्ष्य संभाव्यते पंचशरः। भोगीशतनयनः सुप्रसिद्धो जगति गुरुको राजा गणेशात्परः।

७०–७५ **गद्य**—तस्य पुत्रः युवराजेषु मध्ये पवित्रः। अगणेयेत्यादिस्पष्टार्थः।

७६–७७ **तासु इत्यादि**—तस्य कनिष्ठो गरिष्ठो गुणे कीर्तिसिंहभूपालः। मेदिनी-स तु चिरं जीवतु करोतु धर्म-पालनं।

७८–८४ येन राज्ञा तुलता विक्रमविक्रमादित्यीय तुलनया साहसं संसाध्य पाति-साहमाराध्य दुष्टानां (''''दर्प) श्चूर्णितः। पितृवैरमुद्धृत्य मातृणां मनोरथः पूरितः। प्रबलेत्याद्यर्थः स्पष्ट एव।

८५–८८ **बुडुन्तेत्यादि**—मज्जद्राज्यमुद्धृत्य धृतम्। प्रभुशक्त्यादि तिसृणां परीक्षा-ज्ञाता रुष्टा विभूतिः परावृत्या नीता। अहितानामहंकारो कृतः .हरित-स्तरवारिधारातरंगः। सांगसमुद्रस्य फेनप्रायं यश उद्धृत्य दिगन्ते विस्तारितम्।

[इति प्रथमः पल्लवः]

द्वितीयः पल्लवः

अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति ॥१॥

दोहा

किमि उँप्पनउँ वैरिपण किमि उद्धरिअउँ तेन ॥२॥
पुण्ण कहानी पिय कहहु सामिअ सुनओ सुहेन ॥३॥

छपद

लक्खणसेन नरेश लिहिअ जवे पक्ख पंच वे ॥४॥
तं महुमासहि पढम पक्ख पञ्चमी कहिअजे[1] ॥५॥
रज्जुलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल ॥६॥
पास बइसि बिसवासि राए गएनेसर मारल ॥७॥
मारन्त राए रणरोल परु मेइनि हाहा सद्द हुअ ॥८॥
सुरराए नएर नाएर रमनि वाम नयन पप्फुरिअ धुअ ॥९॥
ठाकुर ठक भए गेल[2] चोरें चप्परि घर लिज्झिअ ॥१०॥
दास गोसाञुनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ ॥११॥

१. ख – कहिज्जै ।
२. अ. स्तं – चाकुरचक भए गेल ।

द्वितीय पल्लव

१–११ भृंगी फिर पूछती है ।

दोहा

किस प्रकार शत्रुता उत्पन्न हुई और उन्होंने कैसे बदला लिया । हे प्रिय, आप यह पुण्य कहानी कहें, मैं सुख पूर्वक सुनूँगी !

छपद

जब लक्ष्मण सेन सम्वत्का २५२ वाँ वर्ष लिखित हुआ, उसी साल मधुमास के प्रथम पक्ष की पंचमी को राजलुब्ध असलान ने बुद्धि विक्रम बल में राजा गणेश्वर से हार कर, उनके पास बैठ विश्वास दिलाकर उन्हें मार डाला । राजा के मरते ही रणका शोर मचा, मेदिनी में हाहाकार मच गया । सुरराज के नगर

(इन्द्रावती) की नागरिकाओंके वामनेत्र फड़कने लगे। (प्रसन्नता सूचक)। ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने जबर्दस्ती घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया। धर्म चला गया, काम धन्धे ठप हो गए।

१-११ सुहेन, लिहिय, नएर, नाएर, राए, महुमास, आदि शब्द प्राकृत-अपभ्रंश की प्रकृति के अनुकूल सुखेन, लिखित, नगर, नागर, राज, मधुमास आदि संस्कृत तत्सम से बने तद्भव रूप हैं। इस प्रकार के रूपान्तरों के लिए हेमचन्द्र ने **क-ग-च-ज-त-द-प-य वां प्रायो लुक्** सूत्र [८।१।१०७] दिया है। यानी अपभ्रंश में कगचजदपय का प्रायः लोप होता है। महाप्राण ध्वनियों में लोप के बाद 'ह' ध्वनि बच जाती है, जैसा सुखेन और लिखित में क के लोप पर 'ह' बच गया है। अन्य स्थानों पर अविशिष्ट स्वर 'अ' 'य' श्रुति के कारण 'य' और बाद में 'ए' में बदल गया है। 'कीर्तिलता की भाषा' में इन सभी प्रकार के भाषिक परिवर्तनों पर विस्तार से विचार मिलेगा। अपभ्रंश और अवहट्ठ का अन्तर भी वहाँ स्पष्ट होता चलता है!

४- लक्ष्मण सेन सम्वत् पर विस्तृत विचार के लिए देखिए कीर्तिलता का काल-निर्णय।

खले सज्जन परिभविअ कोई नहिं होइ विचारक ॥१२॥
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कौं पारक ॥१३॥
अक्खर[1] बुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारि भउँ ॥१४॥
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ ॥१५॥

रड्डा

राए वधिअउं सन्त हुअ रोस ॥१६॥
निज मनहिं मने अस तुरुक्क असलान गुण्णइ[2] ॥१७॥
मन्द करिअ हओ कम्म धम्म सुमरि निज सीस धुन्नइ[3] ॥१८॥
एहि दुन्नअ उद्धार के पुन्न न देखओ आन ॥१९॥
रज्ज सम्पओ पुनु करओ कीत्तिसिंह सम्मान ॥२०॥

दोहा

सिंह परक्कम मानधन वेरुद्धार सुसज्ज ॥२१॥
कित्तिसिंह नहु अंगवइ सत्तु समप्पिअ रज्ज ॥२२॥

१. शा० क० ख० अक्खररस ।

२. ख० गुणै ।

३. ख० धुणै ।

४. शा० क० ख० दिण्ण ।

१२–२२ खल लोगों ने सज्जनों को पराभूत कर दिया, कोई न्याय-विचार करने वाला नहीं रहा । जाति-कुजाति में शादियाँ होने लगीं । अधम, उत्तम का कोई पारखी नहीं रहा । या अधम लोग ऊँची जातियों को पार कराने वाले उद्धारक बन गये ! अक्षर-रस (काव्यरस) को समझने वाले नहीं रहे, कवि लोग भिखारी होकर घूमते रहे, राजा गणेश्वरके स्वर्ग जाने पर तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए ।१९।

रड्डा—राजा के वध के बाद असलान का रोष शान्त हुआ । अपने मन ही मन तुर्क अलसान यों सोचने लगा । मैंने यह बुरा काम किया । धर्मका विचार करके वह सिर धुनता । इस दुर्नय से उद्धार का यानी दुर्नीति से किए गए कुकृत्य से उद्धार पाने के लिए इससे बड़ा पुण्य कोई और नहीं दिखाई पड़ता कि मैं कीर्तिसिंह को राज्य सौंपूँ और उनका सम्मान करूँ ।२०।

दोहा—सिंह के समान पराक्रमी, मानधन, बैर का बदला लेने के लिये तत्पर कीर्तिसिंह ने शत्रु-समर्पित राज्य को अंगीकृत नहीं किया ।

१३– राज-व्यवस्था के शिथिल होने के कारण ही नहीं, बल्कि मुसलमानों के आक्रमण के कारण भी मध्यकाल में हिन्दू जाति के भीतर तरह-तरह की सामाजिक अव्यवस्थाएँ फैलने लगीं थीं । मध्यकाल की इस स्थिति का चित्रण अनेक कवियों की रचनाओं में मिलता है । इसी को लक्ष्य करके तुलसी ने 'कलिकाल' का चित्रण किया है । अधम उत्तम का अर्थ यहाँ भी शूद्र ब्राह्मण ही है ।

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम ते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखावहिं डाँटि ।।

अधम उत्तम के उद्धारक बन गए, इसमें भी यही संकेत मालूम पड़ता है ।

१९—दुन्नय <सं० दुर्नय । नय का सामान्य अर्थ आचारण है । वैसे राजकीय संदर्भ में राजा के नीति-चातुर्य को भी 'नय' कहते हैं । जैसे:—

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः

रघु० ९।२७

अलसान ने स्वार्थ-सिद्धि लिए धोके से राज्य छीना, इसीलिए यह 'दुर्नय' है ।

रड्डा

माए जम्पइ अवरु गुरुलोए ।।२३।।
मन्ति मित्त सिक्खवइ कवहु एहु नहि कम्म करिअइ ।।२४।।
कोहे रज्ज परिहरिअ बप्प बैर निज चित्त धरिअइ ।।२५।।
लेहेन राए गएनेस गउँ सुरपुर इन्द समाज ।।२६।।
तुम्हे सत्तुहिं मित्त कए भुञ्जहु तिरहुत राज ।।२७।।

गद्य

तेतुली बेला मातृ मित्र महाजहि करो बोलन्ते ।।२८।।
हृदयगिरि कन्दरा निद्राण पितृवैरिकेशरी जागु ।।२९।।
महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्तिसिंह देव कोपि कोपि बोलए लागु ।।३०।।
अरे अरे लोगहु विथा विस्मृतस्वामि शोकहु कुटिल – ।।३१।।
राजनीति चतुरहु मोर वअन आकण्ण करहु ।।३२।।

१. स्तं० चित्ते धरहु ।

रड्डा—माता कहती है और गुरू लोग कहते हैं, मंत्री और मित्र सीख देते है कि कभी भी यह कार्य नहीं करना चाहिये । क्रोध से राज्य मत छोड़िये । पिता का वैर चित्त में धारण कीजिये । भाग्य-लेख से राजा गणेश्वर स्वर्ग में इन्द्र समाज में गये (मृत्यु हुई) । तुम्हें शत्रुओं को मित्र बनाकर तिरहुत का राज करना चाहिये ।

गद्य—उस बेला में माता, पिता और श्रेष्ठ जनों के बोलने पर, हृदय-गिरि की कन्दरा में सोया हुआ पिता के वैर का सिंह जाग पड़ा । महाराजा कीर्तिसिंह देव क्रुद्ध होकर बोलने लगे । ३० । ऐ लोगों, स्वामी के शोक को सहज भूल जाने वालो, मेरे वचनोंपर ध्यान दो । ३२ ।

२६—लेहेन < लेखेन । लिखा होनेके कारण, भाग्यवशात् ।

२८—तेतुली < अप० तेत्तुलो

वा यत्तदोतोर्डेवडः, हेम० ८।४।४०७

अपभ्रंश में जिस तिस के लिए जेवडु, तेवडु रूप भी चलता है । इसी का एक रूप हेमचन्द्राचार्य के अनुसार जेत्तुलो भी है ।

प्राकृत में भी जेत्तुल, तेत्तुल मिलते हैं । देखिए हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण :—

इदंकिमश्च डेत्तिअ डेत्तिलडेद्दहा

[२।१५७]

दोहा

माता भणइ ममत्तयइ[1] मन्ती रज्जह नीति ॥३३॥
मज्झु पियारी[2] एक पइ वीर पुरिस का रीति ॥३४॥
मानविहूना भोअना सत्तुक देंजेल[3] राज ॥३५॥
सरन पइट्ठे जीअना तीनू काअर काज ॥३६॥

चौपई

जो अपमाने दुक्ख न मानइ ॥३७॥
दानखग्ग को मम्म न जानइ ॥३८॥
परउँअआरे धम्म न जोअइ ॥३६॥
सो धन्नो निच्चित्ते सोअइ ॥४०॥

दोहा

पर पुर मारि सञो गहञो बोलए न जाए कछु धाइ ॥४१॥
मेरहु[4] जेट्ठ गरिट्ठ अछ मन्ति विअक्खन भाइ ॥४२॥

छपद

वप्प वैर उद्धरञो न जण परिवण्णा चुक्कञो[5] ॥४३॥
संगर साहस करञो न जुए सरणागत मुक्कञो ॥४४॥

१. ख० णमन्त पै । शा० मनत्तपइ ।
२. स्तं० पज्झ, पज्झ ।
३. स्तं० सत्तक देले, ख० शत्रु के दीन्हे, शा० सत्तु के देले ।
४. स्तं० मोराहु । मोरहु जेठ गरिठ है ।
५. स्तं० वप्प वैर उद्ध ओ ण उण परिवण्णे चुक्कओं ।

दोहा—माता जो कुछ कहती है वह ममता के कारण, मन्त्री ने राजनीति की बात कही। किन्तु मुझे तो एक मात्र वीर पुरुष की रीति ही प्यारी है। मानहीन भोजन करना, शत्रु का दिया हुआ राज्य लेना और शरणागत होकर जीना, ये तीनों कायरों के ही कार्य हैं। जो अपमान में दुःख नहीं मानता, दान और खंग का मर्म नहीं समझता, जो परोपकार में धर्म नहीं देखता, वह धन्य है (व्यंग्य) ऐसे ही लोग निश्चय पूर्वक सोते हैं। शत्रु के पुर पर आक्रमण करके स्वयं दौड़ कर पकड़ूँगा, ज्यादा बोलने से क्या होता है। मेरे भी ज्येष्ठ और गरिष्ठ मन्त्री और विचक्षण भाई हैं।

छपद्—बाप के वैर का बदला लूँगा और पुनः आपनी प्रतिज्ञा से च्युत न हूँगा, संग्राम में साहस पूर्वक लड़ूँगा पर कभी शरणागत होकर मुक्त न होऊँगा।

४२—इस पंक्ति का अर्थ डॉ० वासुदेव शरण ने यह किया है:—"बड़े और सम्मानित व्यक्ति मर्यादा में रहते हैं। मन्त्री नीति कुशल ही अच्छा लगता है।"

'मेरहु' का अर्थ मर्यादा में हो हो सकता है किन्तु "मर्यादा में ज्येष्ठ और गरिष्ठ है" का अर्थ बड़े और सम्मानित व्यक्ति मर्यादा में रहते हैं, उचित नहीं लगता। भाए का अर्थ उन्होंने 'भाता है' लगाया है।

वस्तुतः ऊपर के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि कीर्तिसिंह आरम्भ में पितृ बैर को स्मरणकर उत्तेजित हो गए। कहीं सुननेवाले उन्हें 'अपने मनका करनेवाला' न सोचलें इसलिए वे अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर कहते हैं, कि जैसी सबकी राय हो। मेरे भी सभी प्रकार के वयोवृद्ध अनुभवी मन्त्री हैं, और विलक्षण (नीति-कुशल) भाई हैं, जो राय करें, वैसा ही किया जाय।

दाने दलओ दारिद्द न जुण नहि अक्खर भासओ ॥४५॥
याने[1] पाट वरु करओ न जुण [2]नीसत्ति पआसओ ॥४६॥
अभिमान जओ रप्खओ जीव सओ नीच समाज न करओ रति ॥४७॥
ते रहउँ कि जाउँ कि रज्ज मम वीरसिंह भण अपन मति ॥४८॥

रड्डा

वेवि सम्मत मिलिअ तवे एक्क ॥४९॥
वेवि सहोदर संग वेवि पुरिस सब गुण्ण विअक्खन ॥५०॥
चलेउ बलभद्दह कण्ण[3] णं उएँ वनिअउँ राम लक्खन ॥५१॥
राजह नन्दन पाओ चलु अइस विधाता भोर ॥५२॥
ता पेप्खन्ते[4] कमन कोँ नअण न लग्गइ लोर ॥५३॥

१. स्तं० पाने पाठ।
२. क० शा० नियसत्ति।
३. क० शा० णं वलभद्दह।
४. ख० देखन्त।

दान से दारिद्र्य का दलन करूँगा और कभी 'न' अक्षर नहीं उच्चरूँगा। यात्रा में ही राज-पाट होगा परन्तु निःशक्ति का प्रदर्शन न करूँगा। अपने अभिमान

को प्राण की तरह रक्खूँगा; पर नीच का कभी साथ नहीं करूँगा, चाहे राज रहे या जाय। वीर सिंह तुम अपना विचार बताओ। ४८।

रड्डा—दोनों की रायें मिलकर एक हुई। दोनों सहोदर भाई एक साथ चले। वे दोनों सभी गुणों में विलक्षण थे। बलभद्र और कृष्ण चले या पुनः राम और लणमण कहें। राजपुत्र पैदल चलते हैं, ऐसा भोला है ब्रह्मा। इनको देखते हुए किसकी आँखों से लोर नहीं बहते ?

४६–डा० अग्रवाल ने 'पाने पाठ' पाठ रक्खा है और अर्थ किया है चाहे (ब्राह्मण के समान) जीवन में पाठपूजा (की वृत्ति) धारण कर लूँ; पर मैं [क्षत्रिय होकर] अशक्ति प्रदर्शन नहीं करूँगा।

क्षत्रिय होकर ? ओइनीवार वंश ब्राह्मण था ही। इसीलिए तो विद्यापति ने लिखा है—दोउ एकत्थ न पाविअइ भुअवइ अरू भूदेव [१।५०]

'याने' पाठ ज्यादा उचित लगता है।

यान का अर्थ ही है गति, यात्रा (आप्टेकोश)। याने स्याद्वाहने गतौ [मेदिनी] यात्रा में ही अब राज-पाट होगा।

पाट – <पट्ट = पट्टः पेषणपाषणे व्रणादीनां च बन्धने
चतुष्पथे च राजादि शासनान्तर पीठयोः
[मेदिनी]

५३—लोर = आँसू। लोग इसे देशी शब्द मानते हैं किन्तु इसकी उत्पत्ति लवण>लोड>लोर भी हो सकती है।

रड्डा

लोअ[1] छड्डिअ अवरु परिवार ॥५४॥
रज्ज भोग परिहरिअ वर तुरंग परिजन विमुक्किअ ॥५५॥
जननि पाजे पन्नविअ[2] जन्मभूमि को मोह छड्डिअ ॥५६॥
धनि छोड्डिअ नवयोव्वना धन छोड्डिओ बहुत्त ॥५७॥
पातिसाह उद्देसे चलु गअन राय को पुत्त ॥५८॥

वाली छन्द (मणवहला)

पाजें चलु दुअओ कुमर ॥५९॥
हरि हरि सबे सुमर ॥६०॥
वहुल छांडल पाटि पाँतरे[3] ॥६१॥
वसन पाजेल आँतरे आँतरे ॥६२॥

जहाँ जाइअ जेहे[4] गावों ॥६३॥
भोगाइ राजा क वड्डि नावों[5] ॥६४॥
काहु कापल काहु घोल ॥६५॥
काहु सम्बल देल थोल ॥६६॥

१. क० छत्तिय ।
२. स्तं० पण्णमिअ क० पाजे पन्नविअ ।
३. स्तं० पाटि पातह ।
४. क० शा० गाञो ।
५. क० शा० नाञो ।

लोगों को छोड़ा, परिवार छोड़ा राजपाट का परित्याग किया श्रेष्ठ घोड़े (वाहन) और परिजनोंको छोड़ा, जननी के पाँवों को प्रणाम किया, जन्मभूमि का मोह छोड़कर चले। नवयौवना पत्नी छोड़ी, सारा धन-वैभव छोड़ा। बादशाह से मिलने के लिए राजा गणेश्वर के पुत्र चले।५८।

वाली छन्द—दोनों कुमार पाँव-पयादे चले। सबने हरि का स्मरण किया। बहुत सी पट्टियाँ [बसे हुए प्रदेश] और प्रान्तर [निर्जन स्थान] पार करते चले। बीच-बीच में ठहरते गये। जहाँ जाते थे, जिस गाँव में, सर्वत्र भोगीश राजा का बड़ा नाम था। किसी ने कपड़ा दिया, किसी ने घोड़ा। किसी ने रास्तेके लिए थोड़ा सम्वल [राह खर्च] दिया।

इन पंक्तियोंमें कार्तिसिंह की दुरवस्था का वर्णन है। कवि ने निःसंकोच भाव से उनका सही वर्णन किया है। इस अर्थ में कीतिलता, मध्यकाल से दूसरे चरित काव्यों से, जो कथा-नायक के विषय में अतिशयोक्ति से भरे हैं, बिल्कुल भिन्न हो जाती है। यहाँ कविने रास्ते में उनकी असहायता का वर्णन किया है।

६१—पाटि = पट्टी = टोला, वस्ती

पाँतरे < प्रान्तर = एकान्त, शून्य स्थान। **प्रान्तरं कोटरेऽरण्ये दूर शून्यपथेऽपि च** [अमरकोश]

यानी प्रान्तर कोटर, अरण्य, अथवा दूर शून्य पथ को कहते हैं।

आन्तर पान्तर वाट उगि गेल, चन्दा करम चंडार।

[पदावली—छन्द ९९]

राह में, सन्नाटे और बीच में चाँद उग आया, ऐसा भाग्य चाँडाल है।

काहु पाँति मेलि पैठि ॥६७॥
[1]काहु सेवक लागु भैठि ॥६८॥
काहु देल ऋण उधार[2] ॥६९॥
काहु करिअउ नदी पार ॥७०॥
काहु वहल[3] भार बोझ ॥७१॥
काहु वाट कहल सोझ ॥७२॥
काहु आतिथ्य विनय करु ॥७३॥
कतेहु दिने वाट सन्तरु ॥७४॥

दोहा

अवसओ उद्दम लक्षि बस अवसओ साहस सिद्धि ॥७५॥
पुरुस विअक्खण जं चलइ तं तं मिलइ समिद्धि ॥७६॥
तं खने[4] पेक्खिअ नअर सो जोनापुर[5] तसु नाम ॥७७॥
लोअन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम ॥७८॥

१. ख में यह पंक्ति नहीं है।
२. स्तंभ० दीण उवार।
३. क० काहुओ बहल।
४, स्तंभ खणे।
५. स्तंभ० जोणापुर ख० जौणापुर।

कोई कतार में आकर साथ हो लिया। कोई सेवक भेंटने लगा [विपत्ति में पड़ने का समाचार सुनकर स्वामिभक्ति दिखाने के लिए आकर मिला।] किसीने उधार ऋण दिया। किसी ने नदी पार कराया। किसी ने बोझ पहुँचाया। किसी ने सीधा मार्ग बताया। किसी ने विनय पूर्वक आतिथ्य किया। इसी तरह कितने दिनोंपर रास्ता समाप्त हुआ।७४।

दोहा—लक्ष्मी निश्चय ही उद्योग में बसती है, अवश्य ही साहस के कार्य में सिद्धि मिलती है। विलक्षण पुरुष जहाँ जाता है, वहीं उसे समृद्धि की प्राप्ति होती है। उसी क्षण जौनपुर (यवनपुर) नाम का नगर देखा जो लोचनों के लिए प्रिय था और लक्ष्मी का विश्राम-स्थान था।

५९ से ७४ पंक्तियों में कवि ने मार्ग में होने वाले स्वागत-सत्कार; साथ ही

दुरवस्था में सामान्यजन से मिलने वाली निःस्वार्थ सहानुभूति का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है।

७५–"**उद्योगिनः पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी**" यह संस्कृत पंक्ति इस पंक्ति के सामान्तर देखी जा सकती है।

७८–'लोचन केरा वल्लहा' (<वल्लभ) विशेषण न केवल नगर की रमणीयता का द्योतक है; बल्कि चरित नायक की आशा का केन्द्र होने के कारण और भी अधिक 'नयनसुख' देने वाला बन गया है।

गीतिका छन्द

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल[1] जओन[2] नीर पखारिआ ॥७६॥
पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह[3] ऊपर ढारिआ ॥८०॥
पल्लविअ कुसुमिअ फलिअ उपवन चूअ चम्पक सोहिआ ॥८१॥
मअरन्द पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ ॥८२॥
वक्वार साकम बांध पोखरि नीक नीक[4] निकेतना ॥८३॥
अति बहुत भाँति विवट्टवट्टहिं भुलेओ वड्डेओ चेतना ॥८४॥
सोपान तोरण यंत्र जोरण जाल गाओष खंडिआ[5] ॥८५॥
धअ धवल हर घर सहस पेष्खिअ कनक कलसहिं मंडिआ ॥८६॥
थल कमल पत्त पमान नेत्तहिं मत्तकुंजर गामिनी ॥८७॥
चौहट्टवट्ट पलट्टि हेरहिं सथ्थ सथ्थहिं कामिनी ॥८८॥
कप्पूर कुंकुम गन्ध चामर नअन कज्जल अंबरा ॥८९॥
वेवहार मुल्लहि वणिक विक्कण कीनि आनहिं वब्बरा ॥९०॥
सम्मान दान विवाह उच्छव गीअ नाटक कव्वहीं ॥९१॥
आतिथ्य विनय विवेक कौतुक समय पेल्लिअ सव्वहीं ॥९२॥

१. स्तं म० मखर।
२. स्तं० जौण।
३. स्तं० चूर।
४. ख० णीक नीर।
५. स्तं० जलऊरोषा वो खडिआ किसी भी प्रतिमें यह पाठ शुद्ध नहीं है। छन्द की गति और अर्थ का सम्मान करते हुए "जाल गाओख खंडिआ" पाठ सम्पादक ने सुझाया है।

गीनिका—नीर-प्रक्षालित सुन्दर मेखला से विभूषित नगर देखा। नीचे पाषाण की फर्श थी और ऊपर का पानी दीवालों के भीतर से चू जाता था। आम और चम्पा से सुशोभित उपवन थे जो पल्लवित थे और फूल-फल से भरे थे। मकरन्द-पान में विमुग्ध भौरों की गुंजार से मन मोहित हो जाता था। वक्रद्वार, साकम (संक्रम, पुल) बाँध, पुष्करिणी और सुन्दर-सुन्दर भवन थे। बहुत प्रकारके टेढ़े-मेढ़े रास्तों (विवर्तवर्त्म) में बड़े-बड़े चतुर भी चेतना भूल जाते थे। सोपान, तोरण, यंत्र-जोरण, जाल-युक्त गवाक्ष तथा खंडिकाएँ यानी वातायन दिखलाई पड़ते थे। सहस्रो स्वर्ण कलशों से मंडित ध्वजयुक्त धौत धवलगृह (राजप्रासाद) थे। स्थल-कमल के पत्ते के समान आखों वाली, मतवाले हाथी की तरह गमन वाली कामिनियाँ चौराहों और रास्तों पर उलट-उलट कर साथ चलते लोगों को देखती थीं। कर्पूर, कुंकुम, गन्ध (धूप, इत्रादि) चामर, काजल, कपड़े आदि, वणिक व्यवहार मूल्य पर बेचते थे जिन्हें बर्बर यवन खरीद ले जाते थे।९०। सम्मान दान, विवाह, उत्सव, गीत, नाटक और काव्यादि तथा आतिथ्य, विनय, विवेक पूर्ण खेल, तमाशों में लोग समय बिताते थे।

७६–स्तंभ तीर्थ के टीका कार ने "जज्ञोन नीर पखारिया" का अर्थ "यमुना नीर-प्रक्षालितं" दिया है। इस कारण डा० समुद्रझा वाली धारणाको कि दोनों भाई जौनपुर नहीं दिल्ली गये थे, पर्याप्त बल मिल गया है। किन्तु यह अर्थ ग़लत है। 'जज्ञोन' शब्द के बारे में "कीर्तिलता के काल" पर विचार करते हुए मैंने विस्तार से लिखा है।

८०–"चूह उप्पर ढारिआ" का अर्थ स्तंभतीर्थ के टीकाकार ने "चूर्णरुपरि प्रक्षालितं" दिया है यानी ऊपर चूना प्राक्षालित था। डा० वासुदेवशरण ने 'चूह' को चूआ से सम्बद्ध करके अर्थ दिया है दीवारों के भीतर से झरने ऊपर गिर रहे थे। स्तंभ प्रति में 'चूर' पाठ है। इसका अर्थ चूना किया गया है। "भीति भीतर चूह उप्पर ढारिया" को देखने से स्पष्ट लगता है कि भीतके भीतर से ही ऊपर 'ढारिया' (गिरा हुआ, ढाला हुआ) पानीं चू जाता था। यह उस काल में छत के पानी को दीवाल के भीतर से बम्बे आदि के सहारे निकालने की पद्धति मालूम होती है। हलाँकि इस अर्थमें डा० अग्रवाल के अर्थ की तरह ही 'पानी' का अध्याहार करना पड़ता है।

८३—वक्रद्वार, (टेढ़ेमेढ़े रास्ते) साकम (संक्रम, पुल) बाँध पोखरी

(पुष्करिणी) तथा नीक नीक निकेतन में 'ख' प्रति के पाठ को महत्त्वपूर्ण मानकर 'नीक णीर निकेतन' यानी सुन्दर जलगृह अर्थ भी किया जा सकता है।

८५ सोपान = सीढ़ियाँ। तोरण = बहिः द्वार (दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन [मेघदूत ७५]। यन्त्र-जोरण का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने यंत्र धारा गृह, यानी फव्वारे वाला स्थान दिया है हालाँकि इसका मूल-पाठ उन्होंने 'यंतजोवण' माना। जोरण पाठ उन्होंने ठीक नहीं माना है। जोरण का अर्थ है जोड़ना, यंत्रों को या मशीनों के समूहको यंत्र जोरण कहा गया है। भोजपुरी में "जोड़ाई" का अर्थ केवल सामान्य जोड़ना या संयुक्त करना भर ही नहीं है बल्कि गठन, स्थापना आदि भी है। यहाँ यंत्र जोरण यंत्रों की गठन और स्थापित होना, दोनों ही अर्थ देता है। तोरण के तुक पर जोरण ही उचित भी लगता है।

जाल गाओष = जाल मंडित गवाक्ष (खिड़कियाँ)

खंडिया = खंडी, अपद्वार, छोटा गुप्त द्वार, किलेका छिद्र (पाइअसद्द २६८) जो वातायन भी हो सकते हैं, या शत्रुओं द्वारा घिर जाने पर किले के भीतर से वाण वर्षा या दूसरे अस्त्रों से आक्रमण करने के निमित्त भी काम में लाये जा सकते हैं।

९० – वब्बरा = बर्बर, डॉ० अग्रवाल ने वब्बरा का अर्थ कुटुम्बी, किसान किया है। इसे उन्होंने 'वाबड़' से निष्पन्न पाना है (वाबडो कुटुम्बिम्मि: देशी नाम माला ७।५४)। लेकिन कपूर, कुंकुम, गन्ध, चामर, काजल, अम्बर आदि किसान या कुटुम्बी खरीद रहे थे, यह अर्थ कुछ जमा नहीं। बर्वर वस्तुतः विदेशी मुसलमानों के लिए कहा गया है। जो राज कर्मचारी थे या सैनिक आदि।

पज्जटइ खेल्लइ हसइ हेरइ साथ साथहि जाइआ ॥९३॥
मातंग तुंग तुरंग ठट्टहिं उवटि वट्ट न पाइआ ॥९४॥

गद्य

अवरु पुनु ताहि नगरन्हि करो परिटव ठवन्ते शतसंख्य ॥९५॥
हाट बाट गमन्ते, शाखानगर शृंगाटक आक्रीडन्ते, गोपुर ॥९६॥
वकहटी,[1] वलभी, वीथी, अटारी, ओवरी[2] रहट घाट ॥९७॥
कौसीस प्राकार पुरविन्यास कथा कहजो का, जनि ॥९८॥
दोसरी अमरावती क अवतार भा ॥९९॥
अवि अवि अ, हाट करैओ प्रथम प्रवेश, अष्टधातु ॥१००॥
घटना टंकार, कसेरी पसरा कांस्य क्रेंकार[3] ॥१०१॥

प्रचुर पौरजन पद संभार संभिन्न,[४] धनहटा, सोनहटा ॥१०२॥
पनहटा, पक्वानहटा, मछहटा[५] करेंओ सुख रव कथा ॥१०३॥
कहन्ते होइअ झूठ, जनि गंभीर गुग्गुरावर्तकल्लोल कोलाहल ॥१०४॥
कान भरन्ते मर्यादा छाँड़ि महार्णव ऊँठ ॥१०५॥

१. ख० बहरी।
२. ख० सोवरी। क० सोवारी। शा० ओवरी।
३. क० शा०, कँसेरा पसराँ कास्य झेङ्कार स्तंभ० टाँकार। कसेरी पसरा कास्य झंकार।
४. क० सम्हार सम्हांत्र।
५. मछहटा के बाद ख प्रतिमें दमहटा कपरहटा और लवुणहटा भी मिलता है।

९३-९४ घूमते, खेलते हँसते थे और देखते हुए लोग साथ-साथ चलते थे। ऊँचे, ऊँचे हाथियों, घोड़ों की भीड़ से बचकर राह पाना कठिन था।४९।

९५-१०४ गद्य—और भी। उस नगर के परिष्ठ (सौन्दर्य) को देखते हुए, सैकड़ों बाजार-रास्तों से गुजरते, उपनगर तिराहों और चौराहों में घूमते गोपुर (द्वार) वक्रहटी (सराफा-हाट) मंडपों, गलियों, अट्टालिकाओं, एकान्त गृहों रहट, घाट, कपिशीर्ष [किलों के ऊपर के गुबंज] प्राकार, पुर-विन्यास आदि का वर्णन क्या करूँ, मानो दूसरी अमरावती का अवतार हुआ है। और भी। हाट में प्रथम प्रवेश करने पर, अष्टधातुसे (बर्तन) गढ़ने की टंकार तथा बर्तन बेचने वाले कसेरों की दूकानों पर बर्तनों की झंकार ध्वनि हो रही थी। खरीद-फरोख्त के लिए एकत्र लोगोंके आने-जानेसे क्षुब्ध धनहटा, सोनहटा, पनहटा (पान-दरीबा) पक्वानहाट, मछहटा के आनन्द कलरव की यदि कथा कहूँ तो झूठ होगा लगता जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उठ पड़ा है। और उसका गम्भीर गुरगुरावर्त कल्लोल कोलाहल कानों में भर रहा है। १०५।

नगर वर्णन के विषय में विस्तार से 'कीर्तिलता' के वस्तुवर्णन शीर्षक अध्याय में विचार किया गया है। यहाँ सिर्फ़ कुछ शब्दों और संस्कृत समस्तपदों पर विचार किया जा रहा है।

१०१-केसरी = काँसे का बर्तन आदि सामान बनाने वाला।

पसरा = प्रसरित। पसार। फैलाव। दूकान। उसरत मदन पसारे (मित्र० मजूमदार छन्द ८६)।

मदन की दूकान उठ जायेगी। सजनि यह पहली दूकान है। मेरे कहे अनुसार बेवहार करो। **तोहार साजनि पहिल पसार हमरे बचन करिअ बेवहार छन्द २७६।**

क्रेंकार=क्रें क्रें की ध्वनि।

१०२–संभार=एकत्र। संभिन्न=क्षुब्ध या आकुलीकृत (डिस्टर्ब्ड) (देखिए आप्टे कोश) प्रचुर पौरजन पद संभार संभिन्न=बहुतसे लोगों के एकत्र पद-संचारसे क्षुब्ध। डा० अग्रवाल ने इसका अर्थ किया है "पैरों को सँभाल कर रख रहे थे।"

१०४–गुर्गुरावर्त—ध्वन्यात्मक शब्द है। गुरगुराहट की आवाज।

मध्यान्हे करी बेला संमद साज, सकल पृथ्वीचक्र ॥१०६॥
करैओ वस्तु विकाइआ काज[1] । मानुस क मीसि पीस[2] ॥१०७॥
बर आँगे आँग, ऊंगर[3] आनक तिलक आनकाँ लाग ॥१०८॥
यात्राहुतह परस्त्रीक वलया भाँग। ब्राह्मण क यज्ञोपवीत ॥१०९॥
चाण्डाल के आँग लूर[4], वेश्यान्हि करो पयोधर ॥११०॥
जती[5] के हृदत्य चूर। घने सञ्चर घोल हाथिं, बहुत ॥१११॥
वापुर चूरि जाथि। आवर्त विवर्त रोलहों, नअर नहि नर समुद्र ओ॥११२॥

छपद

वहुले भाँति वणिजार हाट हिंण्डए जवे आवथि ॥११३॥
खने एक्क सवे विक्कणथि सवे किछु किनइते पावथि ॥११४॥
सब दिसँ पसरु पसार रूप जोव्वण गुणे आगारि ॥११५॥
वानिनि वीथी माँडि वइस सए सहसहि नागरि ॥११६॥

१. स्तं० करो वस्तु विकाए आए।
२. स्तं० राजमानुस करी मीसि-पीसि।
३. स्तं० उगर।
४. स्तं० चांडाल का आग ल।
५. स्तं० जतिह्नि क।

१०६-११२–मध्याह्न बेला में ऐसी भीड़ और सजावट होती कि जैसे समस्त पृथ्वी-मंडल की वस्तुएँ बिकने के लिए आई हों। मनुष्य के धक्के-धुक्के से सिर टकरा जाते थे, एक का टीका ओलग कर दूसरे को लग जाता था। यात्रा (चलने) से दूसरे की स्त्री के हाथ की चूड़ियाँ टूट जाती थीं। ब्राह्मण का

यज्ञोपवीत चाण्डाल के अंग से लगकर हिल जाता था। वेश्या के पयोधर से टकराकर यति का हृदय चूर-चूर हो जाता था [काम वासना से विदीर्ण हो उठता था।] बहुत से हाथी और घोड़े चलते थे कितने बेचारे पिस जाते थे। आने-जाने से शोर होता था, लगता था कि यह नगर नहीं मनुष्योंका समुद्र है।११२।

११३-११४ छपद—बनिजारा बहुत भाँति बाजार में घूमता था और दूसरे ही क्षण अपनी सभी बस्तुएँ बेच देता था। सभी कुछ न कुछ खरीदते थे। सभी दिशाओं में सामानों की दूकानें थीं। रूपवती, युवती और चतुर वनियाइनें सैकड़ों सखियों के साथ गलियोंको मंडित करती बैठी थीं।

१०७–संमद्द < संमर्द = भीड़।

१०७–विकाइवा काज = विकने के लिए। काज का प्रयोग चतुर्थी के परसर्ग के रूप में हुआ है। वा प्रत्यय लगाकर क्रिया से संज्ञा बनाई गई है।

१०८–ऊँगर—∠ ओंगल < ओलग < अवलग्न। अलग होकर।

१०९–यात्राहुतह < यात्रा + हुतह। यात्रा से। हुतह < अप० होन्तउ (हेम० ४।३७९)।

११०–लूर = हिलता है। लुठ् > लुढ > लुड > लूर। हारोयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले। [अमरुशतक १००]

११३–हिण्डए = घूमना, हींड़ना। हिण्डइ दोरी दोरियउ, जिमि मंकड, तिमि मुंज। [प्रबंध चिन्तामणि]

सम्भाषण किन्नु वे आज कइ[1] तासञो कहिनी सव्व कह ॥११७॥
विक्कणइ वेसाहइ अप्प सुखे डिठि कुतूहल लाभ रह ॥११८॥

दोहा

सव्वउँ केरा रिज[2] नयन तरुणी हेरहिं वङ्क ॥११९॥
चोरी पेम पिआरिओ अपने दोष ससङ्क ॥१२०॥

रड्डा

वहुल वंभण वहुल काअथ ॥१२१॥
राजपुत्त कुल वहुल, वहुल जाति मिलि वइस चप्परि[3] ॥१२२॥
सबे सुअन सबे सधन[4] णअर राअ सबे नअर उप्परि ॥१२३॥
जं सबे मंन्दिर देहली धनि पेक्खिअ[5] सानन्द ॥१२४॥
तसु केरा मुख मण्डलहिं घरे घरे उग्गिह चन्द ॥१२५॥

१. स्तं० वेआजइ ।
२. स्तं० सब्बउ केरा रिजु नयण । ख० सब्बहु के वारिजु । शा० सब्बउं के वारिज ।
३. स्तं० वसइ चप्परि ।
४. स्तं० ससेख धन ।
५. स्तं० जं सर मंदिर देहरी । पेक्खिय ।

११७-११९—संभाषण का कोई न कोई बहाना करके लोग उनसे बातचीत (कहनी) अवश्य करते थे । सुखपूर्वक (अपनी इच्छा से) क्रय-विक्रय होता था । दृष्टि-कुतूहल का लाभ ऊपरसे मिल जाता था ।

दोहा

११६-१२० सबकी सीधी (दोषरहित) आँखें इन तरुणियों को वक्र मालूम होतीं । चोरी-चोरी प्रेम करने वाली प्रेयसियाँ अपने दोष से ही सशंक रहती हैं ।२०१ ।

१२१-१२५ रड्डा—बहुत से ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि जातियों के लोग मिले जुले बैठे हुए थे, सभी सज्जन, सभो धनवान । उस नगर का राजा नगर भर में श्रेष्ठ था । जो सब घरों की देहली पर आनन्दित नारियाँ दिखाई देती हैं मानों उनके मुख-मंडलके कारण घर-घर चन्द्रमा उदित हुआ हो ।१२५।

११९-१२० डा० वासुदेवशरण ने इस दोहे का अर्थ किया है – "सब युवतियां तिरछी दृष्टि से देखती थीं तो सभी के नेत्र प्रसन्न होते थे । प्रिया के प्रति चोरी से प्रेय उत्पन्न करने के दोष से सशंकित रहते थे ।

उन्होंने रिज ∠ रिज्झ ∠ रिध (प्रसन्न होना) अर्थ किया है ।

किन्तु रिज ∠ ऋजु (सीधा) से ही निष्पन्न लगता है । ये नागरिकाएँ "चोरी पेय पिआरिओ" कही गई हैं, जो अपने पतियों से छिपाकर प्रेम करने वाली हैं, उन्हें दूसरों की सीधी आँखे भी वंकिम मालूम हो रही थीं ।

१२४ घर-घर चाँद उगा है, में चन्द्रमुख का सौन्दर्य ध्वनित है । पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँपास । निति प्रति पूनो ही रहत आनन ओप उजास ॥
(बिहारी)

गद्य

एक हाट करेओ ओर ओका हाट के कोर[1] । राजपथ क ॥१२६॥
सन्निधान सञ्चरन्ते अनेक देषिअ वेश्यान्हि करो निवास ॥१२७॥
जन्हि के निर्माणे विश्वकर्महु भेल वड प्रयास ॥१२८॥
अवरु वैचित्री कहओ का, जन्हि के केस धूप-धूम करी रेखा ॥१२९॥
ध्रुवहु उंप्पर जा । काहु-काहु अइसनो सङ्क[2], ओकरा काजर ॥१३०॥
चाँद कलंक । लज्ज कित्तिम, कपट तारुन्न । धन निमित्ते ॥१३१॥
धरु पेम[3]; लोभे विनअ सोभागे कामन । विनु स्वामी ॥१३२॥
सिन्दुर परा परिचय अपामन ॥१३३॥

दोहा

जं गुणमन्ता अलहना गौरव लहइ भुवंग ॥१३४॥
वेसा मंदिर धुअ वसइ धुत्तह रूप[4] अनंग ॥१३५॥

१. स्तं० करे ओले करेकोले । क० शा० एक हाट केरेओ ओल औकी हाट करेओ कोल ।
२. क० शा० संगत करे ।
३. स्तं० निमित्त धर ।
४. ख० धूअ सरूअ अनंग ।

गद्य—एक हाट के आरम्भ से दूसरी हाट के अन्त तक । राजमार्ग के पास से चलने पर अनेक वेश्याओं के निवास दिखलाई पड़ते थे, जिनके निर्माण में विश्वकर्मा को भी बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा । और भी विचित्रता क्या कहूँ । उनके केश को धूपित करनेवाले अगरु के धुएँ की रेखा ध्रुवतारा से भी ऊपर जाती है । कोई-कोई यह भी शंका करते कि उनके काजर से चाद कलंकित लगता है । उनकी लज्जा कृत्रिम होती, तारुण्य भ्रमपूर्ण । धन के लिए प्रेम करतीं, लोभ से विनय और सौभाग्य की कामना करतीं । बिना स्वामी के ही सिन्दूर डालतीं, इनका परिचय कितना अपवित्र है । जहाँ गुणी लोगों को कुछ प्राप्त नहीं होता, वेश्यागामी भुजंगों को गौरव मिलता है, वेश्या के मंदिर में निश्चय ही धूर्त लोगों के रूप में काम निवास करता है ।१३५।

१२६—स्तं० तीर्थ की प्रति में ओर के स्थान पर ओल और कोर के स्थान पर कोल पाठ है । डॉ० अग्रवाल ने ओल का अर्थ अतुल [अतुल > ओल] और

कोल [∠सं० क्रोड] का गोद किया है। अर्थ हुआ एक हाट के क्रोड में औकी हाट [पण्य स्त्री, शृंगार हाट, वेश्याहाट] बहुत सुन्दर बना था।

औका—को डॉ० अग्रवाल अवक्रीता > अवक्किया > अवकी > औकीसे निष्पन्न मानते हैं। अवक्रय > अवक्कय [पा० सद्द० पृ० ७६] अर्थ प्राकृत में भाड़ा होता है। मैं औकी का अर्थ 'दूसरी ही' समीचीन मानता हूँ। औका < अपरक [दूसरा] + स्त्री० ईया 7 ई = औकी यानी दूसरी। एक हाट के आरंभ और दूसरे में अन्त में एक वेश्याहाट था।

औकी ∠अओक के प्रयोग विद्यापति ने पदावली में भी अनेक बार किये हैं –

१. एक अबला अओक सहजहिं छोट

[पदावली, २८५]

एक तो अबला दूसरे सहज ही छोटी।

२. एकक हृदय अओक नहिं पावल

[पद स० ४१]

एक के हृदय का दूसरा नहीं पाता या जानता।

३. एहि दिस कान्ह अओक दिस सुवितत वेस विसाला

[पद ४५३]

ओल का अतुल अर्थ भी अनुपयुक्त लगता है। पदावली में ओल के अनेक प्रयोग हैं और इनका अर्थ भी ओर [एक ओर, सीमा पर, अन्त किनारे या तरफ़ के लिए] ही है। उदाहरण :–

ससि मुख नोरे [लोर] ओल नहिं होए

[पद० २७२]

ओल का यही अर्थ पद १४, १२०, २७२, ४२२, ४२५, ४७५, ५१०, ५३४, ५९१ संख्या पदों में भी दिखाई पड़ता है। इसी अर्थ में 'ओर' के तीन प्रयोग [१२५, १३२, ३८२] तथा 'ओड' के दो प्रयोग [७४, १२२] भी मिलते हैं। कोर की व्युत्पत्ति क्रोड से की जा सकती है, पर यहाँ जिस कोर का प्रयोग है उसका अर्थ ओर के तुक पर कोर के रूप में किनारा ही प्रतीत होता है। इसकी व्युत्पत्ति कोटि 7 कोड 7 कोर हो सकती है।

१३१–पदावली में भी विद्यापति ने दूती, संकेत-स्थल, अभिसार, काम की अवस्थाएँ तथा अन्य शृंगारिक स्थितियों पर अनेक पद लिखे हैं। एक स्थान पर तो उन्होंने एक कुट्टिनी नारी के पश्चाताप का भी बड़ा मार्मिक वर्णन किया है।

हमें धनि कूटनि परिनत नारि

[छन्द सं० ६]

इस पद में वेश्याजीवन की निन्दा है, साथ ही उस परिणत वय की कुट्टिनी की आत्मग्लानि। वेश्याओं के तारुण्य को कपटपूर्ण तथा उनके हास-परिहास, श्रृंगारिक चेष्टाओं आदि को लोभपूर्ण कहा गया है।

कुट्टनीमतम् के एक श्लोक से तुलनीय :–

वारस्त्रीणां विभ्रमराग प्रेमाभिलाषमदनरुजः।
सहवृद्धिक्षयभाजः प्रख्याताः सम्पदः सुहृदः॥

[श्लोक सं० ३०३]

१३४–भुवंग ∠ भुजंग। विट, वेश्यागामी।

१३५–धुत्तह ∠ धूर्त के। ह अपभ्रंश की षष्ठी विभक्ति है।

गद्य

तान्हि वेश्यान्हि करो मुखसार[1] मण्डन्ते अलक तिलका पत्रवली खंडन्ते ॥१३६॥
दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि उभारि केशपास बन्धन्ते[2] सखि जन ॥१३७॥
प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते। सआनी, लानुमी[3] पातरी पतोहरी, तरुणी ॥१३८॥
तरट्टी, वन्ही, विअप्खणी परिहास पेषणी,[4] सुन्दरी सार्थ ॥१३९॥
जवे देखिअ, तवे मन करें तेसरा लागि तीनू उपेप्खिअ[5] ॥१४०॥
तान्हि केस कुसुम वस, जनु मान्यजनक लज्जावलम्बित ॥१४१॥
मुखचन्द्रचन्द्रिका करी अधओगति देखि अन्धकार हँस ॥१४२॥
नयनाञ्चल सञ्चारै भ्रूलता भंग, जनु कज्जल कल्लोलिनी ॥१४३॥
करी वीचि विवर्त बड़ी बड़ी शफरी तरङ्ग। अति सूक्ष्म ॥१४४॥
सिन्दूर रेखा निन्दन्ते पाप, जनु पञ्चशर करो पहिल प्रताप ॥१४५॥

१. स्तं० वेश्या नागरन्हि।
२. स्तं० दिव्यावरं। पिंधंत। वंधंत। ख० 'उभारि' बन्धन्ते नहीं है।
३. स्तं० लोनुमी,।
४. स्तं० पेशर्ला।
५. ख० चारि पुरुषार्थं तिसरा लागि उपेखि अहि।

गद्य—वे वेश्यायें मुख को सार (चन्दन लेपादि) से मंडन करतीं। अलकों में तथा कपोल-स्तनादि पर कुंकुम चन्दनादि से पत्रावली (चित्र) बनातीं। दिव्य वस्त्र धारण-करतीं, उभार-उभार कर केशपाश बाँधतीं, दूतियों को प्रेरित करतीं कि वे नायक के पास जायें। हँसकर देखतीं। तब उन सयानी, लावण्य-

मयी, पतली, कृशोदरी, तरुणी, चंचला, बनी (वनिता) विचक्षणी (चतुरा) परिहास प्रगल्भा, सुन्दरी नायिकाओं को देखकर इच्छा होती है कि तीसरे पुरुषार्थ (काम) के लिए अन्य तीनों छोड़ दिये जायें। १४०। उनके केश में फूल गुंथे होते। ऐसा लगता मानों मान्यजन के लज्जा के कारण झुके हुए, मुखचन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा है। नेत्रों के संचार से भौंहें तिर्यक हो जातीं मानों कज्जल-जला सरिता की भवरों में बड़ी-बड़ी मछलियाँ (हों)। सिन्दूर की अतिसूक्ष्म रेखा पाप (वेश्या जीवन) की निन्दा करती थी। यह रेखा मानो कामदेव के प्रताप का प्रथम चिन्ह है।

यहाँ वेश्याओं के शृंगार-प्रसाधन का वर्णन किया गया है।

१३६-**मुखसार मण्डन्ते**—मुख पर चन्दन आदि का लेप करते [जबे देखिअ]।

डॉ० अग्रवाल के अनुसार पाठ सुखसार है। जिसका अर्थ है सुखशाला जिसे फारसी में खुर्रमगाह कहते थे। लेकिन यहाँ वेश्याओं के शृंगार-प्रसाधन का वर्णन है, उनके मकानों का नहीं। स्तं० तीर्थ का टीकाकार भी "मुखसारमण्डनेन" कहता है।

अलका तिलका पत्रावली के विषय में कीर्तिलता के वस्तु वर्णन में विचार किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कस्तूरी वगैरह के लेप और अगरुधुएँ आदि से बालों या अलकों को सुवासित करने की क्रिया को अलका और गोरोचन चन्दन आदि से कपोल स्तन और भाल आदि पर विभिन्न प्रकार की चित्रावलियों के बनाने की प्रक्रिया को तिलका कहते थे। एक साथ दोनों प्रक्रियाओं के लिए अलका तिलका का प्रयोग होता था। विद्यापति ने पदावली में भी इस शब्द-युग्म का अनेक बार प्रयोग किया है।

१—मृगमद पंक अलका। मुख जनु करत तिलका। निपुन पुनिमके चन्दा। तिलकें होएत गए मन्दा ॥ [छ० सं० ९७]

२—अलक-तिलक न कर राधे। अंगे बिलेपन करहिं बाधे। [३२५]

३—अलक-तिलक बहि गेल। [३५६]

मध्यकालीन साहित्य में षोडस शृंगार की चर्चा आती है :—

आदौ मज्जन चीर हार तिलकं नेत्राञ्जनं कुंडले
नासामौक्तिक केशपाशरचनासत्कंचुकं नूपुरौ

सौगन्ध्यं कर कङ्कणं चरणयोः रागो रणन्मेखला
ताम्बूलं करदर्पणं चतुरता शृंगारकाः षोडसाः
[सुभाषितावली]

विद्यापति ने सारमण्डन, अलका तिलका (तिलकं) केश रचना, दिव्यामरं (चीर) परिहास पेशलता (चतुरता) पुष्पहार (हार) नेत्रांजन (अंजन) आदि का वर्णन किया है ।

१४२—बालों में गुंथे हुए फूल ऐसा लगते थे मानो अँधकार (केश) शिष्ट व्यक्तियों के लज्जावनत मुख की चन्द्रिका की अधोगति देखकर हँस रहा है । यह बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है ।

१४५—माँग में लगाए सिन्दूर की क्षीणरेखा मानो कह रही थी कि ऐसे पाप कर्म के साथ उसका मेल नहीं बैठता क्योंकि सिंदूर रेखा कामदेव की कृपा का प्रथम संकेत है । उसे पवित्र गारहस्थ जीवन से ही पाया जाता है ।

दोखे हीनि, माझ खीनि, रसिकें आनलि जूंआ ॥१४६॥
जीति, पयोधर के भरे भागए[1] चाह, नेत्र करै त्रितिय ॥१४७॥
भाग भुअए साह[2] । ससँर वाज, राअन्हि छाज[3] । काहु ॥१४८॥
होंअ अइसओ आस, कइसे लागत आँचर वतास । तान्हि ॥१४९॥
करो कुटिल कटाक्षछटा कन्दर्पशरश्रेणीजओ नागरन्हि ॥१५०॥
का मन गाड, गो बोलि गमारन्हि छाड[4] ॥१५१॥

दोहा

सव्वउँ नारि विअक्खनी सव्वउँ सुस्थित लोक ॥१५२॥
सिरि इमराहिम साह गुणे नहि चिन्ता नहि शोक ॥१५३॥
सब तसु हेरि सुहित होअ लोअए ॥१५४॥
सबतहुँ मिलए सुठाम सुभोअण ॥१५५॥
खन एक मन दए सुनओ विअक्खए ॥१५६॥
किछु बोलओ तुरुकाणओं लख्खण ॥१५७॥

१. क० शा० भागए चह । स्तं० करे भारे भागए । ख० पयोधर करे भार भागै चाह ।

२. क० शा० नेत्र क रीति तीय भागे तीनु भुवन साह । स्तं० तृतीय भागे भुअण साह ।

३. ख० सुशरवाम रायह्न क्षाज ।

४. स्तं० गो बोलि गमारहु छाडि, ख० गवारहि छाड़ ।

दोषहीन, क्षीण कटि वाली, मानो रसिकों ने जूए में जीत कर प्राप्त किया है। पयोधर के भार से भंग होना चाहती है। नेत्र के तीनों (श्याम, श्वेत, रक्त) भागों से वह तीनों भुवन को अनुशासित करती है। सस्वर बाजे बजते हैं, राग छा जाते हैं। कोई ऐसी भी आशा करता है कि किसी तरह आँचलकी हवा लग जाती। उनकी तिर्यक कटाक्ष छटा कामदेव की बाणपंक्ति की तरह सभी नागरों के मन में गड़ जाती। बैल कह कर गँवारों को छोड़ देती।१५१।

दोहा—सभी नारियाँ चतुरा थीं। सभी लोग सम्पन्न थे। श्री इब्राहीमशाह के गुणों के कारण न किसी को शोक था, न चिन्ता।

यह सब कुछ देखकर आखों को सुख मिलता। सर्वत्र सुस्थान और सुभोजन प्राप्त होता। एक क्षण मन लगाकर, हे विचक्षण, सुनो। अब मैं तुर्कों का लक्षण बोलता हूँ।

१४७—रसिकें आनलि जूंआ जीति—वे रसिकों द्वारा जूए में जीतकर लाई गई। यानी उसका सौन्दर्य प्रत्येक व्यक्तिको दाँव पर सब कुछ लगा देने के लिए प्रेरित कर रहा था।

१४७—भागए चाह—भंग होना चाहती है। टूट जायेगी। पयोधरोंके भार से कटि टूट जायेगी, ऐसा प्रतीत होता था। भग्न > भग्न > भाँग > भाग तुलनीय :—

१. गुरु नितम्ब भरे चले न पारए
माझ खीनिम निमाई।
भागि जाइति मनसिज धरि राखलि
त्रिवलि लता अरुझाई॥
[विद्यापति, मित्र-मजूमदार, छन्द० स० २१]

२. माझ खीनि तनु भरे भाँगि जाय जन,
विधि अनुसए भेलि साज॥
[सं० २४]

१५१—गोवोलि गमारन्हि—डॉ० अग्रवाल ने इसका अर्थ गोवोलि = ग्वाल और गवारों किया है। किन्तु ये दोनों ही शब्द संदर्भ की दृष्टि से समानार्थक ही हो जाते हैं। गवारों के मन में कटाक्ष गड़ नहीं पाता था क्योंकि वे पशु थे, उसका रस समझ नहीं पाते थे, इसलिए गो वोलि यानी पशु कहकर उन्हें छोड़ देती थीं। यही अर्थ सभीचीन लगता है। स्तंभतीर्थ का टीकाकार भी "गौ रिति ग्राम्यं त्यजति" से यही कहना चाहता है। प्रेम-प्रसंगोमें मूर्खता या

अभद्रता दिखाने वाले कृष्ण के प्रति ऐसे ही प्रयोग विद्यापति के पदों में भी मिलते हैं :—

१. पसुक संग हुन जनम गमाग्रोल से कि बुझथि रति रंग

[छन्द सं० ११७]

इससे भी अधिक स्पष्ट करते हुए पद २७६ में कहा गया है कि :—

लघु लघु कहिनी कह बुझाए
पिउत कुगयाँ गो मुख लाए

लघु लघु कहानियाँ समझाकर कहेगा यानी भ्रम में डालकर वह कुगयाँ (कु + ग्राम्य = ग्रामीण) रति रस को बैल की तरह मुँह डालकर पीयेगा। यहाँ गो मुख 'गो बोलि' की उपयुक्तता को प्रमाणित कर रहा है।

भुजंगप्रयात

ततो वे कुमारो पइट्ठे वजारी ॥१५८॥
जहिं लष्ख घोरा मश्रंगा हजारी ॥१५६॥
कहीं कोटि गन्दा कहीं बाँदि वन्दा ॥१६०॥
कहीं दूर निक्कारिआहि[1] हिन्दु गन्दा ॥१६१॥
कहीं[2] तथ्य कूजा तवेल्ला पसारा ॥१६२॥
कहीं तीर कम्माण दोक्काण दारा ॥१६३॥
सराफे सराफे[3] भरे बेबि वाजू ॥१६४॥
तौलन्ति हेरा, लसूला पेश्राजू[4] ॥१६५॥
षरीदे षरीदे[5] वहूता गुलामो ॥१६६॥
तुरुक्को तुरुक्कें अनेको सलामो ॥१६७॥
वसाहन्ति षीसा पइज्जल[6] मोजा ॥१६८॥
भमे मीर वल्लीअ सइल्लार[7] षोजा ॥१६६॥

१. क० शा० रिक्काविए।
२. स्त० तई (<सं० तापिका = कड़ाही)
३. शा० सराफे सराहें।
४. स्तं० तौलन्ति हेका सूला पेआजू।
५. स्तं० खरीबे खरीबे।
६. स्तं० मइज्जल।
७. स्तं० सॅलाव।

भुजंगप्रयात—इसके बाद वे दोनों कुमार बाजार में प्रविष्ट हुए, जहाँ लाखों घोड़े और हजारों हाथी थे। कहीं बहुत से जासूस, कहीं बाँदी-बन्दे। कहीं किसी हिन्दू को गन्दा कहकर दूर से ही निकाल देते थे। कहीं तश्तरी कहीं सुराहियाँ और मिट्टी के दूसरे भाँड़ फैले थे। कहीं तीर-कमान के दूकानदार थे। सड़कों के दोनों बाजू सराफों से भरे हुए थे। कहीं माँस, लशुन और प्याज तौल रहे थे। बहुत से गुलाम (भृत्य) ये चीजें खरीद रहे थे। तुर्कों में बराबर सलाम बन्दगी हो रही थी। कहीं बटुये (दस्ताने) पैजार (जूते) और मोजा आदि खरीदे जा रहे थे, मीर, वली, सालार, ख्वाजे इधर-उधर घूम रहे थे।

१५९ मअंगा = हाथी <मातंग।

१६० गन्दा = जासूस, गुप्तचर। गोयन्दः > गन्दा। देशी नाम माला में एक शब्द गुन्दा [२।१०१ अधमः] आता है।

बाँदि = दास-दासियाँ।

१६२ तथ्य = तश्तरी। फा० तश्त >तथ्य। कूजा = सुराही। फा० कूजः > कूजा।

तवेल्ला = तौला, मिट्टी का भाँड। पसारा = दूकान।

१६५ हेरा = हेडा (माँस) > हेरा। लसूला = लशुन

१६८ पीसा = बटुवे, दस्ताने। पइज्जल = पैज़ार > पइजल्ल, जूते।

अबे वे भणन्ता सरावा पिअन्ता ॥१७०॥
कलीमा कहन्ता कलामें जिअन्ता[1] ॥१७१॥
कसीदा कढ़न्ता मसीदा भरन्ता ॥१७२॥
कितेवा पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता ॥१७३॥

अति गह सुमर षोदाए षाए ले भाँग क गुण्डा[2] ॥१७४॥
विनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुण्डा ॥१७५॥
तुरुक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ[3] ॥१७६
आडी डीठि निहार दवलि दाढ़ी थुक वाहइ ॥१७७॥
सब्बरस सराब षराव कइ ततत कबाबा (खा) दिरम[4] ॥१७८॥
अविवेक क [रीति] कहओ का पाछा पयदा लेले भम[5] ॥१७९॥

१. ख० कलामे जिअन्ता कलीमा पढ़न्ता ।
२. ख० भाँग क गूड़ा ।
३. ख० हाट भमि हेरा चाहइ ।
४. ख० तत कइत खा वादिरम, ख० तरमा वादरम ।
५. यह छपद शास्त्री की प्रति में नहीं है ।

१७१-१७६—अबे वे कहते हुए शराब पीते थे । कलमा से रोजी चलाने-वाले कलीमा कहते, कोई कविताएँ (क़सीदे) पाठ करते । अनेक मस्जिदों में बैठे थे । कोई किताब (कुरान) पढ़ते, इस तरह अनन्त तुर्क दिखाई पड़ते थे । १७३ ।

छपद—तुर्क अति आग्रह से खुदा का स्मरण करके भाँग का गुण्डा खा जाता है । बिना कारण के क्रुद्ध हो जाता है उस समय उसका बदन तप्त ताम्र-कुन्ड की तरह दिखाई पड़ता है । तुर्क घोड़े पर चढ़ कर चला वह बाजार में घूम-घूम कर हेडा-कर (गोश्त) माँगता है । क्रुद्ध होने पर तिरछी दृष्टि से देख कर दौड़ता है तब उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है । सर्वस्व शराब में बर्बाद करके गरम कबाव-खाने में दिरम (धन) नष्ट करता है । पीछे-पीछे प्यादा लेकर घूमता रहता है । उसकी बेवकूफी के तरीके पर और क्या कहूँ ।१७९।

१७१–कलामे जिअन्ता—कलमा कहकर जो जीविका चलाते हैं ।

१७२–कसीदा कढ़न्ता—क़सीदा (कविता) कढ़न्ता (कढ़ाना, उच्चा-रण करना) यानी कविताओं का पाठ करते हुए ।

१७५–वएन—<बदन, मुख ।

१७६–हेडा—डा० अग्रवाल ने बड़े विस्तार से हेडा का पारम्परिक अर्थ स्पष्ट किया है । याज्ञवल्क्य की टीका में 'हेडावुक' घोड़े के व्यापारी के लिए प्रयुक्त हुआ है । बादमें हेडाउ<हेडाबुक सामान्यतः पशु-व्यापारी को कहा जाने लगा । ऐसे व्यापारियों से नगर में आने पर जो टैक्स लिया जाता था उसे "पाटहेडा" कहा जाता था ।

प्राकृत-अपभ्रंश में इस शब्द का प्रयोग 'समूह' अर्थ में प्रायः हुआ है ।

पशु-कर बाद में पशु या पशुमाँस में अदा किया जाता रहा होगा । और इसीलिए शायद बाद में हेडा माँस के लिए प्रयुक्त होने लगा ।

१७८–इस पंक्ति का पाठ बहुत स्पष्ट अभी भी नहीं हुआ है । यह पाठ मैंने सुझाया था । संभावित अर्थ ऊपर दिया जा चुका है ।

१७९–पयदा<पादातिक । प्यादा ।

छपद

जमण खाइ लै भांग माग रिसियाय खाण है ।।१८०।।
दौरि चीर जिउ धरिश्र समिण सालण अणौ भणै १८१।।
पहिल नेवाला खाइ जाइ मुँह भीतर जबहीं ।।१८२।।
खण यक चुप भै रहइ गारि गाडू[1] दै तवहीं ।।१८३।।
ताकी रहै तसु तीर लै बैठाव मुकदम बाँहि धै ।।१८४।।
जो आनिश्र आन कपूर सम तबहु पिश्राज पिश्राज पै ।।१८५।।
गीत गरुवि जापरी[2] मत्त भए मतरुफ गावइ ।।१८६।।
चरप नाच तुरुकिनी[3] आन किछु काहु न भावइ ।।१८७।।
सश्रद सेरणी[4] बिलह सव्व को जूठ सव्वे खा ।।१८८।।
दूआ[5] दे दरवेस पाव नहि गारि पारि जा ।।१८९।।
मषदूम नवावइ[6] दोम जओ हाथ दोस[7] दँस द्वारिश्रो[8] ।।१९०।।
पुन्दकारी हुकुम कहओ का अपनेश्रो जोए परारि हो ।।१९१।।

१. यह पद सिर्फ ख प्रति में है। क, शास्त्री, तथा स्तंभ तीर्थ की प्रतियों में यह नहीं है।
२. स्तं० जाकरी।
३. स्तं० तुरुस्किणी, ख० तुरुकनिअ।
४. ख० सिरणि।
५. स्तं० दोआ। शा० द्वाश्रा।
६. स्तं० नवावइ। ख० लवावै।
७. स्तं० दोस, शा० क० ददस।
८. स्तं० तारओ।

१८०-१८५=यवन भांग खाकर और मांगता है। खान क्रुद्ध होता है। समिण—'सालण (रोटी-मांस) चिल्लाता रहता है जैसे दौड़ कर प्राण चीर कर रख देगा। पहला ग्रास खाता है और वह जब मुँह के भीतर जाता है तो एक क्षण चुप रहता फिर मुँह में गडुवे से पानी गार (डाल) देता है। तीर उठाकर उस ओर देखता है। मुक़द्दम बाहें पकर कर उसे बिठाता है। चाहे कपूर के समान भोजन [आन <अन्न] लाकर रखा जाय, वह प्याज-प्याज ही चिल्लाता है।१८५।

१८६-१९१ = गीत गाने में श्रेष्ठ जाखरी (नट्टिनी) मस्त होकर 'मतरुफ' (प्रशस्ति) गाती है। तुर्किनी चरख (चक्कर देकर) नाच नाचती हैं और कुछ किसी को अच्छा भी नहीं लगता। सय्यद, स्वैरिणी (कुचरित्र), बली (फकीर) सब एक दूसरे का जूठ खाते हैं। दरवेश (साधु) दुआ (आशीर्वाद) देता है किन्तु जब भिक्षा नहीं पाता तब गाली देकर चला जाता है। मुसलमान धर्म गुरु [मखदूम] डोम की तरह हाथ फैलाता (नवाता) है। और बाद में असन्तुष्ट होने पर द्वारिक [गृहस्वामी] में ही दोष देखता है। खुन्दकारी (काज़ी) का हुक्म क्या कहें ? अपनी भी औरत पराई हो जाती है।

ये दोनो ही छन्द मुसलमानी रहन सहन का वर्णन करते हैं। चूंकि इनमें विद्यापति ने अनेक अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है, इसी कारण ये पाठ और अर्थ की दृष्टि से काफी क्लिष्ट प्रतीत होते हैं।

१८१ समिण-सालण = समिण (समिअण < समिअ < समित्त पा० सद्द० ८७७) गेहूँ के आँटे का बना हुआ पक्वान्न। अरबी में समन शब्द का अर्थ लाना या लाओ है। यदि वह इसी शब्द का अवहट्ठ रूप है तो मांस लाओ ऐसा बकता है, अर्थ हो सकता है।

सालण का प्रयोग पउमचरिउ ५०। ११ में हुआ है। अर्थ है पक्वमांस।

गारि दै = डलता है। गिराता हैं। गारना। **गारि नडाओल कुसुमक सीठि (५४१)**

१८३ गाडू – गुंडुवा। टोंटी लगा बधना।

१—**गिंडुव जुगल दुहुं ओर साज** [रसरतन चं० २२७]

२—**सोने के गँडुवा गँगाजल पानी** (लोकगीत)

१८४ डा० अग्रवाल ने इस पंक्ति का अर्थ किया – "मुकदम उसे देखकर जल्दी से भुजा पकड़कर एक किनारे ले जाकर बैठाता है।"

१८७–जाखरी = यक्ष > जक्ख > जाख + डी > री = जाखरी। नर्तकी।

चरख नाच = गोलाकार घूमकर किया जाने वाला नृत्य। उश्रृंखल नृत्य। चरखी की तरह नाच।

१८८–सअद = सैयद। सेरिणी = स्वैरिणी। विलह = वली। संस्कृत टीकाकार इसका एक दूसरा ही अर्थ करता है :—सैयदः सेरिणी ददाति, सर्वस्योच्छिष्टं सर्वे खादन्ति" सैयद सेरिणी (शीरनी, प्रसाद) देता है। सबके जूठ सभी खाते हैं। विलह का अर्थ किया है। देता है। विलह = वि + लभ् > लह = लभ् का उल्टा बिलभ्। देना।

१८६–दरवेश = फ़कीर। गारि पारि जा = गारि दे जाता है। 'गारि पारना' प्रयोग पदावली में भी दिखाई पड़ता है :—**लहु लहु तब हम पारब गारी** [छन्द ६१]

१६०-१६१—इन दो पंक्तियों का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने यों किया है :—

मषदूम (मुसलमानी धर्म गुरु) नरकपति के समान माना जाता है। जब वह प्रेतात्माओं को बुलाकर हृदस (अँगूठी के नग में प्रेतात्माओं का दर्शन कराना) द्वारा उन्हें जल्दी-जल्दी दिखाता है तो देखने वालों को डर लगता है और उन्हें पीड़ा पहुँचती है।

मषदूम, नरावइ [नरकपति] दोम [दूम, दुःख पहुँचाना] हाथ [<हत्थ, दे० शीघ्र] ददस (हृदस) दस (<प्रा० दस्स, दिखाना) नारओ (नरक के जीव) इन सातों शब्दों को वे विशिष्ट अर्थ वाले पारिभाषिक शब्द मानते हैं।

यह काफ़ी घुमावदार अर्थ है इसमें शक नहीं। पंक्तियाँ क्लिष्ट थीं, पर स्तंभतीर्थकी प्रति ने ददस की जगह 'दोस' पाठ देकर इसे बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।

मषदूम डोम की तरह हाथ नवाता है फैलाता है, और फिर द्वारिक में ही दोष देखता है।

डोम शब्द उपभ्रंश में प्रचलित है—**वंस विहत्था डोम जिस पर हत्थडा धुणंति**। बाँस-हीन डोम के समान परहत्था घुमाया करते हैं। [पाहुड़ दोहा, रामसिंह] हेमचन्द्र ने इसे देशी माना है, डुंबो [देशी ४।११, श्वपचः]

नवावइ—नवाना, झुकाना।

दोस दस द्वारिओ = द्वारिक का दोष देखता है।

दारिओ <द्वारिक। दस ∠ दंस [देशी नाममाला ५।३५ <दर्शयति]

१६६–पुन्दकारी—काज़ी।

परारिहो = पराईहो जाती है। पर + कारितः >पर + आरिअ = >परारी। पदावली में भी परेरी शब्द आया है :—

आदरे आनली परेरी नारि [छन्द ४६२]

वली छन्द

हिन्दू तुरके[1] मिलल वास ॥१६२॥
एकक धम्मे अओका उपहास ॥१६३॥
कतहु बाँग कतहु वेद ॥१६४॥
कतहु मिसमिल[2] कतहु छेद ॥१६५॥

कतहु ओझा कतहु षोजा ॥१९६॥
कतहु नखत[3] कतहु रोजा ॥१९७॥
कतहु तम्बारु कतहु कूजा ॥१९८॥
कतहु नीमाज कतहु पूजा ॥१९९॥
कतहु तुरुक वर कर[4] ॥२००॥
वाँट जाइते वेगार धर ॥२०१॥
धरि आनए वाभन वरुआ[5] ॥२०२॥
मथां चढ़ावए गाइक चुडुआ ॥२०३॥
फोट चाट जनेऊ तोर ॥२०४॥
उपर चढ़ावए चाह घोर ॥२०५॥
धोआ उरिधाने[6] मदिरा साँध ॥२०६॥
देउरि भाँग मसीद वाँध ॥२०७॥

१. स्तं० तुलुकु ।
२. स्तं० विसमिल क० मिसमिल ।
३. क० नकत ।
४. स्तं० वलकर ।
५. स्तं० वलूआ ।
६. ख० धोआवरी धाने ।

१९२-२०७ हिन्दू और तुर्कों का मिला-जुला निवास । एक से दूसरे धर्म का उपहास होता है । कहीं बाँग (अजान) होती है, कहीं वेद-पाठ हो रहा है । कहीं बिसमिल्लाह कह कर हलाली होती है, कहीं बलि । कहीं ओझा, कहीं ख्वाजा (ऊँचा फकीर) कहीं नक्षत्र (व्रत, उपवास) कहीं रोजा । कहीं ताम्रपात्र (आचमनी) कहीं कूजा (प्याला या मिट्टी का बर्तन) कहीं नमाज कहीं पूजा । कहीं तुर्क बलपूर्वक राह चलतों को बेगार करने के लिए पकड़ लाता है । ब्राह्मण बटुक को पकड़ कर लाता है और उसके माथे पर गाय का 'शुरुआ' रख देता है । तिलक पोंछ कर जनेऊ तोड़ देता है । ऊपर घोड़ा चढ़ाना चाहता है । धोये हुए उरिधान (नीवार) से मदिरा बनाता है । देव-कुल (मंदिर) तोड़कर मस्जिद बनाते हैं ।

१९३ अओका = दूसरे का । देखिए कीर्तिलता २।१२६

१९५ मिसमिल । विसमिल्ला उल रहमाने रहीम कहकर मुसलमान हर धार्मिक कार्य करता है । यहाँ आगे छेद (काटना) शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ बलि है, इसलिए 'मिसमिल' का लक्ष्यार्थ यहाँ 'हलाली' से है ।

१९६ ओझा <अउज्झा <उपाध्याय ।

१९७ रोज़ा । फ़ारसी रोज़: <वैदिक रोच: । उपवास ।

१९८ तम्बारु <ताम्मवार <ताम्रपात्र

१९९ नीमाज । नमाज़ । <सं० नमम् (देखिए आर्यभाषा और हिन्दी पृ० २३९)

२०० वरकर = <बलकर = वरिआई ।

२०२ वरुआ = वटुक >वटुआ >वरुआ । जनेऊ संस्कार को भी बोली में वरुआ होना कहते हैं ।

२०३ चुड्आ = चुरुआ । संस्कृत टोकाकार "दीयते गोस्फिचं" लिखता है । चड्ड [हेम० ४।१२६, १८५] मसलना, पीसना, शायद इसी से चड्आ, चुड्आ बना हो । डा० अग्रवाल इसे प्राकृत चुड्डप्प [= खाल] से बना मानते हैं ।

२०६ उरिधान = वरक नामक धान कुधान्य, जंगली धान्य । सावां, तिन्नी आदि की तरह का धान ।

गोर गोमठ[1] पुरिल मही ॥२०८॥
पैरहु देना एक ठाम नहीं ॥२०९॥
हिन्दू बोलि दुरहि निकार ॥२१०॥
छोटेओ तुरुका भमकी मार ॥२११॥

दोहा

हिन्दू गोट्टओ गिलिअ हल[2] तुरुक देखि होअ भान ॥२१२॥
अइसओ जसु परतापे रह चिर जीअउ सुरुतान ॥२१३॥
हट्टहि हट्ट[3] भमन्तो दुअओ राजकुमार ॥२१४॥
दिट्ठि कुतूहल कज्ज रस तो पइट्ठ दरबार ॥२१५॥

पद्मावती छन्द

लोअह सम्मदे, वहु विहरद्दे[4] अम्बर मण्डल पूरीआ ॥२१६॥
आवन्त तुरुक्का खाण मुल्लुका पअ भरे पाथर चूरीआ ॥२१७॥
दुरुहुन्ते आआ बड़ वड़ राआ दवल दोआरहि चारीआ ॥२१८॥
चाहन्ते छाहर,[5] आवहिं बाहर गालिम गणए न पारीआ ॥२१९॥

१. स्तं० गोमठे ।
२. स्तं० हिन्दुहि गोटेयो । ख० ओ हिन्दू बोलि गिरि चहं
३. स्तं० हट्टहिं हट्टहिं ।
४. स्तं० विवहट्टे ।
५. स्तं० चाहन्ते छाहर ।

२०८-२११-गोर (कब्र) और गोमठ (मकरों) से पृथ्वी भर गई है। पैर रखने की भी जगह नहीं। हिन्दू कह कर दूर से ही निकाल देते हैं, छोटे तुर्क भी भभकी (बन्दर घुड़की) दिखाते हैं।२११।

२१२-२१५-दोहा—तुर्कों को देखकर ऐसा लगता था जैसे ये हिन्दुओं के समूहों को निगल लेंगे। सुल्तान के प्रताप में ऐसा भी होता था; फिर भी सुल्तान चिरंजीवी रहें। हाट-हाट में घूमते हुए दोनों राजकुमारों ने दृष्टि के कौतूहल के कारण तथा कार्य वश (अपनी फरियाद सुनाने के लिए) दर्बार में प्रवेश किया। २१५।

२१६-२१९-पद्मावती छन्द—लोगों की भीड़ से, और प्रतीक्षकों की परिहासपूर्ण वार्ता से आकाश मण्डल भर गया। तुर्क, खान, मलिक आ रहे हैं। उनके पैरों के भार से पत्थर चूर्ण हो जाते थे। दूर-दूर से आये हुए राजा लोग धवलगृह के द्वार पर ही घूमते रहते थे। प्रवेश नहीं पाते थे फिर छाया में बैठने के लिए बाहर आ जाते थे। गुलामों की तो कोई गिनती ही नहीं थी।

२०८-ख—में गोमर पाठ है, तब अर्थ होगा कसाई। कब्रों और कसाइयों से धरती भर गई है।

२०९-गोट्टओ <सं० गोष्ठ=समूह। विद्यापति ने पदावली में इसका प्रयोग किया है :—**गोट गोट सखि सब गेल बहराय।** [२७९]

२१६-लोअह = लोगों के। लोकस्य > लोकस्स > लोअह

सम्मदें = सम्मर्द = भीड़ से।

विहरट्टे—विहर [पासद्द पृ० ८१० प्रतीक्षा करना] + अट्टे [देशी = परिहास, बात-चीत] प्रतीक्षा करने वालों की अधिक बात-चीत से।

२१८-दुरुहुन्ते = दूर से। हुन्ते अपदान कारक की अपभ्रंश विभक्ति।

२१९-छाहर = छाया। पदावली से—(१) **आपनि छाहरि तेज न पास** [१५] अपनी छाया पास नहीं छोड़ती। (२)-**न जुड़ि छाहरि न वरिस वारि!** [१७४] न छाया मिली, न जल।

डॉ० अग्रवाल ने इसका अर्थ किया है :—चहेते (चाहन्ते) छोकरे (छाहर = सुन्दर) महले से बाहर आते थे। उन गिलमान (गिल्मों) की गिनती नहीं हो सकती थी। गालिम का अर्थ गिलमान तो समझ में आता है, मगर छाहर का छोकरे अर्थ निराधार लगता है।

सब सइअदगारै विथ्थरि थारे[1] पुहविए पाला आवन्ता ॥२२०॥
दरबार पइट्ठे दिवस भइट्ठे वरिसहु भेट्ट न पावन्ता ॥२२१॥
उत्तम परिवारा षाण उमारा महल मजेदै[2] जानन्ता ॥२२२॥
सुरतान सलामे नहिअ इलामे[3] आपें रहि रहि आवन्ता ॥२२३॥
साअर गिरि अन्तर दीप दिगन्तर जासु निमित्ते जाइआ ॥२२४॥
सब्बओ बटुराना राउत राना तथ्थि दोआरहिं पाइआ ॥२२५॥
इअ रहहि गणन्ता विरुद भणन्ता भट्टा ठट्टा पेष्खीआ ॥२२६॥
आवन्ता जन्ता कज्ज करन्ता मानव कमने लेष्खीआ ॥२२७॥
तेलंगा वंगा चोल कलिंगा राआ पुत्ते मण्डीआ ॥२२८॥
निअ भासा जम्पइ साहस कम्पइ जइ सूरा जइ पण्डीआ ॥२२९॥
राउत्ता पुत्ता चलए बहुत्ता अँतरे पटरे सोहन्ता ॥२३०॥
संगाम सुहब्बा[4] जनि गन्धब्बा रूअे पर मन मोहन्ता ॥२३१॥

१. स्तं० विथ्थ विथारे।
२. ख० जे जेहि मलम जाणन्ता।
३. ख० लहिअै मानै। स्तं० नहइ अलामे।
४. स्तं० सुभब्वा।

२२०-२३१–सभी सैय्यादगारमें बिखरे खड़े रहते। पृथ्वीपाल राजे (देशी राजपुत्र) आते थे। दिवस बीत जाते, पर सालों दर्शन न हो पाते। उत्तम परिवार के खान और उमरा लोग ही शाही महल में कुछ पहुँच रखते थे। सुल्तान को सलाम करने, या बख़्शीश पाने के लिए ये खुद थोड़े-थोड़े अन्तर पर आते-जाते थे। सागर और पर्वतों के पार से, दीप-दीपान्तर से जिसके दर्शन के निमित्त आये थे, उसी के द्वार पर राजपुत्र, राणा आदि पायक बने खड़े थे। यहाँ पर खड़े होकर भाटों के समूह विरुद भनते दिखाई पड़ते थे। सामान्य कामों के लिए आते-जाते मानव की गिनती क्या ? तैलंग, बंगाली, चोल और कलिंग देशीय राजपुत्रों से शोभा बढ़ रही थी। वे अपनी-अपनी भाषायें बोलते, भय से कंपित

रहते, वे चाहे वीर हों या पण्डित। बहुत से राजकुमार इधर उधर अँतरे-पँतरे चलते रहे तो थे। संग्राम में भव्य मानो गन्धर्व हों। वे अपने रूप से सबका मन मोह लेते। २३१।

२२० थारे = सं० स्तब्ध > थड्ड > थाढ़ > थारे या ठाठे। = खड़े।

२२१ भइट्टे = भ्रष्ट > भट्ठ > भइट्ठ। नष्ट होना। व्यतीत होना।

२२२ महल मजेदे = मजीद महल, शाही महल को जानते थे। परिचित थे।

२२३ नहिअ = ल का न हो गया है। दे० कीर्तिलता की भाषा § २३ लहिय < लब्धित < लभ्।

इलामे = इनाम। न का ल।

डा० अग्रवाल ने "लहिअ इलामे" का अर्थ "एक लमहा" पाते थे, किया है। असल में "उत्तम परिवार षाण उमारा" के विषय में कहा गया है कि सिर्फ़ ये ही मुजरा करने या बख्शीश आदि पाने के लिए सीधे शाह के पास जा पाते थे। बाकी प्रतीक्षा करते ही रह जाते थे।

२२५ तथ्थि = वही = तत्र। पाइआ < पायक। भृत्य।

२२६ गणन्ता = गिनना। विरुद गणत्ता = प्रशस्ति पर सोचना-विचारना। भट्टा ∠ भाट ∠ भट्ट। ठट्टा < थट्ट = समूह।

२२७ कमने लेष्खीआ। लेखा। कोई मूल्य नहीं। नर वानर केहि लेखे माही (तुलसी)

छपद

ओहु[1] षास दरबार सएल महि मण्डल उप्परि ॥२३२॥
उथ्थि[2] अपन वेवहार राङ्क ले राअहु चप्परि[3] ॥२३३॥
उथ्थि सत्तु उथि मित्त उत्थि सिर नवइ सब्ब कइ ॥२३४॥
उथ्थि साति परसाद उथ्थि भए जाइ भव्व कइ ॥२३५॥
निज भाग अभाग विभाग वल ओ ठामहि जानिअ सब्ब गए[4] ॥२३६॥
एहु पातिसाह सबलोक उप्परि, तसु उप्पर करतार पए[5] ॥२३७॥

गद्य

अहो अहो आश्चर्य। ताहि दारखोलहि करो दवाल दरवाल[6] ओ ॥२३८॥
जेओन दरबार मेओएे दर सदर दारिगह[7] वारिगह निमाजगह ॥२३९॥
षोआरगह, षोरमगह. करेओ चित्त चमत्कार देषन्ते सब ॥२४०॥
बोल भल, जनि अद्यपर्यन्त विश्वकर्मा यही कार्य छल ॥२४१॥

१. स्तं० एहु ।
२. स्तं० उत्थि ।
३. क० शा० उप्परि ।
४. स्तं० वौ ठमा जानिअँ सब्ब गए ।
५. स्तं० तसु ऊपर करताल वए ।
६. स्तं० दारवाल औ ।
७. स्तं० अल दरमियान दरस्पाल दरखास दरदारिगह !

छपद—वह दरबार खास सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल के ऊपर था। वहाँ रंक भी अपना व्यवहार (हक़) राजाओं को दबाकर पाता था। वहाँ शत्रु मित्र सभी का सिर झुकता था। वहाँ दुःख सुख (प्रसाद) में बदल जाता था, वहाँ संसार का भय भाग जाता था। वहाँ जाने पर हर कोई अपने भाग्य अभाग्य के भेद को जान लेता था। यह बादशाह सम्पूर्ण संसार से ऊपर था, उसके ऊपर केवल भगवान ही थे।२३७।

गद्य—अहो अहो आश्चर्य। वहाँ प्रमुख द्वार की ड्योढ़ी में नंगी तलवारें लिए द्वारपाल खड़े थे। और भी। दरबार के बीच में सदर दरवाजे से चलकर शाही महल का लम्बा-चौड़ा मैदान, दरगाह, दरबारे आम नमाज-गृह, भोजन-गृह और शयन-गृह के विचित्र चमत्कार देखते हुए सभी कहते कि बहुत अच्छा है। जैसे आजतक विश्वकर्मा इसी कार्य में लगे रहे।

२३३–उत्थि = वहाँ। तत्र > तथ्थ > तथ्थि के वजन पर उत्थि बना। चप्परि = बलात्। [कीर्तिलता २।१०]

२३५–साति। दुःख। पदावली में प्रयुक्त—देखिए छन्द सं० ७९, १०१, २९९, ३२३, ३३१, ३७९, ४४९, ४५८, ५२२, ५८०।

१—परक पेयसि आनले चोरी
साति अँगिरलि आरति तोरी [२९९]

यह शब्द संस्कृति साति [तीव्र व्यथा या पीड़ा, आप्टेकोश, सातिः] से बना है।

२३७–पए। अपेक्षा। तसु पए करतार उप्पर। <पइ (प्राकृत, पासद्द० ४९३, अपेक्षा सूचक)। बादशाह से ऊपर सिर्फ ईश्वर 'ही' है। पए<पइ का प्रयोग पदावली में भी इसी अर्थ में हुआ है :—

बड़ अनुरोध बड़े पए राख
[छन्द० २६६]

बड़े का अनुरोध बड़े ही रखते हैं।

२३८–दारषोलहि। दरखोल, बाहरी द्वार। दवाल = फा० दुआल, चमकती तलवार। दरवाल = दरवान। <द्वारपाल।

२३९–अेओन = इस। <यः पुनः। मेओण = भीतर। फा० मीआन। दरसदर = राजद्वार। दारिगह = खुला मैदान। वारिगह = संभा मंडप, दरबारे आम।

२४०–पो = आरगह—खोआर = आहार। गह = गृह। आहार गृह। षोरमगाह—फ़ा = खुर्रम गाह। सुखमंदिर। निजी महल।

तान्हि प्रसादन्हि करो वमञ्ञणि घटित काञ्चन कलश छाज[1] ॥२४२॥
जन्हि करो माथे सूर्यरथ वहल पर्यटन्त सात घोरा करो ॥२४३॥
अट्ठइसओ टाप बाज। प्रमदवन[2], पुष्पवाटिका, कृत्रिमनदी ॥२४४॥
क्रीडाशैल, धारागृह, यन्त्रव्यजन, शृंगार संकेत, माधवी मण्डप ॥२४५॥
विश्राम चौरा, चित्रशाली, खट्वा-हिंडोल, कुसुम शय्या, प्रदीप- ॥२४६॥
माणिक्य, चन्द्रकान्त शिला, चतुस्सम पल्लव करो परमार्थ ॥२४७॥
पुच्छहि सियान ऐवाप अभ्यन्तर करी वार्ता के जान[3] ॥२४८॥
एम पेष्खिअ दूर दारषोल महुत्त विस्समिअ, सिट्टपदिक[4] ॥२४९॥
परिअण पमानिअ, गुणे अनुरञ्जिअ लोअ सव्व, महल ॥२५०॥
को मम्म जानिअ ॥२५१॥

१. ख० ताहि प्रसाद करो मनि घटित कंगूरा।
२. ख० प्रमोदवन।
३. ख० पल्लव करो पुरुषार्थ हँसि पुच्छि आण, अभ्यन्तर करी वार्ता कवण जाण।
४. क० शा० सिट्टपदिक परिट्ठए अपमानिअ।

२४२-२५० उन प्रासादों के ऊपर हीरों से जटित सुनहले कलश सुशोभित हो रहे थे। जिसके ऊपर सूर्य के रथ को वहन करने वाले घोड़ों की अठाइसों टापें बजती थीं या फँस जाती थीं। प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिमनदी, क्रीड़ा शैल, धारागृह, यंत्रव्यजन, शृंगार संकेत, माधवी-मंडप, विश्राम-चौरा, चित्रशाली, खटवा – हिंडोल, कुसुम-शय्या, प्रदीप माणिक्य, चन्द्रकान्त शिला और सुगंधिपूर्ण

चौकोर तालाबों का हाल सयानों से पूछते, वैसे भीतर की बात कौन जानता। इस तरह दूर से ही राजद्वार को देख कर, मुहूर्त भर विश्राम करके, द्वारपालों और भृत्यो का सम्मान करके, गुण से सब लोगों को प्रसन्न करके महल के रहस्यों को जान लिया।

इस गद्य खंड में आये हुए विशिष्ट सांस्कृतिक शब्दों का विस्तृत अर्थ 'कीर्ति-लता का वस्तु वर्णन' में दिया गया है।

२४२ छाज=सुशोभित होता या होते हैं। राज् का प्राकृत धात्वादेश छज्ज। [हेम ४।१००] छज्ज > छाज।

२४३ बहल = वह् = खीचना, वहन करना। ल°, भूत काल।

२४४ बाज = वजना या बज्झना। वाद्य > वाज। वद्ध > बाझ > वाज।

२४८ एवाप = यों, वैसे।

२४९ विस्समिअ = < विश्रमित। आराम करके।

सिट्ठपदिक = श्रेष्ठ + पदिक! पैदल सेना के सिपाही। द्वारपाल।

२५० परिअण पमानिअ = परिजन (भृत्य) को प्रमाणित करके, सम्मानपूर्वक विश्वासपात्र बनाकर।

२५१ मम्म = मर्म।

दोहा

सगुण सआणे पुच्छिअउँ[1] तं पल्लविअउँ[2] आस ॥२५२॥
तो उअ संझहिं[3] मज्जु पुर विप्पघरहिं करु[4] वास ॥२५३॥

सीदत्प्रत्यर्थिकान्तामुखमलिनरुचां वीक्षणैः पङ्कजानां।
त्यागैर्वद्धाञ्जलीनां तरणिपरिचितैर्भक्तिसम्पादितानां॥
अन्यद्वाराकृतार्थद्विजनिकरकर स्थूलभिक्षाप्रदानैः।
कुर्वन् सन्ध्यामसन्ध्यां चिरमवतु महीं कीर्तिसिंहो नरेन्द्रः॥

१. स्तं० पुछिअउ।

२. स्तं० पल्लिविअउ।

३. स्तं० असंझह।

४. स्तं० लिअ।

दोहा—गुणी और चतुर लोगों से पूछा, फिर आशा पल्लवित हुई। उस दिन सयंकाल के पहले, एक ब्राह्मण के घर पर निवास किया।२५३।

श्लोक—(सन्ध्या समय) कष्ट प्राप्त, विपक्षियों की स्त्रियों के मलिन मुख की आभा वाले कमलों को (फिर से मुकुलित करके) बद्ध हाथों से उन्हें भक्ति-पूर्वक सूर्य को अर्पित करके तथा द्वार पर आये हुये अकृतार्थ ब्राह्मणों की बड़ी बड़ी भिक्षायें देकर सन्ध्या को असन्ध्या करते हुए राजाकीर्तिसिंह पृथ्वी की चिरकाल तक रक्षा करें।

इति श्री मट्टक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां द्वितीयः पल्लवः।

द्वितीयः पल्लवः

१–३ किमीत्यादि—केनोत्पन्नं वैरं केनोद्धृतं तेन। पुण्यकथा प्रिय ! कथय, स्वामिन् शृणोमि सुखेन।

४–९ लख्खणेत्यादि—लक्ष्मणसेन नरेशो लिख्यते पक्षि पंच द्वौ। तत्र मधुमासे प्रथमपक्षे पंचमी कथिता या। राज्यलब्धोऽसलानो बुद्धिविक्रम-बलैर्न्यूनः पार्श्वे उपविश्य विश्वास्य राजा गणेशो मारितः। म्रियमाणे राज्ञि कोलाहलः प (तितः) मेदिन्यां 'हाहा' शब्दोऽभवत्। सुरराजनगरे नागररमणीवामनयनमुस्फुरितं ध्रुवम्।

१०–१५ ठाकुरेत्यादि—प्रभुः ठकोऽभवत् चौरैस्तरसा···संपादिता; दासेन गोस्वामिनी गृहीता, धर्मो गत्वा प्रतारणायां निमग्नः, खलेन सज्जनः परिभूतः, कोपि न भवति विचारकः, अकुलीना कुलीनयोर्विवाहः अधम उत्तमस्य शत्रुः, अक्षररसबोद्धा नहि, कविकुलं भ्रमित्वा भिक्षुकोऽभवत्, तीरभुक्तिस्तिरोहिता, सर्वैर्गुणैः राजा गणेशो यदि स्वर्गं गतः।

१६–२० राअ इत्यादि—राजा मारितः शांतोऽभवद्रोषः। लज्जितो निजमनसि इदमसलाणतुरुष्कश्चिन्तयति। मंदं कृतं मया कर्म धर्म स्मृत्वा निज-शिरो धूनयति। एतद्द्वयोरुद्धारेऽगं न पश्याम्यन्यं। राज्यं समर्पयामि। पुनः करोमि कीर्त्तिसिंहसम्मानम्।

२१–२२ सिंहेत्यादि—सिंहपराक्रमो मानधनो वैरोद्धारेषु सुसज्जः। कीर्त्तिसिंहो नांगीकरोति शत्रुसमर्पितराज्यं।

२३–२७ माए इत्यादि—माता जल्पति पुनः गुरुलोकः मन्त्री मित्रं शिक्षाप-यति। कदापि एतत्कर्म न क्रियते, कोपि न राज्यं परिह्रियते, वप्रवैरं चिरं चित्ते ध्रियते। नभनेन राजा गतः सुरपुरलोकसमाजं। त्वं शत्रुं मित्रं कृत्वा भुंक्ष्व तीरभुक्तिराज्यं।

२८–३० तस्यां बेलायां मातृमित्रमंत्रीमहाजनो नतेषु वदत्सु हृदयगिरिकंदरा निद्राणपितृवैरिकेसरी जजाग। महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्त्तिसिंहदेवो वक्तुं लगितः।

३१–३२ अरे इत्यादि—अरे अरे लोकाः, वृथा विस्मृतस्वामिशोकाः, कुटिल-राजनीतिचतुराः मम वचनं चित्ते कुरुत !

३३–३४ मातेत्यादि—माता भणति ममत्वमेव मंत्री राज्यनीतिं। मम प्रीता एका परं वीरपुरुषरीतिः।

३५–३६ मानेत्यादि—मानविहीनं भोजनं, शत्रुदत्तं राज्यं, शरण प्रविष्टं जीवन *त्रीणि कातरकार्याणि ।*

३७–४० *जो अपमाने इत्यादि—योऽपमानेन दुःखं न मानयति, दानखड्गयोर्मर्म* न जानाति, परोपकारे धर्म्म न पोटयति, स धन्यो निश्चिन्त्यं स्वपिति ।

४१–४२ परेत्यादि—पर पुरुषार्थम''''कथयामि वक्तुं न याति किमपि तरसा । ममापि ज्येष्ठो गरिष्ठोस्ति मंत्री विलक्षणो भ्राता ।

४३–४८ बप्पेत्यादि—वप्र वैरमुद्धरिष्यामि, न पुनः प्रतिज्ञां त्यजामि, न पुनः शरणागतं मुंचामि । दानेन दलयामि परदुःखं, न पुनः नाक्षरं भणामि, प्राणेन पणं करोमि, न पुनः स्वां शक्ति प्रकाशयामि । अभिमानं रक्षिष्यामि, जीवे सति नीचसमाजे न करोमि रतिं । तेन तिष्ठतु किं चायातु राज्यं वीरसिंहो भणति स्वात्म मतिम् ।

४९–५३ वेवीत्यादि—द्वौ सम्मतौ मिलितौ तां केषां (-नयादा !) द्वयोः सहोदरसंगः । द्वौ पुरुषौ सर्वगुणविलक्षणौ नूनं बलभद्रकृष्णौ न पुनर्वर्णितौ रामलक्ष्मणौ । राज्ञो नंदनः पादेन चलितः ईदृशः विधाताज्ञः तं प्रेक्षतां केषां न नयनयोर्निसृतमश्रु ।

५४–५८ लोकस्त्यजः पुनः परिवारः राज्यभोगः परिहृतः वरतुरंगपरिजनाः परिमुक्ताः । जननीपादौ प्रणम्य जन्मभूमेर्मोहस्त्यक्तः । रमणी त्यक्ता नवयौवना धनं त्यक्तं बहु । पातिसाहमुद्दिश्य चलितः गणेशराज्ञः पुत्रः ।

५९–६६ पात्रेत्यादि—पदा चलितौ द्वावपि कुमारौ हरिहरंति स्मरंति सर्वः । बहून त्यक्तानि दीर्घप्रांतराणि । जनाकीर्ण प्राप्तमंतरांतरा । यत्र गम्यते यत्र ग्रामं भोगीशराज्ञो बृहन्नाम । केनचित् पटः केनचोध्वाटकः ? केनचित्संपत्तिः स्तोकं स्तोकम् ।

६७–७४ कुत्रापि पत्री भृता प्राप्ता । कुत्रचित्सकरो लग्नो नितराम् । केनचिद्दत्तमृणं केनचित्कृतो नदीपारः । केनचिदुद्वाहितो भारः केनचित्पंथा कथितः । विज्ञः केनचिदातिथ्यं विनयं कृतं । कतिपयैर्दिवसैरध्वा सन्तीर्णः ।

७५–७८ अवश्यं उद्यमे लक्ष्मी वसति अवयं साहसे सिद्धिः । पुरुषो विलक्षणो यत्र चलति तत्र तत्र मिलति समृद्धिः । तत्क्षणे नगर प्रेक्षितं जोणापुरं तस्य नाम । लोचनस्य वल्लभं तस्या (लक्ष्म्या) विश्रामम् ।

७९–९४ पेक्खिअ इत्यादि—प्रेक्षितं पट्टनं चारुमेखलं यमुनानीरप्रक्षालितम् । पाषाणकुट्टितं कुटघांतरितं चूर्णैरुपरि प्रक्षालितं । पल्लवितकुसुमितफलितोपवनचूतचंपकशोभितं । मकरंदपानविमुग्धमधुकरशब्देन मानसमोहकम् ।

नदीकुटिलभागवापीबंधकाष्टादिबंधकितनदीभिः भव्याभव्य निकेतनं। अतिबहुतग्रामविवर्त्तविवर्त्तैश्च भ्रांतो भवंति महांतोपि चेतनाः। सोपान-तोरणयंत्रजोटनजालजलगवाक्षमंडितं। ध्वजधवलगृहशतसहस्र प्रेक्षितम्। कनककलशेन मंडितम्।

स्थलकमलपत्रप्रमाणनेत्रा मत्तकुंजरगामिनी। चतुष्पथवर्त्मनि परावृत्य प्रेक्षते सार्थसार्थैः कामिनी। कर्पूरकुंकुमगंधचामररत्नकांचनाम्वर···व्यव-हार मूल्येन वणिक् विक्रीणीते। क्रीत्वा आनयति बर्ब्बरः।

सम्मानदानविवाहोत्सवर्गातनाटककाव्यैः आतिथ्यविनयविवेककौतुकः समयः प्रेरितः सर्वैः पर्य्यटति खेलति हसनि पश्यति सर्वः यत्र गम्यते। मातंगतुंगतुरंगघटाभिः वर्त्मत्यक्त्वा वर्त्म न प्राप्यते।

९५–१०४ ततः, पुनः। ताहीति—तस्य नगरस्य प्रतिस्थापना प्रतिस्थापनेन शत-संख्यहट्टवाटभ्रमणशाखानगरश्रृंगाटकाक्रीडगोपुरवक्रहट्टा वीथी वलभी। आट्टालककूपजलोत्तोलनघटा कौशीस प्राकारपुरविन्यासकथा कथयामि का, मन्ये द्वितीयो अमरावत्यावतारोऽभवत्। अपि चापि च। हाटके-त्यादि—हट्टायाः प्रथमप्रवेशे अष्टधातुघटनाटाङ्कारैः कांस्यघटक पण्यस्थकांस्यक्रेंकारैः। प्रचुरपौरजनपदसंभारसंभिन्न, धनहटा, स्वर्णहटा, पर्णहटा, पक्वान्नहटा, मत्स्यहट्टायाः रवकथां वदन् भूयते नीकबादी? मन्ये गंभीरगुर्गुरावर्त्तकल्लोलकोलाहलैः श्रवणं पूरयन् मर्यादां मुक्त्वा महार्णवो तिष्ठति।

१०६-११२ मध्याह्न बेलायां समर्द्द सज्जते सकलपृथ्वीचक्रस्य वस्तु विक्रेतुमा-याति। मानुषस्य मर्शनात् पिष्टनं जायते। अंगेनांगं उद्वर्त्तते। अन्यस्य तिलकं अन्ये लगति। नर्त्तकादपि परस्त्री वलयं भज्यते। ब्राह्मणस्य यज्ञोपवीत चाण्डालं स्पृशति। वेश्यायाः पयोधरो यतीनां हृदयं चूर्णयति। धनं संचरंति घोटका हस्तिनः कति न कति न वराकन् चूर्णयंति। आवर्त्तविवर्त्त····भवति। नगरं न भवति नरसमुद्रः सः।

११३-११८ **बहुल इत्यादि—बहुलप्रकारैर्वणिजो हट्टां** हिंडितुं यदा गच्छंति क्षणो नैकेन सर्व विक्रीणाति। सर्वाण्येव क्रीणंतो सर्वदिक्षु प्रसारितश्चापलः रूपयौवनाग्रगामिनी वणिग्वधूमंडयित्वा विशति सहस्रं-सहस्रं नागरी। संभाषणे किंचिदपि व्याजं कृत्वा तया सह कथां सर्वः कथयति क्रीणाति विक्रीणाति। आत्मसुखं दृष्टिकुतूहलं लाभस्तिष्ठति।

११९-१२० **सव्वउ इत्यादि—सर्वेषा ऋजुनयनं, तरुणी····क्षते वक्रं चौर्यप्रेम प्रिया-सा स्वदोषेण सशंका।**

१२१-१२५ बहुलेत्यादि—बहवो ब्राह्मणः बहवः कायस्थाः राजपुत्रकुलं बहुलं। बहुलजातयोः मिलित्वा वसंत्युपर्युपरि। सर्वे सुजनाः सर्वेसधनाः। नगरराजा सर्वनगरोपरि यः सर्वमंदिरदेहल्यां रमणी दृश्यते सानंदा। तस्या मुखमण्डलेन गृहे-गृहे उदितः चन्द्रः।

१२६-१३३ एकहट्टायाः प्रांते अपरहट्टायाः क्रोड़े राजपथसंनिधाने संचरता अनेको दृष्टो वेश्यायाः निवासः। यस्याः निर्माणे विश्वकर्मणोऽभवत् बृहत्प्रयासः। अपरा वैचित्र्यकथा कथनीया का। यस्याः केशधूप-धूम ध्वजरेखाः ध्रुवोपरि गच्छति। केषां केषांचित् तादृशी शंका तस्याः कज्जलेन चन्द्रे कलङ्कः।

लज्जा कृत्रिमा। कपटतारुण्यं धननिमित्तं बिभर्त्ति प्रेमलोभेन विनय-सौभाग्यार्थं कार्म्मण्यं विना स्वामिना सिन्दूरं परामृशति परिजनेनापमानं।

१३४-१३५ यद् गुण मानविदग्धः गौरवं लभते भुजंग। वेश्या मन्दिरे ध्रुवं वसन्ति धूर्त्तरूपोऽनंगः।

१३६-१४५ तान्हीत्यादि—तस्या वेश्यायाः मुखसारमंडलेन। अलकतिलकपत्रा-वली खंडनेन दिव्यांबरविधानेन। पुनः-पुनः केशपाशबंधनेन, सखीजन-प्रेक्षणेन, मुग्धा सुन्दरी तन्वी क्षीणमध्या, तरुणी तरट्टीति वेह्लीति च.... विचक्षणा, परिहासपेशला सुन्दरी सार्थो यदा दृश्यते तदा मन एवं भवति चत्वारः पुरुषार्थाः तत्र तृतीयार्थ त्रयोप्युपेक्षणीयाः। तन्हि-केत्यादि—तस्याः केशकुसुमं वसति मन्ये मान्यजनस्य लज्जावलंबित मुखचन्द्रचन्द्रिकां वीक्ष्य अन्धकारो हसति। नयनांचल संचारेण भ्रूल-ताभंगः। यथा कज्जकल्लोलिनीः वीचिविवर्त्तनेन बृहत्-बृहत् शफरी तरंगः। अतिसूक्ष्मसिन्दूसररेखा निन्दते पापं, मन्ये पंचशरस्य प्रथमप्रतापः।

१४६-१५१ दोषेत्यादि—दोषेण हीना मध्येन क्षीणा रसिक आनयति द्यूतेन जित्वा पयोधरस्य भरेण भंक्तुमिच्छति। नेत्रस्य तृतीयभागेन त्रिभुवनं – घयति। सुस्वरेण वदति, राज्ञि शोभते। केषां केषांचिदेवं आशा कथं लगच्चं-चलवातः तस्यां कुटिलकटाक्षसदर्पकन्दर्पशरश्रेणि यदि नागरमनसि निमग्ना गौरिति ग्राम्यं त्यजति।

१५२-१५३ सव्वउइत्यादि—सर्वा नार्य्यो विलक्षणा सर्वे सुस्थिता लोकाः। श्री-इवराहिमसाहगुणेन खलु चिन्तामणिशोकः।

१५४-१५७ सव्वतहु इत्यादि—सर्वत्र प्रेक्ष्य सुखिनं भवति लोचनं सर्वत्र मिलति

सुस्थानं सुभोजनं क्षणमेकं मनो दत्वां शृणु विलक्षण, किंचद्वदामि तुरुष्काणां लक्षणं ।

१५८-१७२ तदोत्यादि—ततः द्वौ कुमारौ उपविष्टौ हट्टायां यत्र लक्षं घोटकाः। मातंगानां सहस्रं कुत्रचित् चोटयो मंदाः। कुत्रचित् दासो दासी, कुत्रचिद्दूरे निष्काशितो हिन्दुमन्दः, कुत्रचित्तुरुष्कजलपात्रं। कुत्रचिद्वाजिशाला प्रसारः कुत्रचित् शरशारगाः। कुत्रचित् हट्टाप्रसारकः, वणिजि वणिजि भ्रमंतौ द्वौ राजानौ। तोलयतो मांसं, लशुनं गृजनं। गृहणतः प्रवृत्ताः बहवो दासाः। क्रीणंतो द्रव्य वक्षिका मार्जयन्तो मोजां भ्रमंता। मीरमल्लीकसेखलावखोजाः।

अवे बे भणंतो मद्यं पिबन्तः कलिमां कथयन्त कलामेन जीवन्तः। कसीदां कलयन्तः मसीद भ्रमन्तः कितेवं पढन्तः तुरुष्काः अनन्तम्।

१७४-१७८ अतिगहेत्यादि—अत्यन्तं स्मरति निजदेवं भुंक्त्वा भंगाचूर्णम्। विना कारणेन क्रुध्यति, वदनं तप्तताम्रकुण्डं। तुरुष्कः अश्वारुढ़ो हट्टां भ्रममाणो मांसं याचते। वक्रदृष्ट्या निरीक्ष्य····रयाश्मश्रुनि थूत्करोति। सर्वस्वं मद्ये क्षयं कृत्वा तरमा वादरम इति जिज्ञास्यम्। अविवेकस्त्रियं कथयामि किं पश्चात्पदातयो गृहीत्वा भ्रमन्ते।

१८२-१९१ गीतोति—गीतिर्गुर्वी यस्याः मत्तो भूत्वा मत्तरुफं गायति। चरखं नृत्यति तुरुष्किणी अन्यतिकमिति कस्यापि न भावयति। सैयदः सेरणीं ददाति सर्वस्योच्छिष्टं सर्वे खादन्ति। आशीर्ददति दरवेशाः। न प्राप्नुवन्ति गालीं दत्वा व्रजन्ति। मखदूमेति जिज्ञास्यं।

१९२-१९५ किंचेत्यादि—हिन्दूतुरुष्कयो मिलितो वासः। एकस्यधर्मणापरस्य हासः। कुत्रचित् बांगः कुत्रचित् वेदः। कुत्रचित् मिसमिलः कुत्रचित् छेदः।

१९६-२११ कुत्रचिदुपाध्यायः कुत्रचित्खोजा। कुत्रचिन्नक्तं कुत्रचित् रोजा। कुत्रचित् तुरुष्को बलं करोति। पथि व्रजन्तो बिभर्ति गृहीत्वा आनीयते। ब्राह्मणो बटुः मस्तके दीयते गोस्फिचं। तिलकं अवलेहति यज्ञोपवीतं त्रोटयति, उपरि दातुमिच्छति घोटकं। श्राद्धान्नेन मदिरां संधत्ते। देवकुलं विभज्य मसीदं बध्नाति। गोरिणा गोमठेन पूर्णा मही पादस्यापि धारणे स्थानं नहि। हिन्दूरिति दूरे निष्कारयति। स्वल्पव्यस्कस्तुरुष्कः विभीषिका दर्शयति।

२१२-२१३ हिन्दुहीत्यादि—हिन्दुं सम्पूर्णं गिलितुमिच्छति। तुलुष्कं प्रेक्ष्य भवति बुद्धिः। अयमपि यस्य प्रतापेन न वशः सचिरं जीवतु सुरत्राणः।

२१४-२१५ हट्टहीत्यादि—हट्टायां हट्टायां भ्रमन्तौ द्वौ राजकुमारौ। दृष्टिकुतूहल-

कार्य्यवशतः प्रविष्टावीशद्वारम् ।

२१६-२१९ **लोहहेत्यादि**—लोकानां संमर्द्देन बहुविधवाद्येनाम्बरमण्डलं पूरितं । आगच्छतां तुरुक्काणं खानमल्लिकानां पदभारैः चूर्णितः प्रस्तरः दूरेप्यागच्छतो बृहंतो राजानः तरसा द्वारे वारिताः । याचंतः छायां आगच्छंतो बहिः विपक्षाः गणितुं न पार्यन्ते ।

२२०-२२३ **सब्व सअदगारेति**—जिज्ञास्यं । वित्तं विस्तारयन्तो पृथ्वीपालाः आगच्छन्तः द्वारे उपविष्टाः दिवसं यापन्तः वर्षेऽपि दर्शनं न प्राप्नुवन्ति । उत्तमपरिवाराः श्याम उवाराः महलं धर्मशालयाजानन्तः सुरत्राण नमस्कारे ।

२२४-२२५ **नहइ अलायेति**—जिज्ञास्यं । आत्मना स्थित्वा स्थित्वा आगच्छन्तः । सागर गिर्यन्तरद्वीप दिगन्तः येषां निमित्तेन गम्यते सर्वे वर्त्तुलाः राजपुत्रराणाः एतंद्वारे प्राप्यन्ते ।

२२६-२३१ **अयम इति**—वदन्तः विरुदं भणंतः भट्टथट्टाः दृश्यन्ते । आगच्छन्तो यान्तो कार्य कुर्वन्तो मानवाः केन लेख्यन्ते । तेलङ्गाः वंगचोलकलिंग-राजदूतैः मण्डितं । निजभाषया जल्पितसाहसे न कम्पते यथा सुरराज पण्डितः । राजपुत्राश्चलन्तो बहवः अन्तःपटेन शोभन्ते । संग्रामसुभव्या यथा गन्धर्वाः रूपेण परमानो मोहयन्तः ।

२३२–२३७ **एहुत्यादि** – अयं भव्यो द्वारः सकलमहिमण्डलोपरि । अत्रात्मना-व्यवहारः रंकोपि राजानं गृहणाति । अत्र शत्रुः अत्र मित्रं । अत्र शिरो नमति सर्वस्य । तत्र शास्ति प्रसादौ 'अत्र भवति सौख्यं सर्व निजभाग्याभाग्यबलं । तत्रैव ज्ञायते सर्वेषां । अत्र पातसाहः सर्वोपरि तस्योपरि परमेश्वरः परम ।

२३८–२४८ **दवालादि** – खोरमगहं तं सर्वे वदन्ति भव्यं । मन्ये अद्य पर्य्यन्तं विश्वकर्मणा अस्मिन्नेव कार्ये स्थितं । यस्य मस्ते सूर्यरथवहलपर्य्यटन सप्तघोटकाष्टाविंशति टापाः नादंति । प्रमदवनादीनां परमार्थ पृच्छान्यं त्रपितः । अभ्यंतरीया वार्त्ता को ज्ञानन्ते ।

२४९–२५१ **एमेत्यादि** – एवं प्रेक्षितं दूरात् आखोलमिति जिज्ञास्यं । क्षणं मुहूर्त्त विश्रस्य शिष्टप्रभृतीनां परिचर्या मानितः । गुणेनानुरंजितो लोकः सर्व महलस्य वर्ग ज्ञातम् ।

२५२–२५३ सगुणसज्ञाना पृष्ठाः तेन उल्लपितांत आश्वासः । ततः सन्ध्यायां मध्ये पुर विप्रगृहे निवासः ।

[इति द्वितीयः पल्लवः]

तृतीय पल्लव

अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति ॥ १ ॥
कारण समाइअ अमिअ रस तुज्झ कहन्ते कन्त ॥ २ ॥
कहहु विअक्खण पुनु कहहु किमि अग्गिम वित्तन्त ॥ ३ ॥

रड्डा

रअणि विरमिअ हुअउँ पच्चूस[1] ॥ ४ ॥
तरणि तिमिर संहरिअ हँसिअ अरविन्द[2] कानन ॥ ५ ॥
निन्दे नअन परिहरिअ उट्ठि राए पक्खारु आनन ॥ ६ ॥
गइ उज्जीर अराहिअउँ जंपिअ सकलओ कज्ज ॥ ७ ॥
जइ पहु बड़ओ पसन्न होअ तओ सिट्ठाअत रज्ज[4] ॥ ८ ॥

१. क० थच्छूस ख० पच्चस २. ख० हँसेउ इन्द्र ।
३. ख० गै उज्जीर पाराधि कै ।
४. ख० यै रयउ पभु पसज वड तइ वैसिटाइत राज

भृंगी फिर पूछती है ।

हे कान्त, तुम्हारे कहनेसे कर्णमें अमृतरस प्रविष्ट हुआ । इसलिए हे विचक्षण, फिर कहो, अगला वृतान्त शुरू करो ।

रड्डा—रात बीती, प्रत्यूष हुआ । सूर्यने अन्धकारका नाश किया । कमलवन विहँस पड़े । नींदने नेत्र छोड़े । राजाने उठकर मुँह धोया । फिर कीर्तिसिंहने जाकर वजीरकी आराधनाकी और अपना सब कार्य कह सुनाया । जब प्रभु (बादशाह) बहुत प्रसन्न हों तभी राज्य बनेगा या अपने अधीन हो सकेगा ।

४. पच्छूस < प्रत्यूष । प्रातःकाल
६. पक्खारु < प्रक्षाल + न = पखारना ।
७. अराहिअउँ < आराधित । भूत कृदन्त का रूप । आराधा ।
८. सिट्ठाअत । सं० सृष्ट 7 प्रा० सिट्ठ । आयत < आयत्त, अधीन, स्ववश

तब्बे मन्तिन्ह किअउ पथ्थाव[1] *॥ ९ ॥*
पातिसाह गोचरिअ सुभ महुत्त सुख राजे भेट्टिअ ॥ १० ॥
हअ अम्बर वर लहिअ हिअ दुख्ख वैराग मेट्टिअ[2] *॥ ११ ॥*
खोदालम्म सुपसन्न हुअ पुच्छु कुसलमय वुत्त ॥ १२ ॥
पुनु पुनु पुनु पुन्नाम[3] *कए कित्तिसिंह कह वुत्त ॥ १३ ॥*
अज्ज उच्छव अज्ज कल्लान ॥ १४ ॥
अज्ज सुदिन सुमहुत्त अज्ज माजे मझु पुत्त जाइअ ॥ १५ ॥
अज्ज पुन्न पुरिसथ्थ पातिसाह पापोस पाइअ ॥ १६ ॥
अकुशल वेविहि एक्क पइ अवर तुम्ह परताप[4] *॥ १७ ॥*
अरु लोअन्तर सग्ग गउ गएणराए मझु बाप ॥ १८ ॥
—फरमान भेल कओण साहि ॥ १९ ॥
तिरहुति लेलि; जन्हि साहिडरे कहिनी कहए आन ॥ २० ।
× × × जेहा तोहें ताहां असलान ॥ २१ ॥

१. स्तं० पत्थाव ।
२. ख० हय अवर वहिअ हिअव दुख-वैराग मुकिअ । अ । स्तं लहिअ ।
३. ख० सलाम ।
४. ख० अकुशल वेविहि कज्ज पइ अवर तुम्ह परताप ।

९—२१ तभी मंत्रियों ने प्रस्ताव किया कि बादशाह से मिलिए । शुभ मुहूर्त में सुखपूर्वक राजा से भेंट हुई । घोड़ा और वस्त्र भेंट किया ! हृदय का दुःख और उदासीनता मिटी । कुशल की बार्ता पूछी । बार बार प्रणाम करके कीर्ति सिंह ने बात कही । आज उत्सव (खुशी का दिन) आज कल्याण । आज वह शुभ दिन और मुहूर्त आया । आज मेरी माँ का पुत्रत्व सफल हुआ । आज पुण्य और पुरुषार्थ (उदित हुए) कि बादशाह के चरणोंके दर्शन हुए । किन्तु, दो ही अकुशल की बातें हैं, एक तो आपका प्रताप (नीचे पड़ा) अश्रेष्ठ हुआ, दूसरे मेरे पिता गणेश्वर राय स्वर्ग गए ।

बादशाह ने पूछा किसने तिरहुत लिया ?

जो शाह के डर से बात बनाकर कहता है, वही असलान ।

---

११. वहिअ—वह्, प्राकृत—ले जाना, पहुँचाना । पासद्द० पृष्ठ ७५३
१२, खोदालम्म < खुदा + आलम । संसार के स्वामी बादशाह ।

१६. पुरिसथ्थ <पुरुषार्थ । पापोस <पायपोश । जूता

१७. पइ = निश्चितार्थक अव्यय । **अवयव सवहिं नयन पए भास**

[पद. ४२०]

२०. कहिनी—विद्यापति ने 'कहिनी' का प्रयोग आश्चर्यपूर्ण वर्णन, बहाने बाजी आदिके लिए पदावली में अनेक बार किया है । **अइस कहनी न कहए आने** [पद ७२]

पढम पेल्लिअ तुज्झ फरमान ॥ २२ ॥
गएनराए तों वधिअ तौन सेर विहार चापिअ[1] ॥ २३ ॥
चलइते चामर परइ धरिअ छत्त तिरहुति उगाहिअ ॥ २४ ॥
तब्वउँ तोके रोस नहिं रज्ज करओ असलान ॥ २५ ॥
अवे करिअउ अहिंमान कर अज्ज जलंजिल दान ॥ २६ ॥
वे भूपाला मेइनी वेण्डा[2] एक्का नारि ॥ २७ ॥
सहहि न पारइ बेवि भर अवस करावए मारि[3] ॥ २८ ॥

रड्डा

भुवन जग्गइ तुम्ह परताप ॥ २९ ॥
तुम्हे खग्गें रिउँ दलिअ तुम्हे सेवइ सवे राए आवइ ॥ ३० ॥
तुम्हे दाने महि भरिअउँ तुम्हे कित्ति सबे लोग गावइ ॥ ३१ ॥
तुम्हे ण होसउँ असहना ज़इ सुनिअउँ रिउँ नाम ॥ ३२ ॥
इअर वपुरा की करओ वीरत्तण निज ठाम ॥ ३३ ॥

१. ख० साहिअ
२. ख० वेअक्का
३. १९-२८ की पंक्तियों में दो रड्डा छन्द किसी प्रकार मिल गए हैं, सम्भव है अन्तिम दोहों में से एक, उपरी रड्डे का भाग हो ।

पहले तो आपके फरमान की अवहेलना की, फिर गजेश्वर राजा का वध किया । उसी ने स्वेच्छया बिहार पर कब्जा किया है । उसके चलने से चामर डोलते हैं । शिर पर छत्र रखकर वह तिरहुत से कर उगाहता है । इस पर भी आपको यदि रोष न हो कि असलान राज्य कर रहा है तो कहिए मैं अपने अभिमान का तिलाञ्जलि दान कर दूँ । दो राजाओं की एक पृथ्वी और दो पुरुषों की एक नारी, दोनों का भार नहीं सह सकतीं, अवश्य युद्ध कराती हैं २८।

रड्डा—भुवन में आपका प्रताप जाग्रत है। आपने खंग से शत्रु का दलन किया। आपकी सेवा करने सभी राजे आते हैं। आपने दान से पृथ्वी भर दी। आपकी कीर्ति सब लोग गाते हैं। यदि आपही शत्रु के नाम से असहना (रुष्ट) न होंगे तो दूसरे विचारे वीरत्व और बल लेकर क्या करेंगे ?

२३. सेर = सं० < स्वैर। स्वेच्छा से।

२६. अवे = सं० अव > प्रा० अप या अव, जानने की इच्छा।

२७. वेण्डा—द्वे > वे। गण्डा आदि द्रविड परिवार के शब्दों के सम्पर्क से दो के लिए 'वेण्डा' रूप बन गया।

३२, असहना = शत्रु का पराक्रम न सह सके जो। असहिष्णु।

३३. इअर < इतर = दूसरा। वीरत्तण = वीर + तण अपभ्रंश भाववाचक प्रत्यय। ठाम < सं० स्थाम = पराक्रम, बल। जैसे अश्वत्थामा मे।

एम कोप्पिअ सुनिअ सुरुतान ॥ ३४ ॥
रोमंचिअ भुअ जुअल भौंहं जुअल भरि गेट्ठि परिअउँ ॥ ३५ ॥
अहर बिम्ब पप्फुरिअ नयने कोकनद कान्ति धरिअउँ ॥ ३६ ॥
खाए उमारा सब्ब के तं षऐ भौ फरमान ॥ ३७ ॥
अपनेहु साठे सम्पलहु[1] तिरहुत्तिहिं पयान ॥ ३८ ॥

छपद

तपत हुअउँ सुरतान रोल ऊँछल दरबारहिं ॥ ३९ ॥
जन परिजन[2] संचरिअ धरणि धसमस पए भारहिं ॥ ४० ॥
तात भुवन भए गेल सव्व मन सबतहु सङ्का ॥ ४१ ॥
बड़ा दूर बड़ हचड़ आज जनि उजडल लङ्का ॥ ४२ ॥
देवान अरदगल[3] गद्दवर[4] कुरुवक वइसल अदप कइ[5] ॥ ४३ ॥
जनि अवहिं सवहिं दहु धाए कहु पकलि दओ असलाए गइ[6] ॥४४॥

१. ख० उप्परहु साटे सप्परहु तिरहूतिहि पयाण।

२. ख० घन परिजन।

३. ख० अरद्गल।

४. देवाण अरदगर मै।

५. ख० महलके।

६. ख० जनि अवहि तवहिं पै धाइ कै पकरि अझक व असल्ला गै।

यह सुनकर सुलतान को क्रोध हुआ। दोनों भुजायें रोमांचित हो उठीं। दोनों भौहों में गाठें पड़ गईं। अधर-बिम्ब स्फुरित हुए यानी काँपने लगे। नयनों ने रक्त कमल की शोभा धारण की। ख़ान, उमरा, सबको उसी क्षण आज्ञा हुई अपनी अपनी तैयारी पूरी करके आओ। आज तिरहुत पयान होगा ३८।

छपद—सुलतान गरम हुए। दरबार में शोर मच गया नौकर चाकर दौड़ने लगे। पद भार से पृथ्वी धँसने लगी। संसार जलने लगा, सबके मन में सर्वत्र शंका फैल गई। बड़ी दूर तक बड़ा कोलाहल ? जैसे आज ही लंका उजड़ गई हो। दीवान, कूच के अधिकारी, सेनापति तथा कोरबेग (अस्त्रशस्त्रों के अधिकारी) सब अदब के साथ बैठे हुए थे जैसे हुक्म मिलते ही असलान को पकड़ कर ला देंगे।

३५. गेट्ठि<सं० ग्रंथि। गाँठ

३८. साँठि<अप० संट्ठा<सं० संस्था। साज सामान एकत्र करके। तैयारी के साथ

सम्पलहु = उपस्थित होना। आज्ञार्थक। सम्पत्>सम्पल।

४१. सबतहु < सव्वत्त < सर्वत्र।

४२. बड़ा दूर बड़ हचड़ उब्बे—डॉ० अग्रवाल ने यह पाठ रख कर इसका अर्थ किया है कि मानो बहुत बड़ी हत्या [हच्चा<हत्या + ड़ स्वार्थे] दूर से समीप (उब्बे<उपैति) पास आ गई है। उब्बे पाठ किसी प्रति में नहीं है। हचड़ का बोलियों में राह की रुकावट कीचड़ आदि अर्थ चलता है। लगता है यहाँ भीड़ और कोलाहल के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

४३. अरदगल (र)—गिर्दावर शब्द में इसका मूल छिपा प्रतीत होता है। दौरा पर जाने वाला अर्थ संभव है। ऐसी स्थिति में अर्थ सेना-प्रयाण के अधिकारी हो सकता है।

गद्‌वर—सेना पति। कुरुवक<को र बेग (शस्त्रों के अधिकारी)

रड्डा

तेन्हि सोअर वेवि सानन्द ॥४५॥
कित्तिसिंह वर नृपति लए पसाओ बाहर ओ आइअ ॥४६॥
एथन्तर वत्त विचित्त[२] कछु सुरतानहु पाइअ ॥४७॥

पुव्वे सेना सज्जिअउ पच्छिम हुअउँ पयान ॥४८॥
आण करइते आण[3] भउँ विहि चरित्त को जान ॥४६॥

दोहा

तं खणे चिन्तइ राअ सो सव्वे हुअउँ महु लज्ज ॥५०॥
पुनु वि परिस्सम सीज्झिहइ कालहि चुक्कि कज्ज[4] ॥५१॥

१. ख० लेइ पसाद बाहर आएउ।
२. क० शा० पुरि वत्त रत्त।
३. क० अन्न करइते अण्ड।
४. ख० प्रति में यह दोहा नहीं है।

रड्डा—वे दोनों भाई बहुत आनन्दित हुए। राजश्रेष्ठ कीर्ति सिंह बादशाह की कृपा (प्रसाद) लेकर बाहर आए। इसी बीच सुलतानको कुछ विचित्र बातें सुन पड़ीं। पूर्वके लिए सेना सजी थी, किन्तु पश्चिम को प्रयाण हुआ। करने कुछ गए थे, ओर हुआ कुछ और। विधि के चरित्रको कौन जानता है ? ३९।

उस समय राजा कीर्तिसिंह सोचने लगे, सबमें मेरी लाज हुई। समयपर चूका हुआ काम फिर काफ़ी परिश्रम (कठिनाई) से पूरा होगा।

४३. सोअर < सहोदर = भाई।
४६. पसाओ < प्रसाद (कृपा)
५१. चुक्किह – चूका हुआ। हेमचन्द्र ४।१७७ भ्रंशका धात्वादेश।

गद्य

तइसना प्रस्ताव चिन्ताभराणत[1] राजन्हि करो ॥ ५२ ॥
मुखारविन्द देखेअ महायुवराज श्रीमद्वीर सिंह देव – ॥ ५३ ॥
मंत्री भणिअ, अइसनेओ उँपताप गुणिओ ण गणिअ ॥ ५४ ॥

रड्डा

दुष्खे सिज्झइ राअ घर[2] कज्ज ॥ ५५ ॥
तं उव्वेअ न करिषु सुहिअ पुच्छि संसअ हरिज्जइ ॥ ५६ ॥
फल दैवह आअत पुरिस कम्म साहस करिज्जइ ॥ ५७ ॥

जइ साहसहु न सिद्ध हो झंप करिब्बउं काह ॥ ५८ ॥
होणा होसइ एक्क पइ वीर पुरिस उच्छाह ॥ ५६ ॥

१. ख० चिन्ताभरा वणतं । ख—मरोधण दत्त ।
२. ख० रां कर कज्ज ।

गद्य—उस समय राजाओ के चिन्तावनत मुख को देखकर युवराज श्रीमद्वीर सिंहका मन्त्री बोला, गुणियों को इस तरह के दुःख की परवा नहीं करनी चाहिए।

रड्डा—दुःख से राजाओं के घर के कार्य सिद्ध होते हैं, इसलिए उद्वेग नहीं करना चाहिए। मित्र-जनोंसे पूछकर शंका मिटानी चाहिए। फल तो देवायत्त है, पुरुष का कार्य साहस करना है, वही करिए। यदि साहस करने से भी सिद्धि न मिले तो झंखने (चिन्ता) से क्या होता है। जो होना है होगा, पर, वीर-पुरुष के लिए एक उत्साह (रह जाता) है।

५४. अइस नेओ—इस को खंडित करके डॉ० अग्रवाल ने अइस का अर्थ ऐसा और नेओ का नेता अर्थ किया। किन्तु कीर्तिलता में 'अइसना' शब्द कई बार आया है और इसका भी अर्थ ऐसा ही है। अइसन, प्रयोग 'ऐसा' के लिए बोलियों में भी बहुत मिलता है। पदावली में तखने अइसन रीति (पद १६१) इसका प्रमाण है।
उपँताप < उपताप = दुःख।

५५. सिज्झइ < सिज्ज < सिद्ध = पूरा होता है।

५६. उव्वेअ < उद्वेग। सुहिअ < सुहृद।

५८. झंष दे० दुख करना। झंखना। **हमें झखइतां** जाए [पदावली ३५२] **हेल्लि म झंखहि आलु** [हेम ४।३७९]

ओहु राओ बिअप्खण तुम्हे गुणवन्त ॥६०॥
ओ सधम्म तोहें शुद्ध ओहु सदय तुम्ह रज्ज खंडिअ ॥६१॥
ओ जिगीसु तोहें सूर ओहे राए तोहे राअ पंडिअ ॥६२॥
पुहवी पति सुरुतान ओ तुम्हे राय कुमार ॥६३॥
एक्क चित्त जइ सेविअइ धुव होसइ परकार ॥६४॥

दोहा

इत्थेन्तर पुनु रोल पड़ु सेरण संख को जान ॥६५॥
नलिन पत्त महि चलइ जञो सुरुतानी तकतान[2] ॥६६॥

निशिपाल (खंजा) छन्द

चलिअ तकतान[3] सुरुतान इवराहिम ओ ॥६७॥
कुरुम भरण धरणि सुनु धरण बल णाहि मो[4] ॥६८॥
गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ ॥६९॥
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ ॥७०॥

१ रतं० अहवा उ विअख्खण तुम्हें गुणमत्त।
२. शा० दोनों पंक्तियों में रज्ज खंडिअ है। ख में ओ जीगीपु तुम जगत मंडिअ है; आगे कुछ नहीं है।
३. ख० नलिनी पत्र जिमि महि चलइ तकतीण सुरुतान।
४. ख० चलेउ जखण।
५. क० शा० कुरुम भण धरणि रणि वल नाहि मो।

वह राजा (बादशाह) विचक्षण है, तुम शुद्ध हो। वह दयावान है, तुम राज-खण्डित हो, वह विजयेच्छु है तुम शूर-वीर हो, वह राजा है तुम राज पंडित (ब्राह्मण) हो, वह पृथ्वीपति सुलतान है और तुम राजकुमार। यदि एक चित्त से सेवा की जायेगी तो कोई न कोई उपाय अवश्य ही निकलेगा।

दोहा—इसके बाद शोर हुआ। सेना की संख्या कौन जाने। ज्यों ही सुलतान का तख्त चला पृथ्वी नलिन-पत्र की तरह कंपित हुई।६६।

निशिपाल-छन्द—सुलतान इब्राहिम का तख्त चला। कूर्मने कहा कि हे धरणि, सुन, मुझमें अब धारणका बल नहीं है। पर्वत चलाय-मान हुए, पृथ्वी गिरने (धँसने) लगी। शेग-नागका हृदय काँप उठा। सूर्यका रथ आकाश-मार्ग-में धूलसे छिप गया।

---

६५. इत्थेन्तर = इथि + अन्तर। इथि <अत्र। इस।
६६. तकतान = तख्त। फ़ा० तख्तेरवाँ। सुल्तानी सिंहासन जो यात्रा में साथ-साथ जाता था।
६९. पडइ <पतति। गिरती है।

७०. झंपिआ । ढकना । देशीक्रिया । इसीसे झाँपना शब्द बनता है । झाँपी बन्द – ढँकी टोकरी को कहते हैं ।

तवल शत वाज कत भेरि भरे फुक्किया ॥ ७१ ॥
प्रलय घण सद्द हुअ इअर[1] रव लुक्किआ ॥ ७२ ॥
तुरुक कस हरख हँस तुरय असफालहीं[2] ॥७३ ॥
मानधर मारि कर कड्ढि करवालहीं[3] ॥ ७४ ॥
मअ गलइ पअ पलइ गअ चलइ जं खणे[4] ॥ ७५ ॥
सत्तु घरँ उपजु डर निन्द नहिं झंखणे ॥ ७६ ॥
खग्ग लइ गव्व कइ तुलुक जब जुज्झइ ॥ ७७ ॥
अपि सगर सुर नअर संक पलि मुज्झइ ॥ ७८ ॥
सोखि जल कियउ थल पत्ति पअ भारहीं ॥ ७९ ॥
जानि धुअ संक हुअ सयल[5] संसारहीं ॥ ८० ॥

१. स्तं० इअर । ख० रण ।
२. ख० तुलुक लख हरषि हँस अग्रिधे सफाल ही ।
३. स्तं० अस्सफालहीं । स्तं० करवारही ।
४. ख० हय चलै गए गलै पय परै जंखने ।
५. स्तं० छड्डि । ख० खेय ससार ही ।

सैंकड़ों नगाड़े बज उठे, कितनी ही भेरियों से फू-फू की ध्वनि हुई । प्रलय के बादल गर्जने लगे । इसमें दूसरे सभी शोर छिप गये । लाखों तुर्क हर्ष से हँसते हुए घोड़े आगे बढ़ा रहे थे । मानधनी वीर युद्ध करने के लिए तलवारें खींचे हुए थे । जिस समय जोर से पैर रखकर हाथी चलते तो मद गिरने लगता । शत्रुओं के घरों में भय उत्पन्न हो जाता और उन्हें चिन्ता के मारे नींद नहीं आती । खंग लेकर, गर्व करके, जब तुर्क युद्ध करने लगते, तो सम्पूर्ण सुर-नगर भय के मारे मूर्छित हो जाता । पदातिक-सेना ने पैरों से ही सुखाकर जल को थल कर दिया । यह जानकर निश्चय ही सारे संसार में भय व्याप्त हो गया ।

७१. तवल = नक्कारे ।
७२. इअर < इतर । दूसरे ।
७३. असफालहीं ∠ आस्फाल । बढ़ाते थे । किसी चीज़ में प्रवेश करना

७४ किड्ढ <कर्ष्, खींचकर।

७५. जंखणे = जखन। जिस समय। मैथिली का बहुप्रयुक्त कालवाचक अव्यय। यत् + क्षणे।

७७. जुज्झइ <युद्धति। युद्ध करता है।

७८. पलि मुज्झइ—डॉ० अग्रवाल पलि मुज्झइ को एक शब्द मानकर इसे संस्कृति परिमुह्यति से निष्पन्न मानते हैं।
पलि <पडि <पत् = पड़कर। मुज्झइ <मूर्च्छति मुरझाना प्रयोग पूर्वी हिन्दी में खूब चलता है।

७९. पत्ति पअ <पंक्ति पद।

केउ अरि[1] बाँधि धरि चरण तल अप्पिआ ॥८१॥
केलि पर नेमि करि[2] अप्पु करे थप्पिआ ॥८२॥
चौसा अन्तर दीप दिगतन्र पातिसाह दिग विजय भम ॥८३॥
दुगम गाहन्ते कर चाहन्ते बेवि साथ सम्पलइ[3] जम ॥८४॥

छपद

वन्दी करिअ विदेस गरुअ गिरि पट्टन जारिअ ॥८५॥
साअर सींवा करिअ पार भै पारक मारिअ ॥८६॥
सरवस डाँडिअ[4] सत्तु घोल लिअ पजेडा धांड़े[5] ॥८७॥
एक ठाम उत्तरिअ ठाम दस मारिअ घाड़ें ॥८८॥
इबराहिमसाह पयान ओ पुहुवि नरेसन कवन सह ॥८९॥
गिरि साअर पार उँवार नहीं रैयत भेले जीव रह ॥९०॥

१. स्तं० केरिअरि। ख० केउ विअरि।
२. स्तं० केलि परनेमि। ख० केत्रि परलेकर :
३. स्तं० वेरि सत्थसंहणइ।
४. स्तं० डाडिअ। खं० सब्वस हिंडिय।
५. स्तं० घाले।

किसी ने शत्रुओं को बाँधकर सुलतानके पैरों में गिरा दिया। फिर, खेल-खेल में ही उन्हें नबाकर (झुकाकर) उठाकर खड़ा कर दिया। चतुर्दिश द्वीप दिगन्तर में बादशाह दिग्विजय करते हुए घूमते रहो। वे दुर्गम स्थानों का अवगाहन करते, कर उगाहते मानो शत्रुओं के साथ यमराज चल रहे हों।

छपद्—विदेशों पर अधिकार किया। भारी भारी पहाड़ों और नगरों को जला दिया। सागर की सीमा पार की, पार के लोगों को मारा। सब प्रकार से शत्रुओं को दंड देते। घोड़े लेकर रास्ते में फेंक देते थे। एक स्थान पर उतरते थे और दस स्थानों पर धावा मारते थे। इब्राहिम शाह के युद्ध प्रयाण को पृथ्वी का भला कौन नरेश सह सकता है। पर्वत और समुद्र लाँघने पर भी उबार होना कठिन था, केवल प्रजा बनने पर ही प्राण बच सकता था।९०।

८२. पर = शत्रु। नेमि करि = नवा कर, झुकाकर। थप्पिआ < स्था = स्थापित किया। खड़ा किया।

८३. चौसा = चतुर् + अस्त्र 7 चउ + अस्स 7 चौसा = चतुर्दिश

८६. भै < भइ। होकर।

८७. पजेडा घाड़ें = पजेडा < पाँतरे < प्रान्तर। शून्यपथ, पैंड़ा भोजपुरी में रास्ते को कहते हैं।
घाडे < घाले (स्तं० तीर्थ) = फेंकना, क्षिप् का धात्वादेश। दोनों पंक्तियों में "धाडें" पाठ मानना ठीक कहीं लगता।

बालिछन्द

रैयत भेले जहाँ जाइअ ॥ ९१ ॥
षर[1] एकओ छुअए न पाइअ ॥ ९२ ॥
वड़ि साति छोटाहु काज ॥ ९३ ॥
कटक लटक पटक बाज ॥ ९४ ॥
चोर घुमाइअ नायक[2] हाँथे ॥ ९५ ॥
दोहाए पेलिअ दोसरे मांथे ॥ ९६ ॥
सेरें कीनि पानि आनिअ ॥ ९७ ॥
पीवए षरो कापड़े छानिअ ॥ ९८ ॥
पान कए सोनाक टङ्का[3] ॥ ९९ ॥
चन्दन क मूल इन्धन विका ॥ १०० ॥
वहुल कौटि कनिक थोड़ ॥ १०१ ॥
घीवक बेचाँ दीअ घोड़ ॥ १०२ ॥
करुआ क तेल आँगे लाइअ ॥ १०३ ॥
वाँदि बड़दा सजोघ पाइअ[4] ॥ १०४ ॥

१. स्तं० खर, क० षड ।
२. स्तं० घुसइअ । नाक । ल० माथे ।
३. स्तं० पान कइ सोना टक का । क० पान कसए सोना क टंका ख० पान कसत सोणा कै टका जा ।
४. स्तं वाँदी वड़दा सग्गोघ पाइ अ । क० वड़ दासओ छपाइअ ।

वालि छन्द—प्रजा बनकर जहाँ चाहे जाइये। एक भी खर आप छू नहीं सकते यानी किसी चीज़ को ले नहीं सकते। छोटे से कार्य के लिए भी बड़ा कष्ट उठाना पड़ता। जरा सा लड़ाई-झगड़ा हुआ कि चटपट सेना आ पहुँचती। चोर नायक के हाथों घुमाया जाता था। वह बार बार दुहाई कहता और अपना अपराध दूसरे के माथे मढ़ता था। सेर के भाव से पानी खरीद कर लाइए, पीते समय कपड़े से छानिए। पान के लिए सोने का टंक दीजिए। इन्धन चन्दन के भाव बिकता। बहुत कौड़ी (पैसा) देने पर थोड़ा कनिक (अन्न) मिलता। घी के लिए घोड़ा देना पड़ जाता। शरीर में लगाने के लिए करुआ का तेल मिलता। बाँदी और बैल महँगे दामों में मिलते।

९२. पर या खड़ = तिनका [देशी नाममाला २।६७] खर न छू पाता मुहावरा भोजपुरी में चलता है। अर्थ है सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित होना।
९३. साति < सातिः = कष्ट। [देखिए कीर्ति० २।२३५]
९४. लटक-पटक = छोटी-मोटी लड़ाई। वाज < पहुँचना पहुँच आती। बाजहु होइ सिंदूर, [पद्मावत, नागमती वियोग खंड]
९६. पेलिअ—फेंकना, दूसरे पर मढ़ना। हेमचन्द्र [४।१४३]
१०४. सग्गोघ < समर्घ। महँगा।
स्तभतीर्थ का टीकाकार लिखता है :—दासी वृषभः समर्घं प्राप्यते

रड्डा

एवं गमिअउ दूर दीगन्तर[1] ॥१०५॥
रण साहस बहु करिअ बहुल ठाम फल भूल भष्खिअ ॥१०६॥
तुलक संगे संचार परम कट्ठे आचार रष्खिअ ॥१०७॥
सम्बल [2]णिवलिय किरिस तनु अम्बर भेल पुराण ॥१०८॥
जवन सभावहि निक्करुण तौ ण सुमरु सुरतान ॥१०९॥
विभँ हीन नथ्थि बणिज्ज[3] ॥११०॥

णहु विदेस ऋण संभरइ नहु मान धनहि[4] भिष्ख भावइ ॥१११॥
राय घरहि उंप्पत्ति नहि दीन वअन नहु वअन आवइ ॥११२॥
सेविअ सामि निसंक भए देव न पुरवए आस ॥११३॥
अहह महत्तर किक्करउँ गण्डजे[5] गणिज उँपास ॥११४॥

१. स्तं० दूर गमिअहु दीप दिगंत ।
२. स्तं० णिवलिय । क० निरबल ।
३. स्तं० वित्तेहीणउ नत्थि वणिज्ज ।
४. मानधनिव्व ।
५. स्तं गण्डाए ।

रड्डा—इस तरह (दोनों भाई) द्वीप दिगन्तरमें घूमते रहे । युद्धमें साहस का कार्य किया । बहुत से स्थानों पर केवल फूल-फल खाकर रहे । तुर्कों के साथ चलते समय बड़े कष्ट से अपने आचार की रक्षा की । राह के लिए पाथेय समाप्त हो गया । शरीर कृश हो गया, वस्त्र पुराने हो गए । यवन स्वभाव से ही निष्करुण होते हैं । सुलतान ने स्मरण भी नहीं किया ॥१०॥

धन के बिना कोई भी लेन-देन सम्भव नहीं । विदेश में ऋण भी नहीं मिलता । मानधनी को भीख माँगना भी पसन्द नहीं, राजा घर में जन्म हुआ, दीन-वचन मुख से निकल नहीं सकता, स्वामी की सेवा निःशंक होकर करते रहे; पर दैव आशा पूरी नहीं करता । अहह, महान, पुरुष क्या करें, गंडों गिन-गिन उपवास करते रहे ॥११४॥

१०८. णिवलिय < णिव्वलिअ, देशी = समाप्त होना । हेम ४।९२
१०९. निक्करुण < निष्करुण ।
११०. नत्थि < नास्ति । वणिज्ज < वाणिज्य । लेन-देन
१११. संभरइ < सं०सं + भृ = धारण करना । मिलना, प्राप्त होना [पासद्द० पृष्ट ७३८]
११२. वअन < बचन । वअन < बदन । मुख ।
११४. गण्डए < गण्डा । तृतीया विभक्ति संयुक्त । गण्डा, चार की संख्या । भाषाविदों का ख्याल है कि यह शब्द द्रविड़ परिवारसे आया है । बीच-बीच में चार-चार दिन के उपवास गिनने पड़ जाते । स्तम्भतीर्थ का टीकाकार कहता है चतुःसंख्या विशेषेण गण्यते उपवासः ।

पिअ न चिन्तइ, वित्त णहु ॥११५॥
मित्त नहु भोअन संपजइ भित्त भागि भुक्खे छड्डिअ ॥११६॥
घोर घास नहु लहइ दिवस दिवसे अति दुक्खं वड्ढिअ ॥११७॥
तवहु न चुक्किअ एक्कओ सिरि[1] केसव कायथ्य ॥११८॥
अरु सोमेसर सन[2] गहि सहि रहिअउ दुरवत्थ ॥११६॥

दोहा

वाणिज होइ विअक्खणा धम्म पसारइ हट्ट ॥१२०॥
भित्ता मित्ता कञ्चना विपथकाल कसवट्ट ॥१२१॥

गद्य

तैसना परमकाष्ठा करे प्रस्ताव[4] दुहु सोदर समाज, अनुचित्त ॥१२२॥
लज्जा, आचारक रक्षा, गुणक परीक्षा हरिश्चन्द्र क ॥१२३॥
कथा, नलक व्यवस्था, रामदेव क रीति, दान प्रीति, ॥१२४॥
मित्र क पतिगाह, साहस[5] उत्साह अकृत्य बाधा वलिकर्णदधीचि।१२५।
करो स्पर्धा साध ॥१२६॥

१. स्तं० मित्र नहु मित्त । २. स्तं० अखत-भरि ।
३. स्तं० सहिए। ख० सोमेसंदर संगहिअ ।
४. स्तं० प्रस्ताव क० शा० प्रस्तार
५. स्तं० मित्र पतिग्गह । क० शा० मित्र परिगाहण उत्साह ।

प्रियजन चिन्ता नहीं करते । धन नहीं, मित्र नहीं, भोजन नहीं मिलता । भूख से भागकर भृत्यों ने साथ छोड़ दिए । घोड़ों को घास नहीं मिलती, दिन-दिन दुःख बढ़ता ही जाता है, फिर भी, एक श्रीकेशव कायस्थ और दूसरे सोमेश्वर साथ गह कर दुरवस्था सहकर बने रहे ॥११९॥

वही वणिक चतुर है जो धर्म का व्यवसाय करता है । भृत्य और मित्र रूपी कंचन के लिए विपत्तिकाल ही कसौटी है ।

गद्य—परम कष्ट की उस अवस्था में पहुँचकर भी दोगे भाइयों ने समाजके चित्त में धारण की हुई लज्जा और आचार की रक्षा की, गुणों की परीक्षा दी । हरिश्चन्द्र की कथा, नल की बात, रामचन्द्र की रीति, दान-प्रीति से प्रेरणा लेकर मित्र की (यहाँ बादशाह से तात्पर्य है) मित्रता स्वीकारते हुए साहस उत्साह, अकरणोय के करने में बाधा, वलि, कर्ण, दधीचि से स्पर्धा करते हुए निवाहा ।

११८. एक्कओ के स्थान पर डाँ० अग्रवाल "अखौरि" पाठ सुझाते हैं। बिहार में अभी तक नामों के साथ प्रयुक्त होने वाला विरुद। किसी भी प्रति में यह पाठ नहीं है, फिर निचली पंक्ति में अरु<अपर यानी दूसरे श्रीसोमेश्वर का नाम आता है इसलिए दूसरे के सन्दर्भ में इस पंक्ति में 'एक्कओं' जो क० और शा० प्रतियों का पाठ है, ठीक ही जान पड़ता है।

११९. सन्नगहि का अर्थ मुद्राध्यक्ष किया गया है। लिखा है यह शब्द अप्रचलित है। मैं सन्न गहि का अर्थ साथ गहना, साथ रहना ही ठीक मानता हूँ। सन्न का अर्थ निवास भी है देखिए आप्टेकोश "सेटलिंग डाउन" गहि<ग्रह = गहना।

१२५. पतिग्गह<प्रतिग्रह। दिये हुए को स्वीकार करना।

दोहा

तं खणे चिन्तइ एक्क पइ कित्तिसिंह वर राए ॥१२७॥
अमंह एत्ता दुक्ख सुनि किमि जिबिहि मझु माए ॥१२८॥
(अच्छे मन्ति विअक्खणा तिरहुति केरा खंभ ॥१२९॥
मज्झु माय निअ दीजिहि × × × हथल बन्ध)[1] ॥१३०॥

छन्द (पज्झटिका)

तहां अछए[2] मन्ति आनन्द खाण ॥१३१॥
जे सन्धि भेद विग्गहउ जाण ॥१३२॥
सुपवित्त मित्त सिरि हंस राज ॥१३३॥
सरवस्स उपेक्खइ अम्ह काज ॥१३४
सिरि अम्ह सहोअर राअ सिंह ॥१३५॥
सङ्गाम परक्कम रुद्द सिंह ॥१३६॥
गुणे गरुअ मन्ति गोविन्द दत्त ॥१३७॥
तसु वंस वडाई कहओं कत्त ॥१३८॥

१. छन्द की दृष्टि से पंक्ति अधूरी है। और स्तंभतीर्थ तथा अन्य प्रतियों में भी इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि स्तंभतीर्थ प्रति में क प्रति की तरह ही यह पूरा दोहा नदारद है।

२. रतं० तसु ।
३. स्तं० कहव

दोहा—उस समय श्रेष्ठ राजा कीर्तिसिंह एक ही बात सोचते थे। हम लोगों का इतना दुःख सुनकर हमारी माता कैसे जीयेगी। यद्यपि वहाँ पर चतुर विचक्षण मंत्री है जो तिरहुत के लिए स्तम्भ स्वरूप है, जिसके साथ मेरी माँ ने मेरा "हथल-बंध" किया था, मानो हाथ में हाथ सौंपा था।

छन्द—वहाँ मंत्री आनन्द खान है, जो सन्धि और विग्रह-भेद जानते हैं। सुपवित्र मित्र श्री हंसराज हैं जो अपना सर्वस्व हम लोगों के लिए उपेक्षित कर सकते हैं। हमारे सहोदर राजसिंह हैं जो संग्राम में रुष्ट सिंह की तरह पराक्रमी है। गुण-श्रेष्ठ मंत्री गोविन्द दत्त हैं जिनके वंश की कितनी बड़ाई करूँ।

१२८. एत्ता < एतावत् = इतना। पछाँही हिन्दी का इत्ता।
१३०. संस्कृत टीकाकार ने भी इन पंक्तियों का अर्थ छोड़ दिया है। शायद ये पंक्तिया बाद की प्रक्षिप्त हों।
१३१. आनन्द खाण—नाम है। हिन्दू नामों के साथ खान की उपाधि से आश्चर्य नहीं करना चाहिए। विहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश में भी आज भी अनेक हिन्दुओं के साथ साथ यह उपाधि संयुक्त हैं। उसे संस्कृत स्थाणु > खाण के रूप में निष्पन्न बताना और फिर शिव-वाची उपाधि कहना असंगत है।

हर क भगत हरदत्त नाम ॥१३९॥
सङ्गाम कज्ज जनि परसराम[१] ॥१४०॥
हेरेउ हरिहर धम्माधिकारी ॥१४१॥
जिसु पए तिए लोइ पुरसत्थ चारि[२] ॥१४२॥
एअ मग चतुर ओझा भवेश ॥१४३॥
तिसु पएति न लागै कलु खलेस ॥१४४॥
न्याय सिंघ राउत सुजाण ॥१४५॥
सङ्गाम परक्कम अज्जुण समाण ॥१४६॥

दोहा

तसु परबोधें माए मझु धुअ न धरिज्जिहि सोग ॥१४७॥
पिपइ न आवइ तासु घर जसु अनुरत्तेओ लोग ॥१४८॥

१. क० सग्गाम काम अज्जुन सयान । चूंकि "अज्जुन समाण' १४६ वीं पंक्ति में आता है, तथा नाम का 'समान' तुक निकृष्ट तुक है, इसलिए ख० प्रति का परसुराम वाला पाठ बेहतर पाठ माना जायेगा ।

२. स्तं० तसु पलत्ति हो पुरुसत्थ चारि ।

३. क० मरेश ।

शंकर के भक्त हरदत्त हैं, जो संग्राम-कर्म में परशुराम के समान हैं । हरिहर धर्माधिकारी हैं जिसके प्रण से तीनों लोक में चारो पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं । नीति मार्ग में चतुर भवेश ओझा है जिनकी व्यवस्था में तिलमात्र भी कलुष नहीं रहता । रावत न्यायसिंह जैसे सुज्ञानी या सज्जन भी है जो संग्राम में अर्जुन के समान पराक्रमी हैं ।

इन लोगों के प्रबोधन से निश्चय ही मेरी माँ शोक न करेगी । उसके घर विपत्ति नहीं आती जिससे लोग अनुराग रखते हैं ।

---

१४२. तिण लोइ < त्रीणि लोक = तीन लोक

१४५. णय मग < नय मार्ग = नीति मार्ग

१४७. धरिज्जिह = धारण करूँगी । 'इह' भविष्यत् काल की विभक्ति है ।

चापि कहज्जो सुलतान के झाटे[1] करैओ उपाय ॥१४९॥
बिनु बोलन्ते जे मन पलइ अवे कत सहत जे राय[2] ॥१५०॥

रड्डा

जेन्हें साहस करिअ रण छप्प[3] ॥१५१॥
जेन्हें अग्गि धँस करिअ जेन्हे सिंह केसर गहिज्जिअ ॥१५२॥
जेन्हें सप्पफण धरिज्जिअ जेन्हें रुट्ठ हुअ यम सहिज्जिअ ॥१५३॥
तेन्हें वेवि सहोअरहिं गोचरिउँ सुरतान ॥१५४॥
तावे न जीवन नेह रह जावे न लग्गइ मान ॥१५५॥
तो पलट्टिअ काल सुपसन्न[4] ॥१५६॥
पुनु पसन्न विहि हुअउ पुनुवि दुक्ख दारिद्द खंडिअ ॥१५७॥
कटकाओ तिरहुत्ति राज रण[5] उच्छाहे मंडिअ ॥१५८॥
फलियउ साहस कम्म अरु सन्नग्गह[6] फरमान ॥१५९॥
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरुतान ॥१६०॥

१. स्तं० छोट्टे।

२. एतं अवे कत एत उराग्र। क. आवेकत सहत जे राय। ख० एवे कत इत सराया।

३. स्तं० ख० झंप। ४. स्तं० पुनवि सुरतान।

क० लाव लहिअ। ख० ता पट्टिम्र।

५. स्तं० क० रण।

६. ख० सानुराग

सुल्तान पर जोर देकर कहूँगा कि झट कोई उपाय करें। बिना कहे ही यदि मन में बात आती तो अब तक यह क्यों सहते रहते। १५०।

रड्डा—जिन्होंने संग्राम में साहस करके धावा मारा, जिन्होंने अग्नि में प्रवेश किया यानी अग्नि परीक्षा दी। जिन्होंने सिंह के केश को पकड़ा, जिन्होंने सर्पफण को पकड़ लिया, जिन्होंने क्रुद्ध यमराज का सामना किया, ऐसे उन दोनों भाइयों ने सुलतान से भेंट की। जब तक मान (रुष्टता) नहीं होता तभी तक जीवन में नेह रहता है। अच्छा समय फिर लौटा। विधि प्रसन्न हुए। फिर दुःख दारिद्र्य खण्डित हुए। सेना तिरहुत की ओर चली। राजा कीर्तिसिंह रण के उत्साह से भर उठे। साहस-कर्म फलित हुए। फरमान जारी हुआ। पृथ्वी पर उसके लिए अशक्य क्या है, जिस पर सुलतान प्रसन्न हों।

१४९. झाटे—देशी छंटो (देशी० ३।३३); यह अपपाठ नहीं है। छंटो का ही झाटे बन गया है, आज भी झट पट शब्द खूठा चलता है। डॉ० अग्रवाल झाटे को अपपाठ और छाँटे को शुद्ध मानते हैं।

आजु आवत हरि गोकुल रं पथु झटु झारी (५४६)

यहाँ भी झट ही हैं।

१५०. आव कत इत ओराए—डॉ० अग्रवाल ने यह पाठ रख कर अर्थ किया है कि अब तक आयु ऐसे क्यों बीतती। आयु का आव बहुत कम होता है। फिर इस पाठ में छन्द की दृष्टि से भी दुर्बल है। अब तक ये सब क्यों सहते'' अर्थ समीचीन लगता है। जे ये का ही रूप है, अर्थ हुआ ये सब।

१५२. छप्प = छापना। शत्रुओ को घेरना।

१५४. गोचरिअउँ < गोचरित = भेटाँ।

१५६. पलट्टिअ < परावर्तित = लौटना ।
इस पंक्ति के पहले शायद कुछ और पंक्तिया थी, जिनकी टीका संस्कृत टीकाकार ने दी है, किन्तु ये पंक्तियाँ किसी भी प्रति में समुपलब्ध नहीं हैं ।

दोहा

पक्ख न पाणै पउआ अङ्ग न राखै राउ ॥१६१॥
फूर न बोलै सूअणा धम्मंमति कहं जाउ ॥१६२॥

श्लोक

बलेन रिपु मण्डली समरदर्पसंहारिणा
यशोभिरमितो जगत्कुसुमचन्द्रोपमैः
श्रियावलितचामरद्वय द्विपतुरङ्गस्थया
सदा सफल साहसो जयति कीर्तिसिंहोनृपः

इति श्री विद्यापतिविरचितायां कीर्तिलतायां तृतीयः पल्लवः ॥

यह दोहा न तो क० में है न शास्त्री में यह सिर्फ स्तंभ तीर्थ और ख० प्रति में है । टीकाकार ने टीका नहीं दी है ।

प्रभु यदि अपने पक्ष का पालन न करें, राजा अंग की रक्षा न करे, सज्जन सत्य न बोलें, तो फिर धर्म मति कहाँ जाए । १६२ ।

श्लोक—राजा कीर्तिसिंह की जय हो । जिन्होंने बल से संग्राम में शत्रुओं के दर्प को नष्ट किया । उनका अमित यश कुमुद, कुन्द और चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल है, हाथी और घोड़ों की रंगस्थली में विहार करने वाली विजयश्री जिनके दोनों तरफ चँवर डुलाती है, जिनके सभी साहस-कार्य सफल हुए ।

ठाकुर विद्यापति की कीर्तिलता का तीसरा पल्लव समाप्त ।

---

१६१. पक्ख < पक्ष । अपने ओर के लोगों का ।
पाणै < पालै < पालयति । पालन करता है ।
पउआ < पहुआ < प्रभु
अंग = स्वपक्षीय, अपने ही लोग, अंश ।

१६२. फुर < स्फुट्
सूअणा < सूजन < सज्जन

तृतीयः पल्लवः

१–३. कर्णे सल्लीनः अमृतरसः तव कथनेन कांत। कथय विलक्षण पुनः कथय अग्रिमवृत्तः।

४–८. रयनीत्यादि—रजनिर्विरमिता, अभवत्प्रत्यूषं। हसितं अरविन्दकाननम्। निद्रया नयनं परिहृतं। उत्थितो राजा प्रक्षालयदाननं गत्वा दूतमावाह्याकथयत् सकलकार्यं। यद्यपि प्रभुः प्रसन्नो भवति तथापि शिष्टायत्तं वाक्यम्।

९–१३. तब्बइत्यादि—कृतः प्रस्तावः। पातिसाहो गोचरितः शुभमुहूर्त्ते सुखं राजा मिलितः। हयांबरं गृहीत्वा हृदयदुःखवैराग्यो माष्ट्रितौ। खोदालंबेति जिज्ञास्यं सुप्रसन्न भूत्वा पृष्टः कुशलमयी वार्त्ता। पुनः पुनः प्रणामं कृत्वा कीर्त्तिसिंहः। वृत्तं।

१४–१८. अज्जेत्यादि—अद्योत्सवः, अद्य कल्याणं। अद्य सुदिनं, अद्यसुमुहूर्त्तः। अद्य माता मां पुत्रमजीजनत्। अद्य पूर्णः पुरुषार्थः पातिसाहोपानत्-द्राप्ता। अकुशलं द्वयोः एक एव अपरस्तवप्रतापः। पुनः लोकांतरगतो गणेशराजा मम वप्रः।

१९–२१. फरमाणेत्यादि—फरमाणमभवत्। कस्मात् तिरभुक्तिः गृहीत्वा येन साधयित्वा भयेन कथां कथयति नान्यः। अत्र त्वं तत्र असलानः।

२२–२६. पढमेत्यादि—प्रथमं प्रेरितं तव फरमाणं गणेशराजा तेन मारितः। तथापि न गृहीतः विहारः। याचयित्वा चलं चामरः पतति, धृतं छत्रं। तीरभुक्तिरुग्रीहिता। तथापि तस्मिन् रोषो नहि राज्यं करोतु असलानः। अतः परं क्रियते अभिमानाय जलांजलिदानं।

२७–२८. वे भूपालेत्यादि—द्विभूपाला मेदिनी द्विनायका नारी सहितुं न पारयति द्वयोर्भवं अवश्यं कारयति फंदनम्।

२९–३३. भुवने जाग्रति तव प्रतापः त्वया खड्गेन रिपुर्मारितः। त्वां सेवितुं सर्वे राजान आयांति। तव दानेन मही भविता। तव कीर्त्ति सर्वे लोका गायंति। त्वं न भवसि असहिष्णुः यदि श्रुत्वा रिपुनामं इतरो वराकः किं करोतु। वीरत्वं निज स्थाने।

३४–३८. एमेत्यादि—एवं कोपितः सुरत्राणः रोमांचितं भुजयुगलं भ्रूयुगले भवो ग्रंथिः पतितः। अधरबिम्बं प्रस्फुरितं नयनं कोकनदकांति दधौ। खाण तम वारिकेपु सर्वेपु तत्क्षणेऽभवत् फरमाणं। स्वसंपत्या संपलज्जय तीरभुक्तिप्रयाणः।

३९-४४. तपतंत्यादि—तपतो भवत इसला····शब्द उच्छ्वलितद्वारे । घनं परिजनसंसारे धरणी धसमसायिता पदभारेण। तप्तं भुवनं भूतं सर्व मनसि सर्वत्र शंका वृहद्दरे वृहत् कोलाहलं उद्वेग उत्पन्नो लंकायां। देवानेत्यादि जिज्ञास्यम्। मन्ये अद्यैव सर्वे शीघ्रं गत्वा दास्यामो असलानम्।

४५-४९. तत्ते इत्यादि—तदा सौदरौ सानन्दौ, कीर्त्तिसिंहो वर नृपति गृहीत्वा वीथीं बहिरागतः। अत्रान्तरे विवर्त्तवार्त्ता काचित् सुरत्राणेन प्राप्ता। पूर्वस्यां सेना सज्जिता पश्चिमे भवतु प्रयाणः। अन्यं कुर्वन् अन्यमभवत् विधिचरित्रं को जानाति।

५०-५१. तं खगइत्यादि—तत्क्षणे चिंतयन् राजा सः सर्वमभवन् मम लज्जा विना किं परिश्रमेण सिद्धिर्भवति। कालैर्याति कालं।

५२-५४. तस्मिन् प्रस्तावे चिंताभवावनत राजनुखारविंदं प्रेक्ष्य महायुवराजः श्रीमद्वीरदेवो मंत्री अभणत्। ईदृश उपतापो गण्यते न गण्यते।

५५-५९. दुःखे इत्यादि—दुःखेण सिध्यति राजगृहकार्यम्। तत्र उद्वेगो न क्रियते। सुहृदं दृष्ट्वा संशयं परिह्लियते। फलं दैवायत्तं पुरुषकर्म साहसः क्रियते। यदि साहसेनापि न सिद्धिर्भवति चिंतया क्रियतां किं। भवतु मा भवतु एकः परं वीरसिंह उत्साहः।

६०-६४. अहवेत्यादि—अथवा स विलक्षणः त्वं गुणवान्। स सधर्मः त्वं शुद्धः, स सदयः, त्वं राज्यखण्डितः, स जिगीषुः, त्वं शूरः, स राजा, त्वं राजपण्डितः, पृथ्वीपतिः सुरत्राणः, त्वं राजकुमारः। एक चेतसा यदि सेव्यते, ध्रुवं भविष्यति प्रकारः।

६५-६६. एत्थंतरेति—अत्रान्तरे पुनः शब्दः पतितः। सैन्यखंख्यां को जानातु नलिनीपत्रे यदि मही चलति तदा सुरत्राणः तकतानः।

६७-७४. चलियइत्यादि—चलितस्तकतानात् सुरत्राणो तामवाहिमः कूर्मो भणति श्रृणु धरणि धारणबलं नास्ति मे। गिरिश्चलति मही पतति नागो मनसा कंपितः। तरणिरथगमनपंथाधूलिभरेण झंपितः।
तरलाः शतं वाद्यंते कति भेर्यो भरेण फुक्किताः। प्रलयघनशब्दं श्रुत्वा इतरो रवो गुप्तः। तुरुष्का लक्षं हर्षेण हसंति अश्वा धावंति फालेन। मानधनाः मारणं कुर्वन्ति बहिष्कृत्य करवालं।

७५-७८. मदो गलति पादः पतति गजश्चलति यत्क्षणे। शत्रुगृहे उत्पन्ना भीतिर्निद्रा नास्ति चिंतया। खड्गं गृहीत्वा गर्वं कृत्वा तुरुष्को यदा युध्यति। अपि सकलोपि सुरनगरः शंकया मुग्धः।

७६–८२. संशोष्य जलं कृतं स्थानं पत्तिपदभारैः ज्ञात्वा ध्रुवं शंकाभवत्। त्यक्तः संसारः। केपि अरयो बन्धयित्वा चरणतले स्थापिताः। केपि पुनः नतं कृत्वा आत्मनि स्थापिताः।

८३–८४. चौसा अन्तरेत्यादि—चतुःसागरांतर्द्वीपदिगंतः पातिसाह दिग्विजयो भ्रमति। दुर्गनं गाहमानः करं प्रार्थयन् वैरिसार्थसंहरण यमः।

८५–९०. वंदीत्यादि—बन्दी कृता विदेशगुर्गिरिपट्टनज्वालितः। सागरः सीमा कृतः पार गत्वा शत्रवो मारिताः। सर्वस्वेन दण्डितः शत्रुः घोटो गृहीतः अग्रेसरः कृतः। स्थाने एकस्मिन् स्थित्वा स्थानदशकं मारितं घाट्या। इमराहिमसाहि प्रयाणोसौ पृथिव्यां नरेशः कः सहति। गिरिसागर पारे जीवनं नहि, प्रजा यदि भूयते तदा जीवनं तिष्ठति।

९१–९४. रैअतीत्यादि—प्रजा भूत्वा यत्र गम्यते तृणनेकमपि स्प्रष्टुं न पार्यते। बृहती शास्तिः स्तोकापि कार्य्ये, कटके लंपकानां कोलाहलो भवति।

९५–९८. चौरो घूर्णते नासा करेण। शपथो न मान्यते द्वितीयमस्तकेन। शेरेण क्रीत्वा पानीयमानीयते। पातुं पटेन मनोक्रियते।

९९–१०१ पर्णशते सुवर्णमुद्रा, चंदनमूल्येन इन्धनं विक्रीणीते। बहूनि कपर्दकानि सक्तुरल्पः धृतवेतने दीयते घोटकः।

१०२–१०४. कुरुब्रकतैलनंगे लाप्यते। दासी वृषभः समर्घं प्राप्यते।

१०५–१०९. दूरेत्यदि—दूरंगतः द्वीपदिगंतं रणे साहसो बहुकृतः। बहुषु स्थानेषु-मूलं फलं भक्षितम्। तुरुष्केण सह संचरितः। परमदुःखेनाचारो रक्षितः। संपत्तिर्निर्वर्तिता क्षीणतनुरंबरमभवत् पुराणं। यवनः स्वभावेन निष्करुणः। ततो न स्मरति सुरत्राणः।

११०–११४. वित्तेइत्यादि—वित्तेन हीनः नास्ति वाणिज्या। न विदेशे ऋणं लभ्यते। न पुनः मानधनो भिक्षां भावयति। राजगृहे उत्पत्तिः दीन-वचनं न वदने आयाति। सेवितः स्वामी न स्मरति। दैवं न पूर-यत्याशाम्। अहह महान् किं करोतु। चतुःसंख्या विशेषेण गण्यते उपवासः।

११५–११९. पिअ इत्यादि—प्रियो न पृच्छते, भृत्यो न वा मित्रं न भोजनं संपद्यते। भृत्यो विभज्य गच्छति बुभुक्षादग्धः घोटको घासं न लभते। दिवसे दिवसेति दुःखं ल··········तथापि न पलायितः। अखतनीति जिज्ञास्यम्। श्रीकेशवकायस्थः अपरः सोमेश्वरः आसनं गृहीत्वा सहित्वा स्थितौ दुरवस्थाम्।

१२०–१२१. **वाणिअ इत्यादि**—वणिग्भवति विलक्षण: धर्म्म: प्रसारितो हट्ट: । भृत्यमित्रकांचनं विपत्कालकषणपात्रम् ।

१२२–१२६. **तैसन इत्यादि**—तस्मिन् परमकष्टकाष्ठायाः प्रस्तावे द्वयोः सोदरयोः समाजः अनुचिते लज्जा, आचारस्य रक्षा, गुणस्य परीक्षा, हरिश्चंद्रस्य कथा, नलस्य व्यवस्था, रामदेवस्य रीतिः, गुणस्य प्रीतिः, मित्रस्य प्रतिग्रहः, साहसे उत्साह: अकृत्ये बाधः । बलिकर्णदधीचीनां स्पर्द्धा साधयति ।

१२७–१२८. **तं खणे इत्यादि**—तत्क्षणे चिंतितमेकं परं कीर्त्तिसिंहवरराजेन । अस्माकमेतद् दुःखं श्रुत्वा कथं जीव्यते मात्रा ।

१३१–१३४. **तसु इत्यादि**—तस्यास्ते मंत्री आनन्दखानः यः सन्धिभेदविग्रहान् जानाति । सुपवित्रं मित्रं श्री हंसराजः सर्वस्वमुपेक्षते अस्मत्कार्य्ये ।

१३५–१३८. श्री अस्मत्सहोदरो राजसिंहः, संग्राम पराक्रमे रुष्टसिंहः । गुणेन गुरुर्मन्त्री गोविंददत्तः, तस्य वंश वृहत्वं कथयामि कति ।

१३९–१४२. हरस्य भक्तो हरदत्त नामा, संग्रामकार्य्ये यथा परशुरामः । पश्यामि हरिहरधर्माधिकारिणं, यस्य प्रणतिना भवति पुरुषार्थश्चत्वारः ।

१४३–१४६. नयमार्गे चतुर उपाध्यायो भवेशः । यस्य चिते न लगति कलुषलेशः । अपरः न्यायसिंह राजपुत्रः संग्रामकार्य्ये अर्जुनसमानः ।

१४७–१४८. **तसु इत्यादि**—तेषां प्रबोधेन मात·······ध्रुवं न करिष्यति शोकम् । विपत्तिर्नागच्छति तस्य भवनं यस्यानुरक्तो लोकः ।

१४९–१५०. **चापीत्यादि**—आक्रम्य कथयामि सुरत्राणाय ऋजुणा करोम्युपायम् । विना वचनेन यत् मनसि पतति । अतः परं किं तद्वचनम् ।

१५१–१५५. **जेन्हे इत्यादि**—येन साहसेन क्रियते रणझंपः । येन अग्नौ तरसा पतनं क्रियते । येन सिंहकेसरो गृह्यते । येन सर्प्पफणा ध्रियते । येन रुष्टो यमः सक्षते । तेन द्वाभ्यां सहोदराभ्यां गोचरितः सुरत्राणः । तावदेव जीवने स्नेहास्तिष्ठति यावन्न लगति मानः ।

अइसना इत्यादि—एतादश प्रस्तावे परमकष्टं स्वसज्जनिरपेक्ष अकटु अकठोर महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्तिसिंहगोचरेण सुरत्राणस्य मनः करुणायास्पर्शि । प्रसन्नो भूत्वा पातिसाहो दृष्टः । राज्यं त्यक्तं **त्यक्ताः परिवारः पितृबधेन सामर्षः परमदुःखेन परदेशे** आगतः **मां सर्वे भणंति । अद्य यावत् किमपि न प्राप्तं ।** तेन **दुःखेन निर-**

पेक्षो भणति किं करोति राजकुमारः। स तव आननं अभ्यं न संपद्यते। सर्वो दोषो अस्माकीनः। सर्वे नहि पण्डिताः वपरखेत्यादि जिज्ञास्यं। लज्जां न मानवतु सज्जनाः। धर्मातिथिं कथयित्वा यांतु।[1]

१५६–१६०. ततः परावृत्तः पुनरपि सुरत्राणः। पुनः प्रसन्नो अभवद्विधिः, पुनरपि दुःखदारिद्र्यखण्डितः। कटकेन तीरभुक्तिः, राजवदनमुत्साहेन मंडितं। फलितः साहसकल्पतरुः सानुग्रहफरमाणाः पृथिव्यां तस्य अशक्यं किं, यस्य प्रसन्नः सुरत्राणः।

[इति तृतीयः पल्लवः]

---

१. इस टीकांशसे पता चलता है कि पंक्ति १५५ और १५६ के बीच कुछ अंश और था; पर यह किसी भी प्रति में उपलब्ध नहीं होता—

सम्पादक

चतुर्थ पल्लव

अथ[1] भृङ्गी पुनः पृच्छति ॥१॥
कह कह कन्ता सच्चु भणन्ता किमि परिसेना सञ्चरिआ ॥२॥
किमि तिरहुत्ती हुअउँ पवित्ती अरु असलान किक्करिआ ॥३॥
कित्तिसिंह गुण हओ कओ पेअसि अप्पहि कान ॥४॥
विनु जने विनु धने धन्धे विनु जें चालिअ सुरतान ॥५॥
गरुओ वेवि कुमार[2] ओ गरुओ मणिक असलान ॥६॥
जासु चलाए जाहि के आपें[3] चलु सुरतान ॥७॥

गद्य

सुरतान के फ़रमाने सगरे हसम रोल पलु ॥८॥
लक्खावधि पयदा क शब्द, वाद्य पड़, पर वखत उप्पलु ॥९॥
वाद्य वाजु, सेण साजु । करि तुरंग पदाति सँघट्ट भेल ॥१०॥
वाहर कए दनेज देल ॥११॥[4]

१. पंक्ति १ और ६-७ ख में नहीं है।

२. स्तं० गरुवो वेबि कुमारो।

३. शा० जासु लाजे जाहि के आए।

४. स्तं० सुरतान के चलते समस्ता हसम रोल पलु। खोदवरद खत उपलु, वाद्य वाजु, सेवा खाजु। करि तुरग पदाति संहल भेल, वाहर कए दहलेज देल। ८वीं पंक्ति के बाद "कादी षोजा मखदूम लरु" पाठ है जो सिर्फ़ 'ख' में मिलता है।

चतुर्थ पल्लव

भृङ्गी फिर पूछती है।

कहो कान्त कहो, सच कहो, सेना किस प्रकार चली। तिरहुत में क्या हुआ। और असलान ने क्या किया। ३।

प्रेयसि मैं कीर्तिसिंह के गुण कहता हूँ, कान लगाकर सुनो। उन्होंने बिना किसी व्यक्ति की सहायता के, बिना धन के और बिना किसी प्रयोजन या कार्य के (तिरहुत-प्रयाण में शाह का कोई सीधा स्वार्थ न था) सुलतान को चला दिया। ५। दोनों कुमार श्रेष्ठ हैं, मलिक असलान भी श्रेष्ठ है जिनके चलाने से और जिसके द्वारा उत्पन्न आपत्ति को हटाने के लिए सुलतान चले आए।

गद्य—सुल्तान के फरमान से सारी सेना में शोर मच गया। लक्षावधि पैदल सेना का शब्द हुआ। बाजे बजे। कूच का ऐन वक़्त आ पहुँचा। युद्ध वाद्य बजे, सेनायें सजीं। हाथी, घोड़े और पैदल सेना के दस्ते संघटित हुए। और यात्रा के लिए, बाहर जाने के लिए एक-एक करके द्वार के सामने से निकलने लगे।

---

३. पवित्ती <प्रवृत्ति= समाचार

४. कओ <कहौं <कहउँ <√कथ्। = कहता हूँ।

५. धन्धे <धन्धा। प्रयोजन। आदमी किसी यात्रा पर या मुहिम पर किसी निजी प्रयोजन से जाता है; किन्तु इब्राहिमशाह का कोई खास प्रयोजन न था, फिर भी उसे कीर्तिसिंह के आग्रह से जाना पड़ा।

७. आपें <आपइ <आपत्ति। दोनों कुमारों के प्रेरित करने से, तथा असलान के आपें यानी आपत्ति के कारण शाह को आना पड़ा।

८. हसम <हश्म =सेना। हसम हयग्गय (पद्मावती समय पृथ्वीराज रासो, छन्द = ३)

९. बर बखत उप्पलु—वरवक्त आ पहुँचा।

डॉ० अग्रवाल ने स्तं० तीर्थ का पाठ "खोदा वरद ख़त उपलु" को ठीक मान कर अर्थ किया है—खुदाबुर्द—यानी कहाँ चलना है, ख़त उपलु खत या फरमान मिला है।

१०. संघट्ट <संघट्ट = भीड़, संघटन।

११. दवेज <दहलीज़, ड्योढ़ी। सेना ने दहलीज़ दिया, यानी ड्योढ़ी से गुज़रने लगी। मध्यकाल में युद्ध पर जाती सेना को ड्योढ़ी से गुज़रना पड़ता था, ताकि शाह या उनके निजी लोग ऊपर के झरोखे से या सामने से उनकी सलामी ले सकें।

दोहा

सज्जह सज्जह रोल पलु जानिअ इत्ति न मित्ति[1] ॥१२॥
राय मनोरथ सम्पलिअ कटकाजी तिरहुत्ति ॥१३॥
पढमहि सज्जिअ हत्थिवर[2] तो रह सज्जि[3] तुरङ्ग ॥१४॥
पाइक्कह चक्कह को गणइ चलिअ सेन चतुरंग ॥१५॥

मधुभार छन्द

अणवरत	*हाथि*	*मयमत्त जाथि ॥१६॥*
भागन्ते	*गाछ*	*चापन्ते काछ ॥१७॥*
तोरन्ते	*बोल[4]*	*मारन्ते घोल ॥१८॥*
संगाम	*थेघ*	*भूमट्टि मेघ ॥१९॥*
अन्धार	*कूट*	*दिग्विजय छूट ॥२०॥*
ससरीर	*गव्व*	*देखन्ते भव्व ॥२१॥*
चालन्ते	*काण*	*पव्वअ समाण ॥२२॥*

१. क० इत्थि न रित्थि । स्तं० इत्ति न मित्ति ।
२. स्तं० हत्थिवल्क=हाथी-सेना ।
३. स्तं० तोरि = ततः अपर = बाद में ।
४. ख. उट्ठन्त रोर ।

साजो, साजो का शोर हुआ । कहाँ और कितनी दूर जाना है किसी को ज्ञात न था । राजा का मनोरथ पूर्ण हुआ । सेना तिरहुति की ओर चली । पहले हाथी तैयार हुए, फिर रथ और घोड़े सजने लगे । पैदल सेना के दस्तों को कौन गिने । चतुरंगिणी सेना चली ।

मधुभार छन्द—मदमत्त हाथियों के दल निरन्तर चले जाते हैं । गाछ (वृक्ष) तोड़ते हैं, तथा पौधे तृण आदि को दबाते हैं या लोहे के सीकड़ों या जंजीरों को जिनसे वे बाँधे गये हैं, झटकते चलते हैं । चिग्घाड़ उठते हैं । घोड़ों को मारते हैं । संग्राम के ठेघे या थूनी के समान भूमि पर स्थिति मेघ की तरह, लगता था अन्धकार के शिखर हैं, जो दिग्विजय के लिए छुटे हैं । जैसे गर्व सशरीर उपस्थिति हों, देखने में भव्य । कान हिलाते थे । लगता था जैसे पर्वत खड़ा हो । २२ ।

१२. रोल < रोर = शब्द । इत्ति < इयत्ता । मित्ति < मिति = परिमाण ।

१४. रह < रथ ।

१५. पाइक्क < पदातिक । 'ह' सम्बन्ध की विभक्ति । चक्कह < चक्र दस्ते । कालम्स ।

१७. गाछ < गच्छ = वृक्ष । भागन्ते = भंग करते, तोड़ते । चापन्ते = दबाते, झटका देते । काछ < कच्छ < कक्ष । तृण-घास आदि । हाथी को बाँधने की डोरी या सीकड़ (पासद्द० २१४)

१८. तोरन्ते = तोलन्ते, उठाना, स्फुटित होना । बोल < $\sqrt{}$ब्रू = आवाज़ मारन्ते = मारते हैं । घोल का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने रगड़ कर मार डालना किया है ।

१९. थेघ = ठेघा । थूनी । भूमिट्ठ < भूमिष्ठ । भूमि स्थित ।

गद्य

गरुअ गरुअ सुण्ड,[1] मारि धसमसइत[2] मानुस करो मुण्ड ॥२३॥
विन्ध सओ विधाताओ बीनि काढल । कुम्भोद्भव करै ॥२४॥
नियमातिक्रमे पेलि पव्वतओ वाढल । खाए— ॥२५॥
खनए मारए जान;[3] महाउओ क आंकुस महते मान ॥२६॥

दोहा

पाइग्गह पअ भरें भउँ पल्लानिअउँ तुरंग ॥२७॥
थप्प थप्प थनवार कइ सुनि रोमञ्चिअ अंग ॥२८॥

१. स्तं० गरु सुंडा । क० मुंड ।
२. स्तं० दमन्ते । ख० दशमशइत मानुसक मुंड ।
३. क० धाए खनए मारए जान । ख० मारै धारै खाये आण ।

भारी-भारी सुंडों से मारकर वे मनुष्यों के मुंडों को धँसा देते थे। ऐसा लगता था मानो इन्हें विधाता ने विन्ध्याचल से छाँट कर निकाला है ? अगस्त ऋषि की आज्ञा का अतिक्रमण कर मानो पर्वत बढ़ आया इसीलिए इनके रूप में कुछ अंश को विधाता ने अलग किया । ये हाथी सिर्फ़ खाना, जमीन रगड़ना और मारना ही जानते थे, महावत के अंकुश से भी कठिनाई से मानते थे ।२६।

दोहा—पैदल सैनिकों ने पैर पर भार दिया यानी मार्चिंग करते हुए चले और घोड़ों पर ज़ीन कसी गई। थनवार (स्थान-पाल) की थपथपाहट से घोड़ों को रोमांच हो आया।

२३. धसमसइत = धसमसाते हुए। धसमसाना = धँसना (हिन्दी-शब्द सागर) ध्वस्त होना।

२६. महाउओ = महावत।

२७. पाइग्गह <पाइक्कह (दे० कीर्ति० ४।१५) <पदातिक = पैदल-सेना। पअ भरे भउँ = पद-भरे हुई। भरे का अर्थ भार देकर होता है, यानी पैरों पर भार देकर चलने के लिए उद्यत होना।

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा (मानस, अयोध्याकांड, २०३)

२८. पल्लानिअउँ <पलानित = पलानी = घोड़ों पर कसी जानेवाली काठी। सं. पर्याण > पल्लान > पलानी।

२९. थनवार <थनवाड (उक्ति. व्यक्ति.) <स्थानपाल = साईस।

णाराज छन्द

अनेक वाजि तेजि ताजि साजि साजि आनिआ ॥२९॥
परक्कमेहि जासु नाम दीप दीपे[1] जानिआ ॥३०॥
विसाल कंध चारु बन्ध[2] सत्ति रूअ सोहणा ॥३१॥
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा ॥३२॥
समत्थ सूर ऊरपूर चारि पाजे चक्करें ॥३३॥
अनन्त जुज्झ मम्म बुज्झ सामि काज[3] संगरे ॥३४॥
सुजाति सुद्ध कोहे कुद्ध तोरि धाव कन्धरा ॥३५॥
विशुद्ध दापे मार टापे चूरि जा वसुन्धरा ॥३६॥
विपक्ख केरि सेणिए हेरि[4] हिंसि हिंसि दाम से ॥३७॥
निसान सद्द भेरि णद्द[5] खोणि खुन्द ताम से ॥३८॥
तजान भीत वात जीत चामरेहि मण्डिआ ॥३९॥
विचित्त चित्त नाच चित्त राग वाग पण्डिआ ॥४०॥

एवञ्च

विछि वाछि तेज ताजि ॥४१॥
पक्खरेंहि साजि साजि ॥४२॥

लष्ख संख आनु घोर ॥४३॥
जासु मूले मेरु थोर ॥४४॥

१. ख० ठाँमे ठाने ।
२. ख० विसाल वंक चारु कंध ।
३. स्तं० तार ।
४. ख० विपक्ख सर समण हेरि क० विपक्ख केन मेन हेरि ।
५. क० शा› संग ।

णाराज—बहुत से तेजी ताज़ी जाति के घोड़े सजाकर लाए गए । पराक्रम में जिनका नाम द्वीप-द्वीपान्तर में विदित था । विशाल कंधे, सुन्दर वन्ध (पिछला भाग) । वे शक्तिस्वरूप और शोभन थे । तड़प कर हाथी को लाँघ जाते । शत्रु सेना को क्षुब्ध कर देते । सामर्थ्य वाले, वीर, शक्ति से भरे हुए, वे चारों पैरों से चक्कर काटते थे । या उनके चारों पैरों में सुलक्षणवान् चक्र (भौरियाँ) थे । संग्राम में स्वामी के कार्य के लिए वे युद्ध के अनन्त रहस्यों को जानते थे । अच्छी नस्ल के, शुद्ध (दोषहीन) क्रोध से क्रुद्ध, गर्दन मोड़कर यानी उन्नत करके दौड़ते थे । शुद्ध दर्प से टाप मारते थे, जिससे वसुन्धरा चूर-चूर हो जाती थी । शत्रु सेना को देखकर जब वे रोके जाते तो निराश हो हिनहिनाते थे । निशान के शब्द, भेरी के नाद सुनकर वे सूम से पृथ्वी खोदने लगते । चाबुक के डर से वे हवा को भी पराजित करनेवाली गति में चलते । चामर से मंडित चित्र-विचित्र नाच-में अनुरक्त और वाग के पंडित (जानकार) थे ।

और भी चुने हुए तेज़ी ताज़ी घोड़े, जीन से सजाकर, लाखों की संख्या में लाए गए, जिनके मूल्य के सामने मेरु (स्वर्ण-गिरि) भी कम हो जाए ।४४।

२९. तेजि-ताज़ि = तेजी और ताज़ी जाति के । ताजिक = अरबी । तेज़ी जाति के घोड़े ताज़ी से भिन्न थे । पर तेज़ी किस प्रदेश का नाम था, यह कहना कठिन है । संभवतः सिन्ध के पास मकराना के घोड़े, जहाँ की राजधानी "तीज" बताई जाती है ।

३१. वन्ध = कन्धे से भिन्न अश्वांग को वन्ध कहा जाता है ।

३२. खोहणा < खोह < क्षोभ = क्षुब्ध करने वाले ।

३७. हिंसि-हिंसि दाम से = लगाम लगी रहने पर भी, खींचे जाने पर भी हिनहिनाते थे ।

३८. ताम = ताम्य > तम्म > ताम (दुःख, निराशा)। णद्द <र्नदिय <र्नदित ।

३९. तजान = चाबुक । चामरेहि मंडिआ = दोनों तरफ़ झूलती हुई चौरियों से सुसज्जित ।

४०. राग वाग पंडिआ—डॉ० अग्रवाल राग वाग का अर्थ "लाल वल्गा" करते हैं । वस्तुतः कवि कहना चाहता है कि वे घोड़े विचित्र प्रकार के नृत्य में अनुरक्त (राग) और वाग के संकेतों के जानकार थे ।

गद्य

कटक चांगरे चांगु[1] *। वांकुले वांकुले वअने ॥४५॥*
काचले काचले नअने । अँटले अँटले बाधा,[2] *तीखे तरले ॥४६॥*
कांधा[3] *। जाहि करो पीठि आपु करो अहंकार*[4] *सारिअ ॥४७॥*
पर्वत ओलाँघि पार क मारिअ । अखिल सेन्नि सत्तु करी ॥४८॥
कीर्तिकल्लोलिनी लाँघि भेलि पार, ताहि करो जल सम्पर्के चारहु पाओ ।४९।
तोषार[5] *सुरली मुरुली कुण्डली, मुण्डली*[6] *प्रभृति नाना गति ॥५०॥*
करन्ते भास कस, जनि पाय तल पवन देवता वस । पद्म करे ॥५१॥
आकारे मुँह पाट जनि स्वामी करो यशश्चन्दन तिलक ललाट[7] *॥५२॥*

१. क० कटक चांगरं चांगु । शा० में नहीं है ।
२. ख० आटुले वाटुले वाधा । स्तं० अँटले अटले बाध
३. ख० पातरी तीखरी काधा ।
४. क० पीठि आपुक्करो अहंकार ।
५. स्तं० पाए तोषार । क० वोषार ।
६. क० मुरली मनोरी, कुण्डली, मंडली ।
७. स्तं० बाट ।

गद्य—विस्तृत विशाल अश्वसेना । घोड़ों के बाँके-बाँके आगे को उठे मुँह, चंचल (काँच की तरह चमकदार) आँखें, उनका बन्धदेश सुपुष्ट स्थिर था और कन्धदेश चंचल और स्फूर्तिमय । जिनकी पीठ पर अहंकार स्वयं सवारी करता था और सवार पर्वत को भी लाँघकर उस पार के शत्रु को मारता था ।

पूरी अश्व सेना शत्रु की कीर्ति नदी को लाँघकर पार हुई थी, इसलिए उसी के जल-सम्पर्क से मानो घोड़ों के पैर श्वेत हो गए थे। सुरली, मुरली, कुण्डली, मण्डली प्रभृति नाना गतियों को दिखाते हुए ऐसा भासित होता जैसे इनके चरणों में पवन देवता निवास करते हैं। मुँह पर पद्म के आकार का चिह्न था जैसे स्वामी के यशश्चन्दन का तिलक इनके ललाट पर लगा हो ॥५२॥

४५. चांगरे चांगुरे = चंगा। सुन्दर। (देशी नाम माला ३।१)। वाँकुले <वक्र; वाँका। ऊपर को उठा हुआ मुख।

४६. काचल – शीशे-जैसी, चमकीली। अँटले = बाँधे हुए, सुगठित। धान्य के बँधे पूलों को भी आँटा या अँटिया कहते हैं। डॉ० अग्रवाल इसे अट्टाल, (अटल स्थिर अडिग) से बना मानते हैं, जो ठीक नहीं है। अँटले, बँधा हुआ सुगठित ही अर्थ ठीक है, दे. हिन्दी शब्द सागर (अँटियाना = बाँधना, ऐंठन देना)।

४७. सारिअ – सारना क्रिया का अर्थ है पूरा करना, सँभालना, सिद्ध करना। यहाँ अहंकार पीठ पर स्वयं विराजमान होकर सब कुछ पूरा करने जा रहा है।

५०. तोपार <तुषार (हिम, श्वेत) यहाँ श्वेत से ही तात्पर्य है। श्वेत पैरों वाले घोड़ों को पंचकल्यान कहते हैं। इनके माथे पर सफ़ेद टीका भी होता है। **केनापि वर्णेन, मुखे, पादेषु पाण्डुर पञ्चकल्याणनामार्थं भषितः सोम भूभुजा** (मानसोल्लास भाग–२ पृष्ठ २१३)

५१. सुरली – शालूर की चाल, मेढक की चाल। पोइआ गति। मुरली = मयूर की गति। कुण्डली = सर्पाकार वक्रगति। मंडली = मंडलाकार, चक्रगति।

छपद

तेजमन्त तरवाल[१] तरुए तामस भरें वाढल ॥५३॥
सिन्धु पार संभूत तरणि रथ हइतें[२] काढल ॥५४॥
गवए पवन पछुवाव वेगे मानसहु जीति जा ॥५५॥
धाव धूप धसमसइ वज्ज जिमि गज्ज भूमि पा[३] ॥५६॥
संगाम भूमितल[४] सञ्चरइ नाच नचावइ विविह पइ ॥५७॥
अरि राअन्ह लच्छिअ छोलि ले पूर आस असवार कइ ॥५८॥

रड्डा

तं तुरंगम चढ़ेउ सुलतान[९] ॥५९॥
ध्वज चामर[७] विथ्थरिअ, तसु तुरंग कत पांचि[८] आनिअ ॥६०॥
जसु पौरुष बर लहिअ रायघरहिं दिसि विदिस जानिअ ॥६१॥
वेवि सहोअर राय गिरि लहिअउँ वेवि तुंग[९] ॥६२॥
पास पसंसए सब्ब जा दूर सत्तु ले भंग ॥६३॥

१. ख० तवयाल।
२. ख० वड्ढते।
३. क० रज सओ भूमि गज पार।
४. ख० थल।
५. क० भरि राए लच्छि अच्छिलि ले पूरावइ असवार कइ।
६. ख० तुरंगम चलिअ सुरताण।
७. ख० णमर।
८. ख० तुरंगम खत खाचि।
९. ख० तुरुक्का।

छपद्—वे घोड़े, तेजवन्त, त्वरावाले तरुण, और क्रोध से भरे हुए थे। सिन्धु नदी के पार उत्पन्न हुए, मानो वे सूर्य के रथ से छुड़ा लाए गए हों। गमन में पवन को भी पीछे कर दें, वेग में मन को भी जीत जायें। उनके दौड़-धूप से पृथ्वी धसमसाती थी, और उनकी टापें वज्र की तरह भूमि पाकर गर्जन करती थीं। संग्राम भूमि पर संचरण करते तो सवार उन्हें नाना नाच नचाते। शत्रुराजों की लक्ष्मी छोड़ (छीन) लेते, असवार की आशा पूरी करते।

रड्डा—ऐसे घोड़े पर चढ़कर सुलतान चले। उनके ऊपर ध्वज, चामर विस्तृत हुए यानी फैलाये गए। उनका घोड़ा कितनों में चुनकर आया था! जिसके श्रेष्ठ पौरुष को देश-विदेशके राजघराने जानते थे। इसके बाद दोनों भाइयों ने भी कहकर घोड़े लिए। सब लोग पास आकर उन घोड़ों की प्रशंसा करते। शत्रु उन्हें दूर से ही देखकर भाग जाते।

५३. तरवाल। त्वरावाले त्वरा > तर। पाल > वाल। त्वरायुक्त। वाढल = बढ़े हुए।

५४. सिन्धुपार सम्भूत = सिन्धु पार गान्धार देश में उत्पन्न घोड़े।
हइते = से = अपादान अप० विभक्ति होन्तओ > हइतें
काढ़ल ∠ कर्ष = खींचे हुए। लाए हुए।

५६. धसमसइ = धसमसाती, धसँती (देखिए कीर्ति० ४।२३)
पा = पाकर।

५७. पइ < परि = प्रकार।

५८. छोलि ले। छोड़ लेता है। छोट्य > छोड़ > छोल = छुड़ाना।

५६. चह्लेउ < चडिअउ = चढ़े। रह वर चडिअउ, हेम० ४।३३१

६०. कत षाँचि = कितनों में से खींच कर [काढ़ल देखिए पं० ५४]

६२. गिरि = कहकर √गृ > गिर = कहना।

छपद

तेजी ताजी तुरअ[1] चारि दिशि चप्परि कुट्टइ ॥६४॥
तरुण तुरुक असवार बाँस जओ[2] चाबुक फुट्टइ ॥६५॥
मोजाजे मोजे जोरि[3] तीर भरि तरकस चापे ॥६६॥
सींगिनि देइ कसीस[4] गब्ब कए गरुजे दापे ॥६७॥
निस्सरिअ फौद अणवरत कत तत परिगणना पार के[5] ॥६८॥
पअभार कोल अहि भोल करि[6] कुरुम उँलटि करवट्ट दै ॥६९॥

अरिल्ल

कोटि धनुद्धर धावथि पाइक[7] ॥७०॥
लष्ख संख चलिअउँ ढलवाइक ॥७१॥
चलु फरिआइक[8] अंगे चंगे ॥७२॥
चमक होइ खग्गगग्ग तरंगे ॥७३॥
मत्त मगोल बोल नहिं बुज्झइ ॥७४॥
पुन्दकार[9] कारण रण जुज्झइ ॥७५॥

१. स्तं० तेजित तारि तुरअ।
२. स्तं० वाणसन।
३. स्तं० मोजए मोजए ख० मौजे मौजे जौरि।
४. स्तं० निसीस। ख० कौसीस।
५. स्तं० तहि गना करए जे पार के।

६. स्तं० मारे को न अहि मोलकर कुरुम ।
७. स्तं० धावन्थि पाइक ।
८. स्तं० फरिआइल रंगे चंगे ।
९. स्तं० खोदकार ।

छपद—तेजी ताजी जाति के वे घोड़े चारों दिशाओं को दबाते हुए से छूटे। तरुण तुर्क असवारों के चाबुक बाँस फूटने की तरह आवाज़ करते। मोजे से सरमोजा जोर कर, तीर भरकर तर्कश बाँध लेते। धनुष को भारी दर्प के साथ खींचते। अनवरत सेना चली। उसकी गणना कौन कर सकता है। सैनिकों के पदभार से कोल (महाबाराह) और सर्प शेष नाग भ्रमित हुए। कूर्म उलट करके करवट बदलने लगा ॥६९॥

अरल्लि—करोड़ों धनुर्धर पैदल दौड़ रहे थे। लाखों की संख्या में ढाल वाहक चलते। मजबूत शरीर वाले सैनिक एक ओर से फरी लिए हुए चले। खंग की धार से चमक होती। मतवाले मंगोल किसी का बोल नहीं समझते थे। खुन्दकार (स्वामी) के लिए रण में जूझ जाते।

---

६४. तेजी-ताजी देखिए ४।२९

६६. मोजाञे मोञे – मोजे के ऊपर सरमोजा पहन कर।

६७. सींगिनि = धनुष। शार्ङ्ग, शृंगिन्
सिंगिनि सुलइ गुन चढ़ि जंजीर। चुक्कइ न सबद वेधंत तीर।
[पृथ्वीराजसो, पद्मावती समय, १९]

कसीस < फ़ा० कशिश = खिचाव

६९. भोल करि = भ्रम में डाल दिया। तोर विरहे भवन भमए भेल—मधुकर भोर। (पद ४३)

७१. ढल्बाइक < ढालवाहक।

७२. फरिआइक = फरिआइत [वर्ण रत्नाकर पृ० ३३] फरय अस्त्र को लेकर चलने वाले सैनिक। स्फरक > फरय।

७४. बुज्झइ < बुद्धयते = बूझता है। समझता है।

७५. षुन्दकार < खुन्दकार = काजी [कीर्ति २।१९१] न्याय के लिए यानी सैनिक होने के कर्तव्य के रूप में युद्ध अनिवार्य है, इस आदेशको पूरा करते थे।

काँच मास कवहुँ कर भोअण ॥७६॥
कादम्बरि रसे लोहित लोअण ॥७७॥
जोअन बीस दिनद्धे धावथि ॥७८॥
बगल क रोटी दिवस गमावथि ॥७९॥
वेलक काटि कमानहिं जोरें[1] ॥८०॥
धाजे चलथि गिरि उप्परि घोरें ॥८१॥
गो वम्भन बध दोस न मानथि[2] ॥८२॥
पर पुर नारि वन्दि कए आनथि ॥८३॥
हस आवसि रुट्ठ भए रहसहि[3] ॥८४॥
तरुणे तुरुक वाचा सए सहसहि ॥८५॥
अरु कत धाँगड़ देषिअथि जाइतें ॥८६॥
गोरु मारि विसमिल[4] कए षाइते ॥८७॥

१. स्तं० वेलक काटि कमाणहि बोले। ख० वेळ के कमाने जोरे।
२. स्तं० मानयि।
३. स्तं० हस हवसि रुट्ट भए रहसहि। क हसे हरसे रुण्ड सासह जहि ख० हसि हाथ शिर दर ण पइसैहिं।
४. ख० मिशमिल।

कभी कच्चे मांस का भोजन करते। मदिरा से आँखें लाल हो जातीं। आधे दिन में बीस योजन दौड़ जाते, बगल में रखी रोटी पर दिन काट देते। कमान पर बलक नामक दोमुँहा तीर रखकर शत्रु के निशाने को काट देते। पहाड़ पर भी घोड़े दौड़ाते रहते। गाय और ब्राह्मण की हत्या में कोई दोष नहीं मानते। शत्रु नगर की नारियों को बन्द (बन्दी) करके ले आते। हर्ष से भरा हुआ तुर्क आता, पर अचानक नाराज़ हो जाता और अपने नीचे के दूसरे सैनिकों को एक साथ सैकड़ों हुक्म सुना देता। और वे कैसे जंगली-जैसे दिखाई पड़ते, गोरू मारकर विसमिल्ला करके खा जाते।८७।

७७. कादम्बरी = शराब।

८०. इस पंक्ति का अर्थ अब भी बहुत स्पष्ट नहीं है। वेलक दो मुँहा तीर होता था, कमान टूट जाने पर वेलक से काट कर उसे फिर ठीक कर लेते, यह भी अर्थ हो सकता है।

८५. सहसहि <सहसा = वेग से। अचानक। रुट्ट <रुष्ठ। डॉ० अग्रवाल ने सह सहि का अर्थ किया है—साथ ही आज्ञा सुना देता। आज्ञा का धात्वादेश सह = हुक्म देना। [पासद्द० ११०९]

दोहा

अरु धागड़ कटकहिं लटक वड जे दिसि धाड़े जाथि ॥८८॥
तं दिसकेरी रायघर तरुणी हट्ट विकाथि[1] ॥८९॥

माणवहला छन्द

सावर एक हों कतन्हि का हाथ ॥९०॥
वेत्थल कोत्थल[2] वेढल भाथ ॥९१॥
दूर दुग्गम आग जारथि ॥९२॥
नारि विभालि[3] बालक मारथि ॥९३॥
लूडि[4] अरजन पेटे वए ॥९४॥
अन्याजे वृद्धि कन्दल खए[5] ॥९५॥
न दीनक दया न सकता क डर ॥९६॥
न वासि सम्वर न विआहीं घर ॥९७॥
न पाप क गरहा न पुन्यक काज ॥९८॥
न शत्रु क शंका न मित्र क लाज ॥९९॥

१. ख० हाट विकाहिं। स्तं० विकाए।
२. ख० चेथरा कोथरा। स्तं० वेथ लाए, कोथलाए वेटल भाथ। क० चथइजे कोथइजे बेढल माथ।
३. क० विमारि।
४. स्तं० लूलि।
५. स्तं० अस्पाए वृद्धि कंदले। ख० कंदर।

दोहा—उस बड़ी सेना में न जाने कितने धाँगड़ (जंगली) थे। वे जिस दिशा में धावा (धाड़) मारते उस दिशा में राजाओं के घर की औरतें बाजार में बिकने लगतीं।

माणवहला छन्द—कितनों के हाथ में एक-एक कुन्त था। बड़े-बड़े थैलों में तरकश ढँका रहता। दूर-दुर्गम जाकर आग से (गाँव-नगर) जलाते थे। औरतों को छोड़कर (व्याहते) बच्चों को मारते थे। लूट से ही

उनका अर्जन होता, और उसी से पेट का काम चलता। अन्याय की वृद्धि होती, युद्ध से लोगों का क्षय होता। न तो ग़रीब के प्रति दया दिखाते न शक्तिमान से भय। न तो उनके पास रास्ते के लिये कोई सम्बल था न तो उनके घर कोई व्याहता थी। न तो पाप के प्रति निन्दा का भाव था, न तो कोई पुण्य का कार्य; न तो शत्रु की शंका, न तो मित्र की लज्जा।

८८. धागड़ = जंगली जाति। कटक = सेना॥ जंगली जातियों की सेना। लटक = मुख्य सेना की लटकन यानी अनियमित सेना। धाड़े = धावा।

८९. बिकाथि = विकतीं थी।

९०. साबर = वर्छा, कुन्त। चोर की सबरी कही जाती है। शर्वल 7 सब्वल 7 साबर।

९१. वेत्थल कोत्थल वेढल भाथ—डॉ० अग्रवाल ने इसे ही शुद्ध पाठ मानकर अर्थ किया है:—विस्तृत थैलों में भाथ ढँका था। वेत्थल <विथ्थल <विस्तृत। कोत्थल = कोथली, थैला। भाथ = तर्कश। पुनि न धरहुँ धनु भाथ (मानस)।

९३. विभालि ∠ विह्वल = सिर्फ़ दुःखी करके छोड़ देते।

९४. लूडि = लूट। वए ∠ व्यय।

९५. कन्दल = युद्ध। खए ∠ क्षय।

९८. गरहा ∠ गर्ह्य = घृणित।

न थीर वचन न थोड़े ग्रास ॥१००॥
न जसे लोभ न अपअस त्रास ॥१०१॥
न शुद्ध हृदय न साधुक संग ॥१०२॥
न पिउँवा उपसजो न जुझवा भंग[3] ॥१०३॥

दोहा

ऐसो कटकहि लटक वड[3] जाइते देषिअ वहूत ॥१०४॥
भोअरा भक्खरा[6] छाड़ नहिं गमरो न हों परिभूत ॥१०५॥
ता पाछे आवत्त हुअ हिन्दू दल गमनेन ॥१०६॥
राआ गराए न पारिअइ राउत लेष्खइ केन ॥१०७॥

पुमानरो छन्द

दिगन्तर राआ सेवा आआ ते कटकाजी जाहीं ॥१०८॥
निज निज धअ[5] गव्वे संगर भव्वे पुहमी नाहि समाहीं ॥१०९॥

राउत्ता पुत्ता[६] चलइ वहुत्ता पअ भरे मेइणि कम्पा ॥११०॥
पत्तापे चिह्ने भिन्ने-भिन्ने धूली रह रह झम्पा ॥१११॥

१. क० न थोर वचव न थोड़ ग्रास।
२. ख० न पिउँवा उपसंग न जुझवा भंग।
३. ख० ऐसन लटकहिं कटक गण।
४. स्तं० भरखण।
५. स्तं० निअ निअ धअ। क० निज निज धन। ६. ख० राउत पाइक्का।
७. स्तं० रवि रह झंपा।

उनके वचन स्थिर (संयमित) नहीं थे, न आहार ही संयमित। न यश का लोभ था न अपयश का भय। न तो वे शुद्ध हृदय के थे न तो सज्जनों का साथ ही करते थे। न तो शराब पीने से तृप्त होते और न युद्ध से भागते ही थे। इस तरह की सेना के साथ बहुत-सी लटकन सेना यानी अनियमित जंगली लोगों की टुकड़ियाँ चली जा रही थीं। जिनका भोजन भक्षण कभी न रुकता और वे चलने में थकते भी नहीं।१०५।

उसके पीछे हिन्दुओं की सेना आ रही थी। राजा लोगों की कोई गिनती न थी, राउतों की बात ही क्या?

पुमानरी छन्द—दिगन्तर के राजे जो सेवा करने आये थे, फौज के साथ चल रहे थे। अपने स्वामी के गर्व और युद्ध के उत्साह के कारण वे पृथ्वी में समाते न थे। अनेक राजपुत्र सेना में चल रहे थे। जिनके पैरों के भार से पृथ्वी काँप रही थी। उनके अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न झंडे थे जो रह-रहकर धूलि से ढँक जाते थे।

१००. थीर <स्थिर। थोड़े <थोड ∠थो + ड ∠स्तोक।

१०२. पिउँवा = पान। देखिए कीर्तिलता की संजीवनी टीका शीर्षक निबन्ध। उपसओ ∠उपशम = शान्त, तृप्त।

१०७. पारिअइ = सकना, सम्भव होना। गणए न पारिअइ। गणना सम्भव नहीं। जत देखल तत कहए न पारिअ (पद० २१६)।

१०७. लेष्खइ केन = किससे लेखित हो सकते हैं। कौन गिन सकता है। मोर लेखे समुदक पार (पद० १५९) मेरे हिसाब से।

१०६. धअ ∠धव = स्वामी।

१११. रह-रह = रह-रहकर। स्तं० पाठ का रवि शुद्ध पाठ माने तो अर्थ होगा झंडे भिन्न-भिन्न थे, और सूरज धूल में छिप रहा था।

जोअण्णा[1] धावहिं तुरग नचावहिं बोलहिं गाढिम बोला ॥११२॥
लोहित पित सामर लहिअउँ चामर सबणहिं कुण्डल डोला[2] ॥११३॥
आवत्त विवत्ते पअ परिवत्ते[3] जुग परिवत्तन भाना ॥११४॥
घन तबल निसाने सुनिअ न काने साणे बुझावइ आना[4] ॥११५॥
वेसरि अरु गद्दह लष्ख वरद्दह इडिका[5] महिसा कोटी ॥११६॥
असवार चलन्ते पाअ घलन्ते पुहवी भए जा छोटी ॥११७॥
पीछे जे पडिआ ते लडखडिआ[6] वइठहिं ठामहिं ठामा ॥११८॥
गोहण नहिं पावहिं, वथ्थु नचावहिं भूखल भवहिं गुलामा[7] ॥११९॥

१. क० जोअण्डा।
२. स्तं० सुवर्णाहिं कुण्डल डोला।
३. स्तं० पय परिवत्तण। ह्व० आवत्र निवट्टे।
४. स्तं० अण तरल निसाणे सुनिअ न काणे साणे हक्कारिअ आणा।
५. स्तं० लक्ख वलद्दह इडिका महिसा। ख० इर्डाका महीसा कोटी।
६. स्तं० नलखलिअउ।
७. स्तं० भूखहि भूलक।

युवक सैनिक घोड़ों को दौड़ाते और नचाते, कर्कश आवाज़ में बातें करते। लाल, पीले, श्यामल, चँवर उनके ऊपर ढाले जा रहे थे और उनके कानों में हिल रहे थे। आगे पीछे गोलाई में घूमने से जब उनके पैरों का परिवर्तन होता तो लगता जैसे युग-परिवर्तन हो रहा है। बहुत से नगाड़ों की आवाज़ के कारण कुछ सुनाई नहीं पड़ता, इशारों से आज्ञा दी जाती थी। खच्चर, गदहे, बैल लाखों की तादाद में थे, भेड़ और भैंसे तो करोड़ों थे। असवारों के चलने से, पद-प्रहार से, पृथ्वी छोटी होती जा रही थी। जो पीछे रह गए वे लड़खड़ा कर गिर गए, स्थान-स्थान पर बैठते चलते थे। साथ न पकड़ पाने से वे भूखे हुए गुलाम व्यर्थ इधर-उधर भूल कर घूमते रहते।

११२. जोअण्णा < जोआन < युवान्। = युवक। गाढिम = गाढ़, तेज।
११४. आवत्त विवत्ते पअ परिवत्ते = आवर्त विवर्त पद परिवर्तन। आगे पीछे चक्राकार घूमने से, पद परिवर्तन करते समय।

११५. साने बुझावइ—सान बुझाना। इशारे से कहना।
साने कोने आवे बुझए बोल (पद० १२०)। आणा <आज्ञा।
[हेम० ८।२।८३]

११६. इडिका = भेड़।

११९. गोहन = साथ। गौहणि लाग्या जाइ (कबीर) **तेहि गोहन सिंहल पद्मिनी** [पदमा० ४१०।७]
बथ्थु <व्यर्थ। = घूमते हैं।

तुलकन्हि के फौंदे हउद्दे[1] हउद्दे चप्परि चौदिस भूमी ॥ १२०॥
अउताक धरन्ते कलह करन्ते हिन्दू उतरथि भूमी[2] ॥१२१॥
अस पष एकचोई गणिअ न होइ सरईचा[3] सर-माणा ॥१२२॥
वारिग्गह मण्डल दिग आखण्डल पट्टन[4] परिठम माणा ॥१२३॥

छपद

जखणे चलिअ सुरतान लेख परिसेष जान को ॥१२४॥
धरणि तेअ सम्बरिअ अट्ठ दिगपाल कट्ठ[5] हो ॥१२५॥
धरणि धूल अन्धार, छोड्ड पेअसि पिअ हेरब ॥१२६॥
इन्द चन्द आभास कवन परि एहु समय पेल्लब[6] ॥१२७॥
कन्तार दुग्ग दल दमसि कहुँ खोणि खुन्द पअ भार भरे ॥१२८॥
हरिशंकर तनु एक रहु वम्भ हीअ डगमगिअ डरे[7] ॥१२९॥
महिस उंठु मनुसाए[8] धाए असवारहिं मारिअ ॥१३०॥
हरिण हारि हल वेग धरए करे पाइक पारिअ ॥१३१॥
तरसि रहिअ सस मूस उड्डि[9] आकास पष्खि[10] जा ॥१३२॥
एहु पाए दरमणिअ ओहु सैच्चान[11] खेदि खा ॥१३३॥
इवराहिम साह पआनओ जं जं सेना सञ्चरइ ॥१३४॥
खोणि खेदि खुन्दि घिसि मारइ[12] जीवहु जन्तु न उब्बरइ ॥१३५॥

१. स्तं० हौदें हौदें।
२. स्तं० अलुता जे धरन्ते कइल करन्ते हिन्दू उतर थि घूमी।
३. स्तं० सरइधा।
४. ख० पुहुमी।
५. स्तं० तेज संवरिभ अठ दिगपाल कठ हो।

६. क० कमन परिएह समय पेल्लव । ख्तं० समय पेलव ।
७. ख्तं० वंभ हियउ ।
८. ख० अगिराए ।
९. ख्तं० उट्टि ।
१०. ख० मूस पेखि । आकाश उड़िजा ।
११. ख्तं० पाअ दरमक्रिय वोहु सघाण ।
१२. क० धसि परइ । ख० धरि मारि अै ।

तुर्कों की फौजों ने चतुर्दिक भूमि को दबा दिया, चारों तरफ हौदे ही हौदे दिखाई पड़ते । घबड़ा कर, लड़ते-झगड़ते हिन्दू युद्धभूमि में आ रहे थे । आस-पास में लगे हुए एकचोई, सरइचा और सरमाण तम्बुओं की गिनती नहीं हो सकती थी । वारगाह और मण्डल नामक तम्बुओं से पूरब दिशा में एक नया नगर-सा बसा हुआ लग रहा था ।

छपद—जिस समय सुलतान चले, उस समय का वर्णन कौन करे या उस समय की गणना कौन बताए । सूर्य ने अपना प्रकाश संवृत कर लिया । आठों दिग्पालों को कष्ट हुआ । धरणी पर धूल से अन्धकार छा गया । प्रेयसि ने प्रिय को देखा कि सूर्य इस समय चन्द्रमा के समान कोमल-मंद कैसे लग रहा है ! जंगल, दुर्ग को दल ने तहस-नहस कर दिया तथा पद-भार से पृथ्वी को खोद दिया । हरि और शंकर का शरीर एक में मिल गया । ब्रह्मा का हृदय डर से डगडमा उठा ।

भैंसे-क्रोध करके उठे और दौड़कर असवारों को मारने लगे । हरिण हार कर गति छोड़ रहे थे, जिससे पैदल सिपाही भी उसे हाथ से पकड़ सकता था । खरगोश और मूसक डर रहे थे । पक्षी आकाश में उड़े जा रहे थे । किन्तु नीचे यदि खरगोश और चूहे पाँव से दलित हो जाते तो ऊपर पक्षियों को बाज खेद कर खा जाता यानी धरती गगन में कहीं भी रक्षा संभव न थी ।

---

१२१. अउताक=अगुता कर, जल्दी-जल्दी किसी काम को करने की क्रिया । उकताना । आकुल (हिन्दी शब्द सागर) अगुताना ।

१२२. अस पस=आश्र्व, पार्श्व । इधर-उधर । एकचोई—तम्बुओं का एक भेद । सरइचा, सरमाणा भी तम्बुओं के ही भेद हैं । एकचोई एकचोवी तम्बू । सरइचा सराचा (दे० वर्णरत्नाकर) । बारिगाह भी तम्बू को ही कहते हैं । वस्त्र के बने छोटे घेरेदार तम्बू को मंडल कहा जाता है ।

१२३. परिठम = प्रतिष्ठा। भाणा = भान होता था।

१२५. अट्ठ < अष्ट। कट्ठ < कष्ट।

१२७. इन्द्र = सूर्य ! पेलव = कोमल, मंद।

१२८. कन्तार < कान्तार = जंगल। दुग्ग < दुर्ग। दमसि = नष्ट करके। खोणि < क्षोणि = पृथ्वी। खुन्द = खूँदना। खोदना।

१३१. हल = चाल। पाइक < पदातिक। पैदल सैनिक।

१३२. तरसि = त्रास।

१३३. दरमणिअ < मर्दित।

१३५. उव्वरइ = बचता है। < उव्वरिअ (हेम० ४।३७९)

गद्य

एवञ्च दूर दीपान्तर राअन्हि करो निद्रा हरन्ते ॥१३६॥
दल विहल चूरि चोपल करन्ते[1] [गिरि गह्वर गोहन्ते[2]] ॥१३७॥
सिकार खेलन्ते, तीर मेलन्ते वन विहार जल कीडा करन्ते[3] ॥१३८॥
मधुपान बसन्तोत्सव करी परिपाटी राज्य सुख अनुभवन्ते ॥१३९॥
[परदप्प भमि भंजन्ते[4]] वाट सन्तरि तिरहुत पइठ, तकत ॥१४०॥
चढ़ि सुरतान बइठि ॥१४१॥

दोहा

दूहु कहाणी[5] सुनिए कहुँ तं खड़े भौ फरमाण ॥१४२॥
केन पआरें निरगहिअ वड़ समत्थ असलान ॥१४३॥

१. स्तं० ठुलि। क० चूरि चोपल करन्ते। ख० दरि विहड़ चूरि चाप करन्ते।

२. केवल ख प्रति में प्राप्त।

३. जल-करन्ते स्तं० में नहीं है। ख में पूरी पंक्ति नहीं है।

४. केवल ख में।

५. क० दुहु केआनी सुनि कहु। ख० दुणौ कहानी।

६. स्तं० रे निबसिअउ। क० केन पआरे निवसि उडँ

गद्य—इस तरह दीप-दीपान्तर के राजाओं की निन्द्रा का हरण करते हुए दलों को (सैन्यदलों की) चूर्ण करके चौपट करते हुए, पहाड़ों और गुफाओं को

ढूँढ़ते हुए, शिकार खेलते हुए, तीरन्दाजी करते हुए, वन-विहार और जल-क्रीड़ा करते हुए, मधुपान और रत्योत्सव की रीतियों का पालन करके राज्य-सुखों का अनुभव करते हुए, शत्रु के दर्प को भंग करते हुए, रास्ता पार करके, तिरहुत की सीमा में प्रविष्ट होकर, सुल्तान तख्त पर बैठे। १४१

दोहा—दोनों ओर का हालचाल जानकर उसी समय सुलतान ने फरमान दिया कि असलान काफ़ी समर्थ है। उसे किस प्रकार गिरफ़्तार किया जाय।

---

१३६. राअन्हि करो = राजाओं की। हरते = हरन्ते हुए। नींद हराम करते हुए।

१३७. दल = पर सेना। विहल = विह्वल, वेहाल। चूरि चोपल = चूर चौपट करते हुए। गोहन्ते = साथ लगना, या ढूँढ़ना।

१३८. वन विहार, जलक्रीडा, मधुपान रतोत्सव (स्तं० रतेसव, क० वसन्तोत्सव) आदि सेनाओं के प्रयाण के समय की परिपाटी थी। यानी सैनिकों को युद्ध में सम्मिलित होने के पहले यह सब आनन्दोत्सव मनाने को छूट थी। मध्यकालीन काव्यों में अनेक स्थानों पर सेना प्रयाण के समय वन विहार, मधुपान, नृत्य-गीत आदि के संयोजन का वर्णन मिलता है।

१४०. परदप्प भमि भंजन्ते = शत्रु के भ्रान्त दर्प को तोड़ते हुए। या शत्रु के दर्प और भूमि को नष्ट करते हुए। वाट सन्तरि = रास्ता पार करके। पइठ ∠ प्रविष्ठ। तकत ∠ तख्त। वइठि ∠ उपविष्ट।

१४२. कहाणी = वार्ता, हालचाल। भो ∠ भउ ∠ भूत। हुआ।

१४३. पआरें ∠ प्रकार। निरगहि ∠ निग्रह। स्तं० तीर्थ में पाठ है निरसियउ = निरस्त किया जाये। पराजित किया जाये।

रड्डा

तो पअप्पइ कित्तिभूपाल ॥१४४॥
कि कुमत्त पहु करिअ हीण वयण का समय जल्पिअ[२] ॥१४५॥
की पर सेना गुणिअ, काइं सत्त सामथ्य[३] कथिअ ॥१४६॥
सव्वउं देषवउं पिट्ठि चडि[४] हओ लावओ रण भाण ॥१४७॥
पाषरें पाषरें ठेल्लि कहुँ पकलि देओ[५] असलाण ॥१४८॥

छपद

अज्ज वैरि उद्धरओ सत्तु जइ संगर आवइ ॥१४९॥
जइ तसु पष्ख सवष्ख इन्द अप्पन वल[६] लावइ ॥१५०॥

जइ ता रष्खइ शम्भु अवर हरि वंभ सहित भइ ॥१५१॥
फणिवइ लागु गोहारि चाप जमराज कोप कइ १५२॥
असलान जे मारञो तिल हुमञो तासु रुहिर लइ देञो पा ॥१५३॥
अवसान[9] समय निञ जीव धके जै नहिं पिट्ठ देषाए जा ॥१५४॥

१. क० स्तं० पअंपई। ख० पहिओ।
२. क० अप्पिअ। ख० जम्पिइ।
३. स्तं० काइं सत्तु सामह्य कोपिअ।
४. स्तं० चलि।
५. स्तं मारि देञो।
६. स्तं० अस्पष्ट।
७. इन्द अप्पन रण लावइ।
८. स्तं० जे मारक तिल हु मञि तासु रहिर नइ दञो पा। क० असलानजे मारञो तञो हुअञो तासु रुहिर लइ।
९. स्तं० अवसान। क० अपयान।

रड्डा—तब राजा कीर्त्तिसिंह बोले, स्वामी आप यह क्या कुमंत्र सोचने लगे? ऐसे समय में आप को ये हीन बातें करनी चाहिए? शत्रु सेना की क्या प्रशंसा करते हैं? क्यों शत्रु की सामर्थ्य का बखान करते हैं? सभी लोगों के देखते मैं उसकी पीठ पर चढ़कर उस युद्धप्रिय व्यक्ति को पकड़ लाऊँगा। मैं उसे पलान कसे घोड़े से ठेल कर गिरफ़्तार कर लाऊँगा।

छपद—आज वैर का बदला लूँगा, यदि शत्रु संग्राम में आ जाए। यदि उसके पक्ष से इन्द्र भी अपना बल लेकर आए। यदि उसकी रक्षा के लिए विष्णु और ब्रह्मा के साथ शंकर ही तैयार क्यों न हों! शेषनाग उसकी दुहाई पर गोहार में भले ही आवें उसकी ओर होकर यमराज भी क्रुद्ध होकर आयें। तो भी मैं आज उसकी हत्या कर उसके रुधिर से (पिता के) चरणों में तिलांजलि दूँगा। यदि वह अन्त समय जीव लेकर पीठ दिखाकर भाग न जाए।

---

१४४. पअंपई < पजंपइ < प्रजल्प् = कहते हैं।
१४७. रण भाण = रण भाजन। भाण < भाअण < भाजन। अथवा जिसे युद्ध का भान है, युद्धबुद्धि। स्तं० तीर्थके टीकाकार के मत से अर्थ 'युद्धबुद्धि'

है। विचार या भाव के अर्थ में पदावली में भी मान का प्रयोग मिलता है। **ऐसन उपजु मोहि माने** [पद २६५]

१४८. पाषरें पाषरें ठेल्लि कहुँ—पाषर < पक्खर = कवच, घोड़े और सैनिक दोनों के कवच के लिए प्रयुक्त होता है। कीर्ति सिंह कह रहे हैं कि कवच से कवच लड़ाकर मैं उसे पकड़ लूँगा।

१५२. लागु गोहारि = गोहार लगना = किसी के पक्ष में होकर युद्ध करने आना अथवा किसी की दुहाई देना, पुकारना। **लागहिँ तओ गोहारि** (५५० पद)

१५४. जीव धके—जीव धर के, पकड़ के। जीव लेकर। इसी का रूप पदावली में धए के भी मिलता है। **धके कि केओ कुइ विपाक** [२९३]
संभु अधोगति धए समाधि (पद ५००)
जीवधके का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने जी = प्राण + धके = वधक किया है।

दोहा

तव फरमाणहि वाँचिअइ सएल हसम को सार[1] ॥१५५॥
कित्ति सिंह के पूरनहिं[2] *सेना करिअउ पार* ॥१५६॥

रोला छन्द

पैरि तुरंगम भेलिपार गण्डक का पाणी[3] ॥१५७॥
पर वल भंजन गरुअ महमद मगानी[4] ॥१५८॥
अह असलाने फौंदे फौंदे[5] *निज सेना सज्जिअ* ॥१५९॥
भेरी काहल ढोल तवल रण तूरा वज्जिअ ॥१६०॥
राए पुरहिं का पुव्व षेत पहरा दुइ बेरा ॥१६१॥
बेवि सेन सङ्कट मेल वाजल[6] *भट भेरा* ॥१६२॥
पाओ पहारे पुहुवि कप्प गिरि सेहर टुट्टइ ॥१६३॥
पलय विट्ठि सओ पडइ कौंढ पटवारण[7] *फुट्टइ* ॥१६४॥

१. स्तं० स अण हसम को सार।
२. स्तं० रा पूरनहि।
३. स्तं० तुरंगय पार होथि गंडक के पानी। ख० पँवरि तुरंगम भेलि गंडक के पाणी।
४. स्तं० मलिक महिमद मगानी। क० पर वल भंजन गरुअ महमद मदगामी।

५. स्तं० असवारें फउदे फउदें । ख ठाव ठाँव ।
६. शा० क० भेंटे, वाजन ।
७. स्तं० काण्ड पटवालन । शा० क० पटवालह ।

तब सारी सेना को बुलाकर फरमान हुआ कि कीर्ति सिंह के कार्य को पूरा करने के लिए सेना को पार करो। शत्रु बल को नष्ट करने वाले मलिक मुहम्मद इब्राहीम ने घोड़े पर तैरकर गंडक को पार किया। और असलान ने भी अपनी सेना की सभी टुकड़ियों को सजाया। भेरी, काहल, ढोल, नगाड़े, रण-तूर्य बज उठे। राजधानी के पूरब मध्याह्नवेला में दोनों सेनाओं का संघर्ष हुआ। योद्धाओं की भिड़न्त हुई। पद-प्रहार से पृथ्वी काँप उठी। गिरिशिखर टूटकर गिरने लगे। प्रलय-वृष्टि की तरह बाण-वर्षा होने लगी। कवच फूटने लगे।

१५५. सएल ∠ सकल। हसम ∠ हश्म = सेना। सार = पुकार कर। सार ∠ सारि ∠ स्वर + पूर्वकालिक।

१५८. महमद् मगानी – डॉ० अग्रवाल के अनुसार मगानी शब्द मकानी से बना है। जिसका अर्थ है शान-शौकत वाला। मलका-मकानी आदि।

१६०. भेरी, काहल, ढोल, तबल और रण तूर ये पाँच युद्ध वाद्य हैं। इनका प्रयोग मध्यकालीन साहित्य में रूढ़िवत् होता है। रासो में "नाद सुरपंच बजत दिन" (पद्मावती समय, ३) आता है। रस-रतन में इनकी सूची गिनाई गई है :—

संष सहनाइ करतार तूरं। मिलि सब्द आकास पाताल पूरं।
वंब बाजि घन घोर नादं। सब्द मिलि पंच बाजंत नादं॥

बाण ने हर्षचरित में शंख, काहल, गुंजा, नान्दोक और पटह का जिक्र किया है। विद्यापति भेरी, काहल (तुरही) ढोल, तबल (नगाड़ा) और रण-तूर्य का उल्लेख करते हैं।

१६२. बाजल = लड़ा। भट भेरा = योद्धा भिड़े।

१६४. काँड ∠ काण्ड = बाण। पटवारण = कवच।

वीर हुकारें होंइ आगु रोवंचित्र अंगे[१] *॥ १६५ ॥*
चौदिस चकमक चमक्क[२] *होइ खग्गग्ग तरंगे ॥ १६६ ॥*
तोरि तुरय असवार धाए पइसथि पर[३] *जुत्थे ॥ १६७ ॥*
मत्त मतङ्गज पाछु होथ फरिआइत सत्थे[४] *॥ १६८ ॥*
सिंगिणि गुण टङ्कार भार[५] *नह मण्डल पूरइ ॥ १६९ ॥*

पाषर उड्डइ फौंदे फौंदे पर चक्कह चूरइ ॥ १७० ॥
तामसें वड्ढइ वीर-दप्प विक्कम गुण चारी ॥ १७१ ॥
सरमहु केरा सरम गेल सरमेरा मारी[6] ॥ १७२ ॥

दोहा

चौपट मेइनि भेट[7] हो वलइ कंड कोदण्ड[8] ॥ १७३ ॥
चोट उपटि पटवार दे थेघ दण्ड भुज दण्ड ॥१७४ ॥

१. स्तं० वीर रे कारे आगु होथि रोमांचिय अड़े । क० वीर वेकारे आगु हो अथि रोमांचिम्र अंगे ।
२. स्तं० चेजे ।
३. क० परयुत्थे ।
४. स्तं० फइग्राइत हूथे ।
५. स्तं० सिंगिण गुण टंकार भारे । शा० क० भाव ।
६. क० सरमेरा मारी । स्तं० सरमेरा मारी । ख० सारी ।
७. स्तं० भेट ।
८. स्तं० कंड कोदंड ।

वीर-हुंकार करके आगे बढ़ जाते थे, अंग में रोमांच हो आता था। चारों ओर तलवारों की धार से चकमक चमक हो रही थी। फिर भी घुड़सवार शत्रुओं के झुण्ड में दौड़कर घुस जाते। फरकवाहियों के साथ ही मतवाले हाथी पीछे हट जाते। सिंगीनियों के टंकार-भार से आकाश-मण्डल पूर्ण हो गया। कवच युक्त, अश्व सेना की टुकड़ियाँ एक दूसरे के व्यूह को चूर-चूर कर देतीं। विक्रम-गुण से भरे वीरों का दर्प क्रोध से बढ़ने लगा। इस विकट युद्ध में शर्म-हया वाले भी शर्म खोकर कुवाच्य बोलने लगे।

कोदण्ड से वाण छूटते ही सैनिक पृथ्वी पर चारो खाने चित्त गिर जाते। ऊपर से उनका कवच और चोट दे देता। वे बाहुओं की थूनी पर अपने को सँभालने की कोशिश करते।

---

१६५. होहिं आगु=आगे हो जाते। बढ़ चलते।

१६७. तोरि=टूट कर। अपनी पंक्ति से निकलकर। पइसथि = प्रवेश करते। पर जुत्थे=शत्रु यूथ में।

१६८. फरक अस्त्र लेकर चलने वाले पैदल सैनिक हाथियों के पीछे-पीछे चलते थे किन्तु जब घुड़सवार सेनाएँ हाथियों पर आक्रमण करतीं तो हाथी पीछे हटते और उनके साथ ही फरकवाही भी पीछे हट जाते।

१६९. सिंगिणि = धनुष। गुण = डोरी।

१७०. पाषर = अश्व सेना। हौदे हौदे = टुकड़ी पर टुकड़ी के क्रम से उमड़ती। पर चक्कह = शत्रु चक्र। शत्रु के घेरे को। चूरइ = चूर्ण कर देती।

१७१. विक्कम गुण चारी = पराक्रम वाले भी। वीरदप्प = वीर-दर्प के कारण। तामसें वड्ढइ = क्रोधित हो जाते।

१७२. सरमहु = शर्म की भी शर्म चली गई। सरमेरा मारी = सर कटन्त युद्ध में। उस गर्दनकाट लड़ाई में।

१७३. चौपट भेइनि भेंट हो = चारो खाने चित्त होकर पृथ्वी को भेंटने लगते। वलइ कंड कोदंड = कंड (बाण) कोदंड (धनुष से) बलइ (छूटना, जाना पासद्द ७४०)।

१७४. उपटि = उछल कर, उलट कर। थेघ = ठेधा = थूनी (दे० कीर्ति० ४।१९)।

विदुम्माला छन्द

हुँकारे वीरा गज्जन्ता पाइक्का चक्का भज्जन्ता ॥१७५॥
धावन्ते धारा टुट्टन्ता[1] सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता ॥१७६॥
राउत्ता रोसं लग्गीआ[2] खग्गहीं खग्गा भग्गीआ ॥१७७॥
आरुट्टा[3] सूरा आवन्ता उम्मग्गे मग्गे धावन्ता[4] ॥१७८॥
एकक्के एक्के[5] भेटन्ता परारी लच्छी मेटन्ता ॥१७९॥
अप्पा नामाना सारन्ता वेलक्के सत्तू मारन्ता ॥१८०॥
ओआरे पारे[6] बूझन्ता कोहाणे ठाणा जूझन्ता ॥१८१॥

छपद

दुहुँदिस पाखर उँठ माँझ सङ्गाम भेट हो[7] ॥१८२॥
खग्गे खग्गे सङ्कलिअ[8] फुलग उप्फलइ अग्गि को ॥१८३॥
अस्सवार असिधार तुरअ राउत सओ टुट्टइ ॥१८४॥
वेलक बज्ज निघात काअ कवचहु सओ फुट्टइ ॥१८५॥
अरि कुञ्जर पञ्जर सल्लि रह रुहिर चीक[2] गअ गगण भर ॥१८६॥
रा कित्तिसिंह को कज्ज रसें वीरसिंह संगाम कर ॥१८७॥

१. स्तं० दुहन्ता ।
२. स्तं० राउत्ता उत्ता रोसें रूग्गिआ ।
३. स्तं० रुट्ठा ।
४. ख० उमग्गा मग्गा पेलंता, संगामे खेडी खेलन्ता ।
५. स्तं० रंगे ।
६. उ आटा पाट बुजन्ता । क० अओ अवारा परा वुज्झन्ता ।
७. ख० दुहु दिस वज्जण वज्ज मास संगाम खेत हो ।
८. स्तं० संहलिय ।
९. स्तं० सञ्जि जा रुहिर चौंकि गए गगन भर । ख० रुहिर धार ।

विदुम्माला छन्द—हुँकार करके वीर गरज रहे थे। पैदल सेना के चक्र-व्यूहों को तोड़ रहे थे । दौड़ते हुए घोड़ों की पंक्तियाँ टूट जाती थीं । वाण से कवच फट जाते थे । राजपुत्र रोष से तलवारों से जूझ रहे थे । आरुष्ट वीर आ रहे थे, और इधर-उधर दौड़ रहे थे । एक एक से लड़ रहे थे, शत्रु को लक्ष्मी का नाश कर रहे थे । अपने नाम का गर्व से उच्चारण करते हुए बेलक फेंककर शत्रु को मारते थे। योद्धा आर-पार इस युद्ध को समझते। क्रुद्ध होकर भिन्न-भिन्न स्थान या मुद्राओं से युद्ध करने लगते थे ।

छपद्—दोनो ओर से घुड़सवार सेनायें चलती थीं, बीच युद्धस्थल में भेंट हो जाती । खंग से खंग टकरा जाते । अग्नि के स्फुलिङ्ग फूट पड़ते थे । घुड़सवारों की तलवार की धार से राउत घोड़े के साथ कट जाता था । वेलक के वज्रप्रहार से शरीर कवच के साथ फूट जाता था । शत्रुओं के हाथियों के शरीर में चुभे वाण साल रहे थे । रुधिर की धार से गगन भर गया, कीर्तिसिंह के कार्य के लिए वीरसिंह संग्राम करते हैं । १८७ ।

१७५. पाइक्का चक्का = पदातिक (पैदल) सैनिकों के चक्र । कालम्स ।
१७६. धारा – पंक्तिबद्ध चाल । टूटत्ता = बिखर जाते ।
१७८. आरुट्ठा < आरुष्ठ = क्रुद्ध । उमग्गे < उमंग ।
१७९. भेटन्ता = भिड़ रहे थे । परारी = पराई [देखिए कीर्ति० २।१९१]
मेटन्ता = मिटाते थे । विनष्ट करते थे ।
१८०. सारन्ता = उच्चारण करते [देखिए की० ४।१५५] वेलक्के = वेलक-वाण । दोमुँहा तीर ।
१८१. ओ आरे-पारे-बूझन्त्ता = आर-पार समझते थे । सभी रहस्य जानते थे ।

ठाणा<स्थान। वैशाख, मंडल, समपद, आलीढ, प्रत्यालीढ आदि बाण चलाने की विभिन्न मुद्रायें या स्थान बताये गए हैं। [रघुवंश ३।५२; मल्लिनाथ की टीका]

१८२. पाखर उँठ – घुड़सवार सेना की टुकड़ियाँ चलीं।

१८३. संघलिअ=टकराना। <संघट्ट। फुलग<स्फुलिंग।
उप्फलइ<उप्फालइ (हेम० २।१७४<उप्फाइल) छिटकना, उड़ना।

१८६. सल्लि रह = सालता रहता। करकना। **सालय सर कनियार** [पद० सं० ५३५] कनीदार बाण सालता है।

१८६. चीक – धार। दबाव के कारण वेग से निकला हुआ द्रव पदार्थ; नसों के कटने से जो खून की वेगवती पतली धार उड़ती है।

१८७. रा<राजा।

रड्डा

धम्म पेष्खइ अवरु सुरुतान ॥ १८८ ॥
अन्तरिष्ख ओत्थविअ[1] इन्द्र चन्द सुर सिद्ध चारण ॥ १८९ ॥
विज्जाहर गाह भरिअ वीर जुज्झ देक्खह कारण ॥ १९० ॥
जहि जहिं संघल सत्तु घल तँहि तँहि पल तरवारि ॥ १९१ ॥
शोणित मज्जि[2]अ मेइनी कित्तिसिह करु[3] मारि ॥ १९२ ॥

भुजङ्ग प्रयात छन्द

पले रुण्ड मुण्डो खरो बाहु दण्डो[4] ॥ १९३ ॥
सिआरू कलंकेइ[5] कङ्काल खण्डो ॥ १९४ ॥
धरा धूरि लोट्टन्त टुट्टन्त काआ ॥ १९५ ॥
लरन्ता चलन्ता पझालन्त[6] पाआ ॥ १९६ ॥

१. स्तं० तुत्थरि अइ। शा० ओच्छवि अ।
२. क० शा० मज्जाजे।
३. स्त० कतु।
४. स्तं० तुं मुंडो खले बाहुदंडो।
५. क० कलं कोइ।
६. स्तं० पझाकन्त। क० पझालेन्ति।

रड्डा—यह युद्ध आकाश से धर्मराज देख रहे थे और पृथ्वी से सुलतान। इसे देखने के लिए इन्द्र, चन्द्र, सुर, सिद्ध और चारणों से आकाश छा गया। इन-इन वीरों का युद्ध देखने आए विद्याधरों से नभ भर गया। जहाँ-जहाँ शत्रुओं का सघन समूह एकत्र होता, वहीं कीर्तिसिंह की तलवार भी पड़ती थी। मेदनी शोणित में मज्जित हो गई, कीर्तिसिंह ने ऐसा युद्ध किया।

भुजंगप्रात—कहीं रुण्ड (कबन्ध) कहीं मुण्ड (सिर) पड़ा है। कहीं बाँहे ऊपर उठी हुई हैं। सियार कंकाल-खण्ड उकील रहे हैं। कटे हुए शरीर पृथ्वी पर धूल में लोट रहे हैं। लड़ने वालों के चलते समय पैर फँस जाते हैं।

१८९. ओत्थविअ <अवत्थिअ <अवस्तृत। आच्छादित।

१९०. विज्जाहर <विद्याधर। णह <नभ।

१९१. संघल <सघट्ट = भीड़, समूह। घल = घड् <घट् = होता था घटता था। पल <पड़ <पत् = गिरती थी।

१९३. खरो = खड़ा। घायल व्यक्तियों के गिरने से, या कबन्ध के कट कर गिरने से हाथ जुड़ कर खड़े रह जाते। इसे ही 'थेघ भुजदण्ड' पहले कहा जा चुका है। [कीर्ति० ४।१७४]।

१९४. सिआरू <शृंगाल। कलंकेइ = <कलंकयति। दाग़दार बनाते हैं। स्तं० टीकाकार—शृंगालेन कलंकितः कंकाल खण्डः।

१९६. लरन्ता = लड़ने वाले। सैनिकों के। चलन्ता = चलते हुए। पझालन्त = फँसा लेते हैं। पाआ = पाद। पैर। पझालन्त <वझालन्त = √बन्ध्। डा० अग्रवाल ने इस पंक्ति का अर्थ किया है—"विलासपूर्वक चलने वाली अप्सराओं के पैर से रक्त टपक रहा था। ललन्ता चलन्ता = विलासपूर्वक चलने वाली। पझालन्त < पज्झर <प्रक्षर् = गिरना।

अरुज्झाल अन्तावली जाल वद्धा ॥१९७॥
[1]वसा वेग वूडन्त उड्डन्त गिद्धा ॥१९८॥
गआ[2] णिकरन्तो पिवन्तो भमन्तो[3] ॥१९९॥
महामासु खण्डो परेतो वमन्तो[4] ॥२००॥
सिआ सार फेक्कार रोलं करन्तो ॥२०१॥
वुभुष्खा वहू डाकिनी डक्करन्तो ॥२०२॥
वहुफ्फाल[5] वेआल रोलं करन्तो ॥२०३॥

उलटट्टो पलट्टो कवन्धों पलन्तो[6] ॥२०४॥
सरोसाव[7] भिन्नो करे देइ सानो ॥२०५॥
उसस्से निसस्से विमुक्केइ पाणो ॥२०६॥
जहाँ रक्त कल्लोल ना ना तरङ्गो ॥२०७॥
वहाँ सारि सज्जो निमज्जो[8] मंयगो ॥२०८॥

१. स्तं० रसा।
२. ख० गया।
३. स्तं० गआ णिक्करन्तो पिवंतो भमन्तो। क. गअण्डी।
४. शा० क० मरन्तो।
४. स्तं० परंतो वमन्तो क. परन्तो मरन्तो शा० परेतो।
५. ख० मुहु फाल। स्तं० वहुप्फाल वे आल रोकन्तो।
६. स्तं० कवंधा पलत्तो।
७. ख० सराधार साती ने देइ साणं,। स्तं० सरासार। क० सरोमान।
८. स्तं० निसज्जो मअंगा।

उलझी हुई अँतड़ियों के जाल में आबद्ध गिद्ध फँस जाते हैं और चर्बी में डूबने डूबने को होते है कि उड़ जाते हैं। मरे हुए लोगों को निकाल कर प्रेत आनन्द से घूमता हुआ गाता हुआ, रक्त पीता है। मांस के भारी टुकड़े को खाने में असमर्थ होकर उगलता है। सियारिने चिल्लाती फेंकरती और शोर मचाती हैं और अनेक भूतनियाँ भूख से डकारें लेती हैं। लाशों को चीरते-फाड़ते वेतालों का झुण्ड शोर करता। कबन्धों को उलटता-पलटता और ठेल देता। रोष के साथ संकेत करते हुए वह घायलों को विदीर्ण कर देता है। साँस छोड़कर घायल प्राण छोड़ देते हैं। जहाँ रक्त की तरंगे कल्लोल करती थीं वहाँ हौदे से सजे हुए हाथी डूब जाते थे।

१९७. अरुज्झाल = अरुझन = उलझी हुई। अवरुद्ध > अरुज्झ = उलझी हुई अन्तावली < अंत्रावली = आतें।

१९८. वसा = चर्बी। वेग = प्रवाह। वूडन्त = डूबते हैं। उड्डन्त = उड़ते हैं।

१९९. गआ < गत = मरे हुए। णिक्करन्तो < निक्कमण < निष्क्रमण = निकलते।

२००. परेतो < प्रेत । वमन्तो = उगलते हैं । √वम् ।

२०१. सिआ < शिवा = शृंगालिने । सार < स्वर = चिल्लाती । फेक्कार = फेकरती । रोल < रोर < रव ।

२०२. वुहुष्वा < वुभुक्षा = भूखी । उक्करन्तो = उकारती हैं ।

२०३. वहुफ्फाल – पाटय् > फाड़ > फाल । चीरना – फाड़ना ।

२०४. पलन्तो = पल का अर्थ खाना भी होता है । पलन्तो = गिर जाता है । पलन्त < पडन्तो < √पत् ।

२०५. सरोसान < सरोषान = रोषयुक्त । देइ सानो = सान देना या बुझाना, संकेत करना । **साने कोने आवए बुझए बोल [पद १२०]**

२०६. उसस्से – निसस्से = उच्छ्वास, निश्वास । विमुक्केइ < विमुक्त ।

२०८. सारि सज्जो = होदे से सज्जित ।

छपद

रक्त क रॉंगल[1] माथ उफरि फेरवी फोरि खा[2] ॥ २०६ ॥
हाथे न उट्ठइ हाथि छाडि बेआल पाछु जा[3] ॥ २१० ॥
नर कवन्ध धरफलइ[4] मम्म बेआलह पेल्लइ ॥ २११ ॥
रुहिण तरङ्गिणि तीर भूतगण जरहरि[5] खेल्लइ ॥ २१२ ॥
उछलि उमरु डक्कार वर[6] सब दिसे डाकिन डक्करइ ॥२१३ ॥
नर कन्ध कवन्धे महि भरइ[7] कोत्तिसिंह रा रण करइ ॥ २१४ ॥

१. ख० करागत्र । स्तं० रकत क रॉंगल मांथ उपरि ।
२. ख० फेरि विफेरि खा ।
३. ख० पलटि ।
४. स्तं० नत्र कबंध धलपलइ । क० धरफलइ ।
५. शा० जरफरि ।
६. स्तं० उछलन डमरु डक्कार ।
७. स्तं० नर कंधर कबन्धे महि भरइ ।

छपद—रक्त रँगे सिर को सियारी धड़ से अलग करके फोड़-फोड़ कर खाने लगती है । हाथ से जब हाथी नहीं उठता तो बेताल उसको छोड़कर पीछे चल देता है । नर-कबन्ध जब तड़फड़ाते हैं, तो बेताल उनके मर्म को भेद देता

है। रुधिर की नदी के किनारे भूत लोग 'झिझरी' का खेल खेलते हैं। डमरू की डक्कार (आवाज़) जब उठती है, सब दिशाओं में डाकिनियाँ चिल्ला उठती हैं। कन्धे (शिर भाग) और कबन्धों से पृथ्वी भर गई। राजा कीर्तिसिंह युद्ध कर रहे हैं॥ २१४॥

२०६. राँगल = रँगा हुआ। उफरि < उफ्फालि < उत्पाट्य = उखाड़ कर। फेरवी = सियारिन। फोरि ∠ फोड़ < स्फोट = फोड़ कर।

२१.१ धरफलइ = झलमलाना, तड़पना। पेल्लइ < पेल्ल < पीड = दबाना, पीड़ना।

२१२. जरहरि = जलक्रीड़ा।

२१३. डक्कार – आवाज़। डक्करइ = डकारती हैं। डाक = आवाज़, शोर।

वेवि सेन संघट्ट खग्ग खंडल नहि मानहि[1] ॥ २१५ ॥
संगर पलइ सरीर धाए गए चलिअ विमानहिं[2] ॥ २१६ ॥
अन्तरिप्ख अछवारि विमल कए बीजए[3] *अंचल* ॥ २१७ ॥
भमर मनोभव भमइ पेम पिच्छल नयनाञ्चल[4] ॥ २१८ ॥
गन्धव्व गीति दुन्दुहिअ वर परिमल परिचय[5] *जान को* ॥२१९॥
वर कित्तिसिंह रण साहसहिं सुरअरु कुसुम सुविट्ठि हो ॥२२०॥

रड्डा

तब चिन्तइ मलिक असलान ॥ २२१ ॥
सव्व सेन मुहिं पलिअ पातिसाह कोहान आइअ[6] ॥ २२२ ॥
अनअ महातरु फलिअ दुट्ठ दैव महु निअर आइअ ॥ २२३ ॥
तो पल जीवन पलटि कहुँ थिर निम्मल जस लेओ ॥ २२४ ॥
कित्तिसिंह सओ सिंह जओ भट[1] *मेला एक देओ* ॥ २२५ ॥

१. ख० वेवि समाण संवट्ट।
२. स्तं० विमानहिं। क० विरानहिं।
३. स्तं० विमल कर वीजए। क० अछवारि""मल विज्जए।
४. स्तं० नयनांचल।
५. स्तं० परिमल परिचय।

६. ख० प्रति यहाँ समाप्त हो जाती है।

७. शा० में आइअ नहीं है।

८. रतं० चल जीवन। रतं० जओ भट भेला। क० सिंह जओ भट्टमेलि।

दोनों सेनाओं में घमासान होने लगी। तलवारों के टूट जाने से भी कोई मानता न था। शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, वीर दौड़कर विमान में चढ़ जाते थे (स्वर्ग-यात्रा)।

अन्तरिक्ष में अप्सराएँ अपने विमल करों से अँचल पकड़ कर हवा कर रही हैं। भ्रमर रूपी कामदेव डोल रहा है, उनकी आँखें प्रेम से चमक रही हैं। गन्धर्वगण दुन्दुभि बजा रहे हैं, उनके पूरे यश के परिमल का परिचय कौन जानता है? कीर्तिसिंह के रण-साहस पर कल्पतरु से सुमन वृष्टि हो रही है।

रड्डा—तब मलिक असलान सोचता है: सारी सेना मुझ पर आ पड़ी है। बादशाह, क्रुद्ध होकर आए हैं। मेरी अनीति का महावृक्ष फल रहा है। मेरा दुर्भाग्य मेरे पास आया है। फिर मैं पल-भर के यानी क्षणिक चंचल जीवन को देकर भी निर्मल-यश क्यों न लूँ। कीर्तिसिंह के साथ सिंह के समान क्यों न एक भिड़न्त हो ही जाए।

२१५. बेवि<द्वेऽपि दोनों। संघट्ट = सामना, एकत्रीकरण। खंडल = टुकड़े होने पर। मानहिं = रुकते नहीं। नहीं मानते।

२१६. पलइ<पडइ<पतति। गिरता है।

२१७. अछवारि<अप्सरा। बीजए<बीजइ<व्यजति।

२१८. भमइ<भ्रमति = घूमता है। पिच्छल = आर्द्र, चिकना।

२१९. दुन्दुहिअ<दुन्दुभि। परिमल-परिचय = यश-सौभय-ज्ञान। "कुन्द कुसुम संकास यश" देखिए, कीर्ति० १।६१।

२२०. सुविट्ठि<सुवृष्टि।

२२२. मुह<मुझ = मुझ पर। पलिअ = पड़ी। कोहान<क्रुद्ध।

२२३. अनअ<अनय = अनीति। भट भेला = भट्ट-भिड़न्त।

छन्द

हसि दाहिन हत्थ समत्थ भइ ॥२२६॥

रण रत्त पलट्टिअ खग्ग लइ ॥२२७॥

तँह एक्कहि एक्क पहार पले ॥२२८॥

जहि खग्गहि खग्गहिं धार धरै ॥२२९॥
हय लग्गिअ[2] चंगिम चारु कला ॥२३०॥
तरवारि चमक्कइ विज्जु झला ॥२३१॥
टरि टोप्परि[3] टुट्टि शरीर रहे ॥२३२॥
तनु शोणित धारहिं धार वहे ॥२३३॥
तनुरंग तुरंग[4] तरंग बसे ॥२३४॥
तनु छड्डइ लग्गइ रोस रसे ॥२३५॥
सव्वउ जन पेष्खइ जुज्झ कहा ॥२३६॥
महभारइ[5] अजुन कन्न जहा ॥२३७॥
नं आहव माहव संभु करें[6] ॥२३८॥
वाणासुर जुज्झह वुत्त भरें ॥२३९॥
महराअन्हि मल्लिकें चप्पिलउँ ॥२४०॥
असलान लिजानहु पीठ दिउँ ॥२४१॥

१. स्तं० रणव्रत्त ।
२. स्तं० लंगिम ।
३. स्तं० टाप्पारि ।
४. तनुरंग तुरंगम तरंग रसे ।
५. स्तं० महभारइ । क० महभावइ
६. स्तं० संभु । क० सस्तु ।
७. स्तं० निआनहू ।

छन्द—हँसकर दाहिने हाथ में तलवार लेकर युद्ध में अनुरक्त वह लौट पड़ा। तब वे दोनों एक पर एक प्रहार करने लगे। खंग से खंग की धार लड़ने लगी। घोड़े सुन्दर गतियाँ दिखाने लगे। तलवार बिजली की तरह चमकने लगी। टोप गिर गए और शरीर टूट-टूट कर गिरने लगे। शरीर से शोणित की धारा बह चली। घोड़ों के शरीर रुधिर में रंग गए। क्रोध में भरकर वे शरीर छोड़ने लगे। सभी लोग युद्ध देख रहे थे। जैसे महाभारत में कर्ण और अर्जुन का युद्ध हो रहा हो। या कृष्ण और शिव का युद्ध हो। वाणासुर युद्ध के दृश्य खड़े हो गए। महाराज ने मलिक को धर दबाया। असलान ने पीठ दिखा दी।

२३०. हय=घोड़े। डॉ० अग्रवाल ने इस पंक्ति का अर्थ किया है: युद्ध करते

हुए उनका सारा यौवन (लंगिम, जवानी) सौन्दर्य (चंगिम) और सुन्दर कलाएँ नष्ट (हय<हत) हो गईं। यह बिल्कुल दूरारूढ़ अर्थ है। लग्गिअ = लगे। दिखाने लगे। चंगिम = सुन्दर। चारुकला = अश्व की गतियाँ।

२३१. विज्जु झला<विद्युत् + √ज्वल्। विजली की चमक।

२३६. पेप्खइ = देखते हैं। √प्रेक्ष्। जुज्झ<युद्ध।

२३७. भहभारइ< महाभारते। अज्जुन<अर्जुन। कन्न<कर्ण। जहा = <यथा = समान।

२३८. नं<ज्ञायते। आहव = युद्ध। माहव<माधव।

२३९. जुज्झह = युद्ध का। वुत्त = ∠वत्त ∠वार्ता।

२४०. चप्पिलउँ = दबा लिया।

२४१. पीठ दिउँ = पीठ दे दिया। भाग गया।

दोहा

तं षणे पेप्खिअ[1] राय सो अरु सुक्खेप[2] करेओ ॥२४२॥
जे करें मारिअ वप्प महु से कर कमन हरेओ ॥२४३॥

गद्य

अरे अरे असलान प्राणकातर अवज्ञात मानस समरँ ॥२४४॥
परित्याग साहस धिक जीवनमात्ररसिक की जासि ॥२४५॥
अपजस साहि, सत्तु करी डीठि सञो पीठि दए[4] ॥२४६॥
भाहु भैसुर क सोझ जाहि ॥२४७॥

दोहा

जं धर्के जीवसि जीव सञो जाहि जाहि असलान ॥२४८॥
तिहुअण जग्गइ कित्ति मम तुज्झ दिअउँ जिवदान ॥२४९॥
जइ रण भग्गसि तइ तोञे काअर ॥२५०॥
अरु तोहे मारइ से पुनि काअर ॥२५१॥
जाहि जाहि अनुसर गए साअर ॥२५२॥
एम जंपइ हँसि हँसि वै नाअर ॥२५३॥

१. स्तं खने पेक्खिअ।

२. स्तं० सुक्षेप। क० सुक्खेउ।

३. रतं० मअ साहस ।
४. रतं० सत्रुक पीठि सौं पीठिं देखाए
५. रतं० जइ कं जीवसि जीव गए ।

उस समय राजा कीर्तिसिंह ने उसे देखा और आक्षेप करते हुए कहा—"जिस हाथ से तूने मेरे पिता को मारा वह हाथ अब क्या हो गया ?"

गद्य—अरे अरे असलान, प्राण के लिए कायरता दिखाने वाले, स्वयं के प्रति अनादर से भरा हुआ, युद्ध-भूमि में साहस छोड़ कर भागने वाले, तुझे धिक्कार है। अरे, जीवन मात्र से प्रेम करने वाले कायर, अपयश लेकर कहाँ जाता है ? शत्रु की दृष्टि के सामने पीठ करके जा रहा है जैसे अनुजवधू भ्रातृ-श्वसुर के सामने सीधे जाती है।

दोहा—यदि जान लेकर भाग कर जीना चाहता है तो जा भाग तुझे जीवन-दान देने से मेरी कीर्ति त्रिभुवन में बनी रहेगी।

तू रण से भागा है, तू कायर है। और जो तुझ जैसे भगेड़ू को मारेगा वह भी कायर है। जा जा, सागर में डूब मर। इस प्रकार हँस-हँस कर वे दोनों भाई कह रहे थे ?

२४२. सुक्षेप = आक्षेप। अरेओ = किया।
२४३. कमन = किसने। हरेओ = हर लिया।
२४४. अवज्ञात मानस – मानस की (अन्तर्यामी की) अवहेलना करने वाले।
२४७. भाहु ∠ भैहू ∠ भ्रातृ + वधू। भैसुर ∠ भ्रातृश्वसुर। सोझ ∠ शुद्ध = सीधा।
२४८. धकें = लेकर, [कीर्ति० ४।१५४]

रड्डा

तो पलट्टिअ जित्ति रण राए ।।२५४।।
शंखध्वनि उच्छलिअ नित्त गीत वज्जन वज्जिअ ।।२५५।।
चारि वैअ झंकार सुह मुहुत्त अभिषेक किज्जिअ ।।२५६।।
वन्धव जन उच्छाह कर तिरहुति पाइअ रूप ।।२५७।।
पातिसाह जसु तिलककर कित्तिसिंह भउँ भूप ।।२५८।।

श्लोक

एवं संगरसाहसप्रथमन प्रालब्धलब्धोदयां ।
पुष्णाति श्रियमाशशांकतरणीं श्री कीर्तिसिंहो नृपः ।।

माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशो विस्तारशिक्षासखी ।
यावद्विश्वमिदञ्च खेलतकवेर्विद्यापते भारती ॥

इति महामहोपाध्याय सट्टक्कुर विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां चतुर्थः पल्लवः समाप्तः । शुभम् ।

१. स्तं० अस्पष्ट । क० वज्जन वज्जिअ । शा० वजन वजिअ ।
२. शा० की प्रति में अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है :—संवत् ७४७ वैषाख शुक्ल तृतीयायां तिथौ । श्री श्री जय जगज्ज्योतिर्म्मल्लदेव भूपानामाज्ञया दैवज्ञ नारायणसिंहेन लिखितमिदं पुस्तकं सम्पूर्ण मिति शिवम् ।

रड्डा—राजा कीर्ति सिंह युद्ध में विजयी होकर लौटे । शंख-ध्वनि होने लगी । नृत्य, गीत होने लगे और बाजे बजने लगे । चारों वेदों की झंकार के बीच शुभ-मुहूर्त में अभिषेक हुआ । बान्धव-जनों में उत्साह छा गया । तिरहुत ने अपनी शोभा प्राप्त की । बादशाह ने तिलक किया और कीर्तिसिंह राजा हुए ।

श्लोक—इस प्रकार संगाम भूमि में साहस पूर्वक शत्रु-मंथन करने से उदित हुई लक्ष्मी को राजा कीर्तिसिंह चन्द्रमा और सूर्य के रहने तक पुष्ट करें । और जब तक यह संसार है, कवि विद्यापति की भारती (कविता) जो माधुर्य की प्रसव-स्थली और श्रेष्ठ यश के विस्तार की शिक्षा देने वाली सखी है, क्रीड़ा करती रहे ।

महामहोपाध्याय विद्यापति विरचित कीर्तिलता का चतुर्थ पल्लव समाप्त हुआ । शमम् ।

चतुर्थः पल्लवः

२–३. कह कह इत्यादि—कथय कथय कान्त सत्यं वद, केन परिसेना संचरिता। केन तीरभुक्तिरभवत् पवित्रा। पुनः असलानेन किं कृतम् ॥

४–५. कीर्त्तीत्यादि—कीर्त्तिसिंहगुणमहं कथयामि। प्रेयसि अर्प्पय कर्णम्। विना जनेन विना धनेन धंधेन विना चालितः सुरत्राणः।

६–७. गरुको इति—गुरुकौ द्वौ कुमारौ गुरुः मलिकअसलानः यस्य चालनेन यस्मिन् आत्मना चलितः सुरत्राणः।

८–११. सुरत्राण इति—सुरत्राणस्य चलनेन समस्तसेनायां शब्दः पतितः। **घोदे इत्यादि**—जिज्ञास्यं, वाद्यो वदत सेना सज्जा, करितुरगपदातिसंघट्टनं ज्ञातं। बहिष्कृत्वा दहलेजो दत्तः।

१२–१३. सज्जहेत्यादि—सज्जय सज्जय शब्दो वृत्तः ज्ञायते न इयदियत्। राजमनोरथः सम्पन्नः कटके तीरभुक्तौ।

१४–१५. पढमेत्यादि—प्रथमं सज्जिताः, हस्तिघटाः ततस्तुरंगः। पाइक्काः चक्रं जानातु कः। चलितं सैन्यचतुरंगम्।

१६–२२. अनवरतेत्यादि—अनवरतो हस्ती मदमत्तो गच्छति। भंजनवृक्षं, क्रामन् पार्श्व, कुर्वन् शब्दम्, मारयन् घोटं, संग्रामे स्थिरः, भूमिष्ठमेघः, अंधकारकूटः, दिग्विजये त्यक्तः, सशरीरः गर्वः, दर्शने भव्यः। चालयन् कर्ण पर्वतसमानः।

२३–२६. गुरुर्गुरुः शुंडा मारयित्वा चूर्णयति मानुषमुंडम्। विंध्याद्विधात्रा पृथक् कृतः। कुंभोद्भवस्य नियममतिक्रम्य पर्वतो वर्द्धितः। भोक्तुं खणितुं मारयितुं जानाति। हस्तिपकस्यापि अंकुशं महत्त्वेन मानयति।

२७–२८. पाइगाह पदभारो भवत् पल्लानितस्तुरंगः। थप्पस्तलपालकस्य श्रुत्वा रोमांचितमंगम्।

२९–३२. अनेअ इत्यादि—अनेको वाजी तेजस्वी ताजी सुसज्य सुसज्यानीतः। पराक्रमेण यस्य नाम द्वीपे द्वीपे ज्ञायते। विशालस्कंधः चारुबंधः कर्णशुक्तिशोभितः। उत्फाल्य लंघयित्वा हस्तिनं गच्छति। शत्रुसैन्यक्षोभकः।

३३–३६. समस्तशूरः उरसा पूर्णः चतुर्षु पदेषु विस्तरः। अनंतयुद्धमर्म बुध्यते स्वामिनं तारयति संगरे। स्वजातौ शुद्धः क्रोधेन क्रुद्धः उत्तोल्य धावति कंधरां विमुग्धस्तेजसा मारयति टापेन संचूर्ण्य गच्छति वसुंधराम्।

३७–४०. विपक्षस्य सैन्यं प्रेक्ष्य द्वेषयित्वा ह्रेषयित्वा तामसेन । निसाणशब्दं भेरिनादं क्षोणीं बध्नाति तामसेन । कशाभीतः वातं जयति चामरेण मंडितः । विचित्रचित्रः नृत्यति नित्यं अवरोहणे वल्गायां पंडितः ।

४१–४४. एवं च । विचित्य विचित्य तेजसा ताजी अश्वसन्नाहेन सुसज्य सुसज्य लक्ष संख्यको आनीतो घोटकः । यस्य मूल्यं मेरुस्तोकम् ।

४५–५२. कटकं सज्जय सज्जय । वक्रेण वक्रेण वदनेन, काचलेन काचलेन नयनेन । सुवृत्तेन सुवृत्तेन बंधेन, तीक्ष्णेन तरलेन स्कंधेन । यस्य पृष्ठे आत्मनोहंकारः साधितः, पर्वतानप्युल्लंघ्य शत्रुर्मारितः । मन्ये शत्रोः कीर्तिकल्लोलिनी लंघयित्वा भवत्पारं तस्य जलसंपर्क्केण चतुर्षु पादेषु श्वेतः । मुरुलीत्यादि प्रभृतिनाना गतीः कुर्वन् शोभते कीदृशः मन्ये पादतले पवनो देवता वसति । पद्मस्याकारः मुखपारः । मन्ये स्वामिनो यशश्चंदनेन तिलकं वर्तते ।

५३–५८. तेजवंतेत्यादि—तेजवान् तवपालइति जिज्ञास्यम् । तरुण तामस भरेण वर्द्धितः । सिंधुपार संभूतः तरणि रथे वहन आनीतः । गमनेन पवनं पश्चात्कुरुते, वेगेन मनोपि जित्वा गच्छति । धावति धसमसायति वाद्यान् भूमौ गर्ज्जति पादः । संग्रामभूमितले संचरते, नृत्यति नर्त्तयति विविधं । अरिराज्याल्लक्ष्मीं बलात् गृह्णाति, आशां पूरयत्यश्ववारस्य ।

५९–६३. तमिति—तं तुरंगममधिरूढः सुरत्राणः ध्वजश्चामरो विस्तारितः । स तुरंगमः क्षत खचित आनीतः । यशः पौरुषं वरं लभते । राजगृहे दिशि विदिशि ज्ञातः । द्वौ सोदरौ राजगिरी अलभतां । द्वौ तुरुष्कौ पार्श्वं प्रशंसितुं यांति । दूरे शत्रवो गृह्णान्ति भंगम् ।

६४–६९. तेजीत्यदि—मुक्त्वा, उतारी, तिजि तुरंगं चतुर्द्दिशमतिक्रम्य गच्छति । तरुणतुरुष्कोश्ववारो वंशसदृशो कशा स्फुटति । मोजया मोजया संजोड्य शरेण तरकसो भृतश्चापः, शृंगिनों ददाति निःसीमं गर्वं कृत्वा गुरुणा दर्पेण निःसृतात्मना अनवरता तस्यां गणनां कर्त्तुं पारयति कः । पदभारेण कोलो अभिमोटनं करोति, कूर्मः पार्श्वपरिवर्त्तनं ददाति ।

७०–७५. कोटीत्यादि—कोटयो धनुर्द्धराः धावन्ति पादातयः लक्षसंख्यं चलिताः चलनप्रवृत्ताः । चलिताः चर्मधराः रंगेन चमकं भवति । खड्गाग्रतरंगेन मत्तो मंगोलो वचनं न बुध्यते । खुदकारो कारणेन रणे युध्यते ।

७६–७९. आमेन मांसेन कदापि करोति भोजनं, कादम्बरीरसेन लोहितं लोचनम् । योजनानि विंशति दिनार्द्धेन धावति, रुक्षायाः पुरोडाशेन वर्षं गमयति ।

८०–८३. विल्वं संछिद्य कमानं योजयति। वेगेन चलति गिरिरुपरिचोटकेन। गोब्राह्मणवधेन दोषं न मानयति। परपुरनारीं बन्द कृत्वा आनयति।

८४–८७. हासयति रुष्टो भवति हासेन तरुणतुरुकशतसहस्रं। अपर: कतिचकर्कटाः दृश्यंते गच्छन्त: मारयित्वा गां मिसमिलं कृत्वा भुञ्जन्तः।

८८–८९. धागडइत्यादि—धकड़ाः कटके धूर्त्ताः बहवः यं दिशं धाट्या गच्छन्ति तद्दिशः राजगृहतरुणी हट्टे विक्रीणाति।

९०-१०३. सावरेत्यादि—यष्टिरेका एका तेषां तस्य हस्ते चीवरकेन कुचीवरकेन वेष्टितं शिरः।

दूर दर्शनं अग्निना ज्वालयति। नारी विभाद्य बालं मारयति। लूट्या अर्ज्जनं उदरेण व्ययः अन्यायेन वृद्धिः कन्दलेन क्षयः।

न दीनस्य दया न शक्तस्य भीतिः, न दिनान्तरसम्पत्तिः न विवाहितया गृहम्।

न साधो शंका न चौरस्य भीः। न पापस्य गर्हा न पुण्यस्य कार्यम्। न शत्रोः शंका न मित्रस्य लज्जा।

न स्थिरं वचनं न स्तोको ग्रासः। न यशसा लोभः न अपयशस्य त्रासः। न शुद्ध हृदयः न साधोः संगः। न पाने उपशमः न युद्धे भंगः।

१०४-१०५. ऐसो इत्यादि—एष कटके लम्पाको गच्छन्। दृश्यन्ते बहवः। भोजनं भक्षणं मुंचति। न गमनेन भवति परिभूतः।

१०६-१०७. ता इति—ततः पश्चात् आवर्त्तः पतितः हिन्दूबलगमनेन राजा गणितुं न पार्यते। राजपुत्रो लेख्यते केन।

१०८-१११. दिगन्तर इति—दिगन्तरराजानः सेवामायाताः ते कटके गच्छन्ति। निजनिजधनगर्वेण संगरभव्याः पृथिव्यां न मिलन्ति। राजपुत्राश्चलन्ति बहवः पदभरेण मेदिनी सकम्पा पताकाचिह्नं भिन्नं भिन्नं धूल्या रविरथझम्पः।

११२-११५. योजनं धावति, तुरगं नर्त्तयति, वदति दृढ़वचनं। लोहितपीतश्यामलः लम्भितश्चामरः। श्रवणे कुण्डलं दोलयति। आवर्त्तविवर्त्तेन पदपरिवर्तेन युगपरिवर्त्तनं भानम्। घनतरलशब्देन श्रूयते न कर्णेन, संज्ञया आकर्ण्यते।

११६-११९. अन्यः वेसरि खचरः पुनः गर्द्दभाः लक्षं वृषभाः बलीवर्द्दाः इडिक्काः महिषाः कोटिः अश्ववारे चलति पाद संचारेण दृथ्वी भवति स्तोका। पश्चातयः पतति समुग्धो भवति। उपविशति स्थाने स्थाने तद्देशं न प्राप्नोति वसु मुंचति। मुग्धो भुवन भ्रमति दासः।

१२०-१२१. तुरुक्काणं सैन्य वृन्देन वृन्देनाक्रम्य चतुर्दिग्भूमिः स्थानं धावयन् कलहं कुर्वन् तिष्ठति भ्रमणे।

१२२-१२३. असपषं इत्यादि जिज्ञास्यम्।

१२४-१२६. जं खणेत्यादि—यत् क्षणे चलितः सुरत्राणः लेखा परिशेषो जानातु कः तरणिना तेजः संवलितं। अष्टदिक्पालेषु कष्टमभवत्। धरायां धूल्यांधकारः। त्यक्तं प्रेयस्या प्रिय प्रेक्षणं। इन्द्रचन्द्रयोः एवं केन प्रकारेण एष समयो यापयितव्यः कान्तारे दुर्ग वनानि संमर्द्य क्षोणीं संक्षुभ्य पदभारभरेण हरि शंकरतनू मिलित्वा स्थिते हृदये ब्रह्मा डगमगायति भीत्या।

१३०-१३५. महिसेत्यादि—महिप उत्थितः पौरुषं कृत्वा वेगेनाश्ववारेण मारितः। हरिणेन हारितो वेगः धत्तुं करेण पदातिना पारितं। संत्रस्य स्थितं शशमूषकाभ्यां उत्थानं कृत्वा आकाशं पक्षीयति। असौ पादेन संचूर्णितः। तं च श्येनो विद्राव्य भुंक्ते। इवराहिमसाहप्रयाणः स यत्र यत्र सेना संचरति खणित्वा विद्राव्य मर्द्दयित्वा वेगेन म्रियते जीवेन जन्तुः न उद्धृतः।

१३६-१४१. एवं चेति—दूर द्वीपान्तरस्य राज्ञां निद्रां हरणं वनं विकटं भ्रमण चांचल्यं कुर्वन् आखेटकं खेलन शरं क्षिपन् वन विहारादि वनोत्सवस्थ परिपा.............खमनुभवन।

वर्त्म संतीर्य तीरभुक्तिः प्रविष्टः एकतमुपविश्य सुरत्राण उपविष्टः।

१४२-१४३. कथा द्वयं श्रुत्वा तत्क्षणेऽभवत् फरमाणः केन प्रकारेण निरस.... ....मर्थो असलानः!

१४४-१४८. तो प इति—ततो प्रजल्पति कीर्त्ति भूपालः। का कुमंत्रणा प्रभुणां क्रियते। हीन वचनं किमिति मयि जल्पितं किमित...........गण्यते। कः शत्रुसामर्थ्यः संक्रुद्ध्य सर्वे प्रेक्ष्यते। पृष्ठे उपविश्य अहं नापयामि रणबुद्धिम्। वर्मणा संचाल्य मारयित्वा ददाम्यसलानम्।

१४९-१५४. अज्जेत्यादि—अद्य वैरमुद्धरामि शत्रुर्यदि संगरमायाति। यदि तस्य पक्षसमक्ष इंद्र आत्मनो बलं लापयति यदि तं रक्षन्ति शम्भु अम्बु हरि ब्राह्मणो मिलिता भूत्वा फणिपतिर्लगति उद्धारे। आक्रमति यमराजः संक्रुद्ध्य असलानं यत् मारयामि तथाप्यहं रुधिर नद्यां ददामि पादम्। अवसान समये निज जीवनाय येन पृष्टि दर्शयित्वा गमिष्यन्ति।

१५५-१५६. तवे इत्यादि—तदा फरमाणो वाचितः। सकलसामग्रीः सार। कीर्त्तिसिंह बहुना सेना कृतं पारम्।

१५७-१६०. पैरीत्यादि—उपप्लुत्य तुरंगमः पारं भवति गण्डकस्य पा········। ये परबलभंजन गुरुकः गुरुक मलिक महिमद दमगानी, स्वयं असलानेन व्यूहं व्यूहं तदा सेना संज्जिता। भेरी काहलं ढक्का तरल रणभूमौ वाद्यते।

१६१-१६४. राजपुरस्य क्षेत्रे पूर्वस्यां प्रहरद्वयवेला द्वौ सेने संघट्टे अभूताम्। अभवद्द्वंद्वयुद्धम्। पादप्रहारेण पृथिव्यां कम्पः गिरिशेखरं स्फुटति। प्रलयवृष्टि यदि पतति, कांड पटवाल इति जिज्ञास्यम्।

१६५-१७२. वीरो विकारेण अग्रे भवति रोमांचितेनांगेन चतुर्दिक्षु चकमकाकस्मिक भीतिर्भवति खड्गाग्रतरंगेन तथापि······घसित्वा प्रविशति परयूथम्। मत्तमत्तांगः पश्चाद्भवति चार्मिक यूथेन।

शृंगिणीगुणटांकार भरेण नभो मण्डलं पूरितं वर्म उत्तिष्ठते। सेना ··········चूर्णयति। तामसेन वर्द्धते वीरो दर्प्प विक्रम गुणानाक्रम्य लज्जावतो लज्जागता। लज्जयैवममार।

१७३-१७४. चौपदेत्यादि—चत्वराणां मेदिन्यां दर्शनं भ्र··········कोदण्डः प्रहारः परिवर्त्य पटवारो ददाति। थेब्ब दंडेति जिज्ञास्यम्।

१७५-१८१. हुंकारेत्यादि—हुंकारेण वीरा गर्ज्जन्ते पायिक्क चक्रं भज्यते। धावमानाः त्रुटंति। वर्म वालेन त्रुटंति।

राजपुत्राः रोषलग्नाः खड्गेन खड्गो भज्यते। अरुष्टाः शूरा आगच्छन्ति उन्मार्गे मार्गे धावंति।

एकांगेन रंगे मिलंतः परकीयां लक्ष्मीं लुम्पन्तः। आत्मनो भावं तारयंतः शस्त्रविशेषेण शत्रूणां मारयन्तः।

पारावारे·····बुडुन्तः क्रुद्धास्ताले युद्धतः।

१८२-१८७. दुहु दिश इत्यादि—द्वयोर्दिशोः वर्म उत्तिष्ठति मध्ये संग्रामे मिलनं भवति। खड्गेन खड्गः संहतः स्फुलिंगमुत्थितश्चाग्ने। अश्ववारो असिं बिभर्त्ति। तुरगो राज्ञा सह त्रुटति। वेणकवज्रनिघातेन कायः कवचेन साकं शत्रुस्स्फुटति। अरि कुंजरे शल्यो गच्छति। रुधिरधाराः गत्वा गगनं पूरयन्ति। राजाकीर्त्तिसिंहवशेन संग्रामं करोति।

१८८-१९२. धम्मेत्यादि—धर्म प्रेक्ष्य पुनः सुरत्राणः अन्तरिक्षे उपागताः इंद्र चंद्र सुर सिद्ध चारणाः विद्याधरेण नभो चारितं। वीर युद्ध दर्शन कारणेन यत्र यत्र संघटते शत्रुघटा तत्र तत्र पतति तरवारिः। शोणित मेदिनी कीर्तिसिंहेन कृतं मारणम्।

१९३-२००. पलेति—पतितं रुण्डं, मुण्डं, स्खलितो बाहुदण्डः। शृगालेन कलंकितः

कंकालखण्डः । धराधूल्यां लुटंति त्रुटंति कायानि—चलंतः प्रज्जा-टयंति पादम् ।

अवरुद्धा गृह्णन्ति बलिनो जालबद्धा वासा वेगे मज्जंतो उत्थिता गृद्धाः । गताः निष्कालयंतः पिबंतो महामांसखंडम् परेता वमंति ।

२०१-२०८. शृगालाः फेत्कारनादं कुर्वंति । बुभुक्षाकुला डाकिनी क्रंदति । बहूत्फाला वेतालाः शब्दं कुर्वंति वर्त्तते परिवर्त्तते पतंतः कबंधाः ।

शरासारभिन्नाः करेण ददति संज्ञाम् । उच्छ्‌वास्य निःश्वास्य विमुंचंति प्राणम् । यत्र रक्तकल्लोलनानातरंगः तरसा विसंज्ञो निमग्नो मतंगः ।

२०६-२१४. रक्तेत्यादि—रक्तरंजितं मस्तकं उत्फाल्य फेरवी उत्स्फुटय खादति । हस्तेन नोत्तिष्ठते हस्ती त्यक्ता वेताला पश्चाद् गच्छंति । नरकबंधेन घडफडायितम् । मर्म्म वेतालाः प्रेरयंति । रुधिरतरंगिणीतीरे भूत-गणाः जलक्रीड़ां खेलंते । उच्छ्‌वलति डमरुकडंकारवरम् । सर्वदिशि डाकिनी डंकरोति । नरस्कंधबंधैः महीभृता कीर्तिसिंहनृपो रणं करोति ।

२१५-२२०. वेवि इत्यादि—द्वयोः सेनयोः संघट्टः खड्गखंडनं न मानयति संगरं । पतति शरीरम् । धसित्वा गत्वा विशति विमाने । अंतरिक्षे अप्सराः विमलं कृत्वा वीजंते अंचलम् । भ्रमरमनोहरं भ्रमंति प्रेमपिच्छिल-नयनांचला । गंधर्वगीतिद्वंद्वे हृदयवरपरिमलपरिचयं जानातु कः । वर-कीर्त्तिसिंह साहसेन सुरतरुकुसुमसुवृष्टिर्भवति ।

२२१-२२५. तब्बेत्यादि—तदा चिंतयति मलिक असलानः । सर्वाः सेनाः पतिताः । पातिसाहः क्रुद्ध आगतः । अनय महातरुः फलितः । इष्टदैवेन निज समयः प्राप्तः ।

ततः चलजीवनः परावृत्य स्थिरनिर्मलं यशः गृह्णामि कीर्तिसिंहेन सह सिंह इव द्वंद्व युद्धमेकं करोमि ।

२२६-२४१. हसीत्यादि—हसित्वा दक्षिणकरे समर्थो भूत्वा रणवार्त्ता परावर्तिता । खड्गं गृहीत्वा तत्रैकेन एकस्मिन् प्रहारः प्रहारः पातितः । यत्र खड्गेन खड्गस्य धाराधृता ।

हत चंगिम चंगिम चारु कलाः तरवारिः शोभते विद्युच्छटा पतित्वा शिरोवर्म त्रुटित्वा तनु शोणितधारया धारित्वा धृतम् ।

तनुरंगतुरंगतरंगवशेन तनुस्त्यक्ता लग्नो रोषरसे सर्वे जनाः प्रेक्षंते युद्धकथाम् । अहं मन्ये अर्ज्जुन कर्णो यथा ।

नूनं आहवं माधवशंभू कुरुतः । बाणासुरयुद्धविवर्त्तभवे महाराजेन मल्लिको गृहीतः । असलानेन पृष्टिर्दत्ता ।

२४२-२४३. तं खणे इत्यादि—तत् क्षणेन प्रेक्षितं राजा सः तुनः आक्षेपं करोति। येन करेण मारितो वप्रो मम, स करः कुत्र गतः ॥

२४४-२४७. अरे रेत्यादि—किमिति गच्छति अपयशः संसाध्य शत्रोर्दृष्टे पृष्टं संदर्श्य भ्रातृवधू भ्रातुः समक्षं गच्छ :

२४८-२४९. यदि गच्छसि विशेषेण जीवसि जीवगत्वा याहि याहि असलान त्रिभुवने जाग्रतु असलानः। तव दत्तं जीवदानम्।

२५०-२५३. तैरण इत्यादि—तदा रणे भग्नो भवसि तेन त्वं कातरः। पुनः त्वां मारयसि स पुनः कातरः। गच्छ गच्छ अनुसर गत्वा सागरम्। एवं जल्पति हसित्वा हसित्वा नागरः।

२५४-२५८. ततः परोवृत्तो राजा शंखध्वनिरुदचरत्,
नृत्यगीतवाद्य·········तम्। चतुर्वेदझांकारः।
शुभमुहूर्त्ते अभिषेकः कृतः। बांधवजनेन
उत्साहः कृतः तीरभुक्त्या प्राप्तो रूपः। पातिसाहेन
य················कृतम्। कीर्त्तिसिंहोभवद् भूपः।

[इति चतुर्थः पल्लवः]

॥ इति कीर्तिलता समाप्ता ॥

श्री श्रीमद्गोपाल भट्टानुजेन श्री सूरभट्टेन स्तंभतीर्थे लिखायितमिदम्। सर्वेषां कल्याणं भवतु ॥ श्रीः ॥

शब्द सूची

अ

अंग ३।१६१ = अंग

अंगवइ २।२२ = अंकीकृत करता है

अंगे-चंगे ४।७१ = शरीर से सुन्दर और मजबूत

अँटले ४।४६ = बाँधा हुआ

अँतरे २।२३० = अन्तः, अँतरे पँतरे

अइस २।५२ = ऐसा

अइसनेओ ३।५४ = ऐसा

अइसेओ २।२१३ = ऐसा

अउताक ४।१२१ = शीघ्रतासे

अओका २।१९३ = अपरक, दूसरे का

अक्खर २।१४ = अक्षर

अछै ३।१२९ = है (अछइ < अक्षति)

अगणेय १।७१ = अनगिनत

अग्गि ३।१५२ = अग्नि में

अग्गिम ३।३ = अगिला, अग्रिम

अज्ज ३।१४ = आज

अज्जने १।३४ = अर्जन में

अजाति २।१३ = जातिच्युत

अछ २।४२ = है

अछए ३।१३१ = है

अटारी २।९७ = अट्टालिका

अणै भणै २।१८१ = अंट शंट बकता है।

अट्ठाइसओ २।२४४ = अठाइस (समुच्चय)

अणवरत ४।१६ = अनवरत

अतत्थ १।५३ = अतथ्य, असत्य

अत्थिजन १।५२ = याचक लोग

अतुलतरबिक्रम १।१८ = असीम पराक्रम

अदप ३।४३ = अदब

अद्यर्यन्त २।२५१ = आज तक

अधओगति २।१४२ = अधोगति

अनअ ४।२२३ = अनीति

अनन्ता २।१७३ = अनन्त

अनुरक्तेओ ३।१४८ = अनुरक्त

अनुरंजिअ २।२५० = अनुरंजित

अनुसर ४।२५२ = अनुसरण करो

अन्तावली ४।१९७ = अँतड़ियाँ

अन्धार ४।२० = अंधकार

अन्धकार २।१४२ = अन्धकार

अपन २।४८ = अपनी

अपने २।१२० = अपने

अपनेहु ३।३८ = अपना भी

अप्प २।११८ = अपने

अप्पा ४।१८० = अपना

अप्पिआ ३।८१ = अर्पित किया

अप्पहि ४।४ = अर्पित करो

अपामन २।१३३ = अपावन

अबे २।१७० = अबे (गाली)

अभाग २।२३६ = अभाग्य

अभ्यन्तर २।२४८ = भीतर

अम्बर मंडल २।२१६ वस्त्र निर्मित गोल तम्बू

अम्हृ ३।१३४ = मेरा

अरदगर ३।४४. यात्राधिकारी । गिर्दावर

अराहिअउँ ३।७ = अराधना की

अरे २।३१ = अरे (सम्बोधन)
अरु ३।१८ = और
अरुज्झाल ४।१९७ = उलझी हुई
अलहना २।१३४ = अलाभना
अवर ३।१७ = अवर, अश्रेष्ठ
अवरु २।५४ = और
अवस ३।२८ = अवश्य
अवसओ १।६ = अवश्य ही
अवहट्ठ १।२१ = अपभ्रष्ट, अपभ्रंश
अवहि ३।४४ = अबही, अभी
अवि अवि च २।१०० = अपि अपि च
अष्खर २।४५ = अक्षर
अष्टधातु २।१८० = आठो द्रव्य
अस २।१७ = ऐसा
अस पख ४।१२२ = आस पास
असहना ३।३२ = असहने वाला
अस्सवार ४।१८५ = सवार
असंझहि २।२५३ = सन्ध्या पूर्व
अहर ३।३६ = अधर
अहह ३।११४ = हा, हा
अह्म – ३।१३४. हमारा
अहितह्नि १।८६ = शत्रुओंका
अहिमान ३।२६ = अभिमान
अहो २।३३८ = विस्मय सूचक

आ

आँकुस ४।२६ = अंकुश
आँग २।११० = अंग
आँचर २।१४९ = अंचल
आँतरे २।६२ = बीच में
आअत ३।५७ = आयत्त
आआ २।२१८ = आया
आइअ ३।१६ = आया

आकण्डन १।२६ = आकर्णन, सुनना
आक्रण्णे २।३२ = आकर्ण, श्रवण
आक्रीडन्ते २।९६ = खेलते
आखंडल–४।१२३ = इन्द्र
आगरि २।११५ = चतुरा
आडी २।१७७ = आड़ी, तिरछी
आण ३।४९ = अन्य
आना ४।११५ = आज्ञा
आनए २।२०२ = लाता है
आनक २।१०८ = अन्य का
आनका २।१०८ = दूसरे को
आनथि ४।८३ = लाता है
आनलि २।१४६ = लाई हुई
आनहि २।९० = आनते हैं (लाते हैं)
आनिअ २।१८५ = लाया
आनु ४।४३ = लाये
आपें २।२२३ = भेंटके लिए
आराधि १।७९ = आराधनाकर के
आरुट्ठा ४।१७८ = आरुष्ट (क्रोधित)
आरंभओ १।२ = आरंभ करके
आवत्त २।२१७ = आता हुआ
आवर्त-विर्वत २।११२ = आते-जाते।
आवथि २।११३ = आता है
आवहि २।२१९ = आते हैं
आस ३।११३ = आशा
आहव ४।२३८ = युद्ध

इ

इंधन ३।१०० = इंधन।
इअ २।२२६ = इतः, यहाँ
इअर ३।३३ = इतर, दूसरे
इअरो १।३५ = दूसरे
इडिका ४।११६ = भेंड

इथ्थि ४।१२ = यहाँ
इथ्थेन्तर ३।६५ = इसके बाद
इन्धन ३।१०० = इन्धन, जलावन
इबराहिम ३।८९ = इब्राहिम
इलामे २।२२३ = इनामे

ई

ई १।१२ = यह

उ

उँच्छाहे १।२६ = उत्साह से
उँछल ३।२९ = उछला।
उँण २।४५ = पुनः।
उँद्धरि १।८८ = उद्धार करके।
उपँताप ३।५४ = उपताप, दुःख
उप्पँत्ति ३।११२ = उपपत्ति
उँप्पनउँ २।२ = पैदा हुआ
उँप्पर २।१३० = ऊपर
उँपास ३।११४ = उपवास
उँपाएँ १।५४। उपाय
उ अआर १।१८ = उपकार
उग्गिह २।१२५ = उदय हुआ
उगाहिअ ३।२४ = उगाहा, इकट्ठा किया
उच्छलिअ ४।२५५ = उछली, उठी।
उच्छव ३।१४ = उत्सव
उच्छाह ४।२५७ = उत्साह
उजडल ३।४२ = उजड़ी
उज्जीर ३।७ = वज़ीर
उट्ठि ३।६ = उठकर
उत्तम २।१३ = उत्तम
उत्तरिअ ३।८८ = उतरे
उत्थि २।२३४ = वहाँ
उद्देशे २।५८ उद्देश्य से
उद्धरि १।८४ = उद्धार करके
उद्धरिअउँ २।२ = उद्धार हुआ
उद्धरओ २।४३ = उद्धारूँ
उपजु ३।७६ = उपजी
उपर २।२०५ = ऊपर
उप्पलु – ४।९ = निकला, प्रकट हुआ
उपसओ ४।१०३ = उपशम, शान्त
उप्पन्नमति १।५५ = विद्वान्
उपेक्खिअ २।१४० = उपेक्षित
उपेक्खइ ३।१३४ = उपेक्षा करता है
उफरि ४।२०९ = उखाड़कर
उफ्फलइ ४।१८३ = फैलती है, उठती है
उवटि २।९४ = चलते हुए
उव्वेअ ३।५६ = उद्वेग
उमग १।५३ = उन्मार्ग, कुमार्ग
उसस्से ४।२०६ = उश्वास
उमारा २।२२२ = उमरा
उभारि २।१३७ = छोड़कर (खोलकर)
उरिधान २।२०६ = वारक, पवित्रधान

ऊ

ऊर पूर ४।३३ = पूर्णरूप से भरा हुआ
ऊंगर २।१०८ = ओगर, छूटकर
ऊंठ २।१०५ = उठा

ए

एक्क २।३४ = एक
एक्कओ ३।११८ = एकभी
एकचोई ४।१२२ = एक चोबी तम्बू।
एके २।११८ = एक
एक्कत्थ १।५० = एकत्र, एकस्थ ?
एकक्के ४।१७९ = एक से एक
एत्ता ३।१२८ = इतना
एत्ते १।३१ = इतने

कर १।३८ = हाथ
करओ ३।२५ = करता है
करउ १।७७ = करो
करओ २।२० = करूँ
करतार २।२३७ = करने वाला
कढन्ता २।१७१ = उच्चारण
करन्ता २।२२७ = करते हैं
करवालहीं ३।७४ = करवाल से
कण्ण ३।२ = कान, कर्ण
करावए ३।२८ = कराता है
करिअ ३।८१ = किया
करिअइ २।२४ = कीजिए
करिअउं १।४१ = किया
करिज्जइ ३।५७ = करना चाहिए
करिव्वउं ३।५८ = करके
करिषु ३।५६ = करना चाहिए
करिह १।१६ = करेगा
करहु २।३२ = करो
करी २।१०६ = की
करु २।२५३ = किया
करुआ ३।१०३ = कड़ुआ
करेओ २।१०३ = का
करो २।११० = के
क्रयकार २।१०१ = खरीदना
कलशहि २।८६ = कलशों से
कलामे २।१७१ = कुरान
कलीमा २।१७१ = कलमा
कलुस ३।११४ = कलुष
कल्लान ३।१४ = कल्याण
कवण १।१३ = कौन
कवणे २।२२७ = किस
कवहु २।२४ = कभी-कभी
कव्व १।३ = काव्य
कव्व कलाउ १।७ = काव्यकला
कव्वहीं २।९१ = काव्य से
कसवट्ट ३।१२१ = कसौटी
कसीद २।१७२ = क़सीदा, कविता
कसीस ४।६७ = कशिश, खिंचाव
कसेरा २।१०१ = बर्तन बेचने वाला कसेरा
कह २।११७ = कहता है
कहउँ १।३६ = कहता हूँ
कहए ३।२० = कहता है
कहओ ३।१३८ = कहूँ
कहन्ता १।८ = कहने वाला
कहनी १।३६ = कथानिका
कहन्ते २।१०३ = कहते हुए
कहल २।७२ = कहा
कहवा १।५४ = कहना
कहसि १।२६ = कहो
कहहु ३।३ = कहो
कहिअजे २।५ = कहा जाता है
कहीं ४।१६० = कहीं
कहेओ ३।१४९ = कहूँ
का २।३४ = सम्ब० परसर्ग
का १।१३ = कैसे
काँ २।१३ = 'का' परसर्ग
काअर २।३६ = कायर
काअथ २।१२१ = कायस्थ
काचले ४।४७ = स्वच्छ चमकीला
काँच ४।७६ = कच्चा
काञ्चन २।२४२ = स्वर्ण का
काज २।१०७ = कार्य
काजि १।१ = कैसे

काँड़ ४।१६३ = वाण
काँधा ४।४६ = स्कन्ध, कन्धा
कापल २।६५ = कर्पट, कपड़ा
कापड़ ३।९८ = कपड़ा
कामन २।१३२ = कामना
कामिनी २।८८ = कामिनी
कारण ४।१९० = कारण, लिए
कारिअ १।७ = करके
कालहिं ३।५१ = काल पर, समय पर
काँसे २।१०१ = कास्य, काँसा
काष्ठा ३।१२२ = काष्ठा, सीमा
काह ३।५८ = क्या
काहु २।६५ = कोई
कियउ ३।९ = किया
किक्करउँ ३।११४ = क्या करें
किक्करिया ४।३ = क्या किया
किछु २।११४ = कुछ
किज्जिअ ४।२५६ = किया
कित्ति ३।३१ = कीर्त्ति
कित्तिम २।१३१ = कृत्रिम
कित्तिलद्ध १।२७ = कीर्तिलब्ध
कित्तिवल्लि १।१ = कीर्तिलता
कितेबा २।१७३ = किताब, कुरान
किनइते २।११४ = कीनना
किमि २।२ = कैसे
किरिस ३।१०८ = कृश
की १।२३ = क्या
कीनि २।९० = कीनकर
कुट्टिम २।८० = फर्श
कुण्डा २।१७५ = कुण्ड
कुण्डली ४।५० = घोड़े की मण्डलाकार चाल
कुमत्त ४।१४५ = कुमंत्र
कुमर २।५९ = कुमार
कुरुवक ३।४३ कोरवेग; अस्त्र-शस्त्र का अधिकारी
कुसुमिअ २।२१ = कुसुमित
कुसुमाउँह १।५७ = कुसुमायुध
कूट ४।२० = शिखर
कूजा २।१६२ = कूज़ा (सुराही)
के २।१९ = परसर्ग षष्ठी
केदारदान १।५८ = क्षेत्रदान
केलि ३।८१ = क्रीड़ा पूर्वक
केरा २।७८ = का
केरी ४।८९ = की
केस २।४१ = कैश
को २।३८ = का
कोकनद ३।३६ = रक्त कमल
कोत्थल ४।९१ = थैला
कोपि २।३० = क्रुद्ध होकर
कोर २।१२६ = शिरा
कोहे २।२५ = क्रोधे
कोहाए २।१७५ = क्रुद्ध होता है
कोहाणे ४।१८१ = क्रोध से
कोहान ४।२२२ = क्रोध से
कौडि ३।१०१ = कर्पादिका, कौड़ी
कौतुक २।९२ = तमाशा
कौसीस २।९ = कपिशीर्ष, कँगूरा

ख

खअ १।४१ = क्षय, क्षत
खग्ग ३।४७ = खड्ग
खग्गग्ग ४।७३ = खड्ग + अग्नि
खणे ३।७५ = क्षणे
खण्डिअ १।५१ = खण्डित

खण्डिआ २!८५ = पीछे की खिड़की।
खत्तिअ १।४१ = क्षत्रिय
खम्भ १।२ = खंभा
खा २।१८८ = खाता है
खाण २।११७ = खान
खीनि २।१४६ = क्षीण
खुन्द ४।३८ = खोदते थे
खुखुन्दि ४।१३५ खोदकर
खेत्तहिं १।१ = खेत में, क्षेत्र में
खेलत्तणें १।४ = खेल से
खेलइ २।९३ = खेलता है
खोजा २।१९६ = ख्वाजा
खोणि ४।१२८ = क्षोणि, वसुन्धरा
खोदाए २।१७४ = खुदा
खोदालम्म ३।१२ = खुदावन्द, खुदाए आलम
खोहणा ४।३२ = क्षोभ पैदा करने वाले

ग

गअन २।५८ = गगन
गअ ४।१९९ मृत
गइ ३।७ = जाकर
गउँ २।२६ = गए
गए १।३ = जाकर
गणइ ३।७५ = गिनता है
गणए ४।१०७ = गिनते हुए
गणना ४।६८ = गणना
गणन्ता २।२२६ = गिनते हुए
गण्डओ ३।११४ = गण्डा, चार
गन्दा २।१६० = गुप्तचर
गन्धव्वा २।२३१ = गन्धर्व:
गद्दह ४।११६ = गदहा
गव्व ३।१७ = गर्व
गमिअउ ३।१०५ = गमन किया
गमारन्हि २।१५१ = गँवारो को
गमावथि ४।७९ = गँघाते हैं
गरहा ४।९८ = घृणा
गरिट्ठ १।७६ = गरिष्ठ, भारी
गरुअ ३।१३७ = गुरुक, गरूहू
गरुवि २।१८६ गुरु
गह २।१७४ = आग्रह
गहओ २।४१ = पकड़ूँ
गहिज्जिअ ३।१५२ = ग्रहण किया
गाइक २।२०३ = गाय का
गाआप २।७५ = गवाक्ष
गओ २।६३ = गाँव, ग्राम
गाड २।१५१ = गड़ जाती
गाडू २।१८३ = गडुवा
गाढिम ४।११२ = गाढ़, अस्पष्ट
गारि २।१८३ = गिराना
गालिम २।२१९ = नौजवान लड़के
गाहन्ते ३।८४ = अवगाहन करते, ढूँढ़ते
गिरि २।२९ = पर्वत
गीअ २।९१ = गीत
गुणक २।१२३ = गुण का
गुणमन्ता २।१३४ = गुणवान्
गुण्डा २।१७४ = गुण्डा, गोला।
गुण्णइ २।१७ = गुनता है
गुणिअ ३।५४ = गुनना चाहिए
गुणे १।६० = गुण से
गुरुलोए २।२३ = गुरु लोग
गुर्गुरावर्त २।१०४ = 'गुर्गुर' की ध्वनि, गर्जन
गेट्ठि ३।३५ = गाँठ
गेल ३।४१ = गया

गोइ १।४४ = छिप कर, गोय कर
गोचरिअ ३।१० = दिखे, गोचरित
गोचरिअउँ ३।१५४ दिखाई पड़े
गोट्टओ २।१२ = पूरा समूह
गोपुर २।९६ = गोपुर
गोमठ २।२०८ = मक़बरा
गोवोलि २।१५१ = बैल कहकर
गोरि २।२०८ = कब्र
गोसाञुनि २।११ = गोस्वामिन्
गोहण ४।११९ = साथ
गोहारि ४।१५२ = रक्षाके लिए पुकार
गौरव २।१३४ = गौरव

घ

घटना टंकार २।१०१ = गढ़ने की ध्वनि
घटित २।४२ = घटित
घण ३।७२ = घन, बादल
घने २।१११ = सघन, बहुत
घर २।१० = घर
घास ३।११७ = घास
घुमाइअ ३।९४ = घुमाया
घोल २।६५ = घोड़ा

च

चक्कह ४।१६ = चक्र
चंङ्किम ४।२३० = तेज़
चडि ४।१४७ = चढ़ि
चडावए २।२०३ = चढ़ाता है
चतुस्सम २।२४७ = सुगंधि
चन्द १।६ = चन्द्र
चप्पिलउँ ४।२४० = चाँप लिया
चप्परि २।१० = जबर्दस्ती, शीघ्र
चरष २।१२७ = चक्करदार
चलए २।२३० = चलते
चलल २।१७६ = चला
चलिअ ३।६७ = चलित, चला
चलु २।५८ = चला
चलेउ २।५१ = चला
चाँगरे ४।४५ = सुन्दर
चांगु ४।४५ = चंगा, सुन्दर
चाट २।२०४ = चाटता है
चाँद २।१३० = चन्द्र
चान्दन ३।१०० = चन्दन
चापन्ते ४।१७ = चापते हैं
चपि ३।१४९ = चाँप कर
चाबुक ४।६५ = चाबुक
चामर ३।२४ = चामर
चामरेहिं ४।३९ = चामर से
चारी ३।१४२ = चारो
चारीआ २।२१८ = चालित, चलते थे
चारुहु ४।४९ = चारों
चारुहु ४।४९ = चारों
चारुकला ४।२३० = सुन्दर गति से
चालिअ ४।५ = चला
चाह २।१४७ = चाहता है
चाहन्ते २।२१९ = चाहते हैं
चिन्तइ ३।११५ = चिन्ता करता है
चिरजियउ १।७७ = चिरजीवो
चोकि–१८६–फुहार
चुक्कओ २।४३ = चूकूँ
चुक्किअ ३।११८ = चुका
चुक्किह ३।५१ = चुकेगा
चुडुआ २।२०३ = शुरुआ
चुप २।१८३ = चुप, शान्त
चूअ २।८१ = चूत, आम
चूर २।१११ = चूर्ण करता है

चूरीआ २।११७ = चूर्ण किया
चूरेओ १।८० = चूर्ण किया
चूह २८० = चूता है
चोपल ४।१३७ = चौपट
चोर ३।९५ = चोर
चोरें २।१० = चोरेण, चोर से
चोरी २।१२० = चोरी
चोल २।२२८ = चोर
चौहट्ट २।८८ = चौहटा, चारों ओर का बाज़ार
चौरा २।२४६ = चत्वर

छ

छइल्ल १।१७ = छैल, विदग्ध
छड्डिअ २।५४ = छोड़ा
छप्प ३।१५१ = छापा मारना
छपाइअ ०।१०४ = छिपाइए
छाज २।२४२ = छाजता है, शोभता है
छाड २।१५१ = छोड़ता है
छाडल २।६१ = छोड़ा
छानिअ ३।९८ = छानिए
छाहर २।२१९ = छाया
छाँडि २।१०५ = छोड़ कर
छेद २।१९५ = बलि
छोटाहु ३।९३ = छोटा भी
छोटेओ २।२११ = छोट

ज

जं ३।७५ = जिस
जइ २।२२९ = जय
जइसओ १।२ = जैसा
जग १।६९ = जागता है
जग्गइ ३।२९ = जागता है
जञ्चलइ २।७६ = जिस(ओर)चलता है
जज्जमिअ १।५५ = जन्म लिया
जञो २।४७ = ज्यों
जतो २।११ = यति
जन्ता २।२२७ = जाते
जनि २।१०४ = जैसे, जानो
जनु २।१४१ = जानो
जनेउ २।२०४ = यज्ञोपवीत
जनि २।२४१ = जानो, जैसे
जन्हि २।२४६ = जिन
जन्हि के २।१२८ = जिनके
जंपिअ ३।७ = कहा
जबे २।४ = जब
जमण २।१७० = यवन
जम्पइ २।२२९ = कहता है
जम्पञो १।२१ = कहता हूँ
जम्ममत्तेन १।३२ = जन्मत्वेन
जम्मिअइ १।२५ = जन्म लिया
जरहरि ४।२१२ = जल-क्रीडा, झिरहिरी
जलंजलि ३।२६ = जलाञ्जलि
जवही २।१८० = जबही
जवे २।१४० = जब
जस १।६१ = यश
जस्स १।३४ = यस्य, जिसका
जसु २।२१३ = यस्य, जिसका
जञोन २।७९ = जौन, जो
जषणे ४।१२० = यं क्षणे, जिससमय
जहाँ २।६३ = जहाँ
जहिं २।१५९ = जहाँ
जा २।१३० जाता है
जाइ २।१८२ = जाता हैं
जाइअ २।६६ = गया
जाइअ २।२२५ = गया

ठठ्टा २।२२६ = भीड़
ठट्टहिं २।९४ = भीड़ में
ठवन्ते २।९५ = चलते हैं
ठाकुर २१० = स्वामी
ठाम २।२०९ = स्थान
ठामहिं २।२३६ = स्थान में
ठेल्लि ४।१४८ = ठेलकर

ड

डक्करइ ४।२०२ = डकारती थीं
डर ३।७६ = डर, भय
डाँडिअ ३।८७ = दण्डित किया
डिठि २।११८ = दृष्टि

ढ

ढलवाइक ४।७१ = ढाल बाहक
ढारिआ २।८० = ढर रहे थे।

त

तओ ३।८ = तो
तइसना ३।५२ = तैसा
तइसओ १।३ = तैसा
तं २।७६ = इसलिए
तंमहुमासहि ३।५ = तंमधु मासहि उस मधुमास में
तकतान ३।६६ = तख्त
तक्कक्कस १।४६ = तर्क कर्कश
तजान ४।३९ = चाबुक
ततत २।१७८ तप्त
ततो २।१५८ = ततः
तथ्य २।१६२ = तश्तरी
तथ्यि २।२२५ = वहाँ
तनअ १।६२ = तनय
तबही २।१८३ = तभी
तवे २।१४० = तब
तम्बारू २।१९८ ताम्रपात्र
तरले ४।४६ = तरल
तरट्टी २।१३९ = चंचल
तवल ३।७१ = तवला
तब्बउँ ३।२५ = तब भी
तब्बे ३।९ = तभी
तवे २।४९ = तब
तवेल्ला २।१६२ = कुंडा, मिट्टी के बर्तन
तबहु २।१२५ = तभी
तलप्प ४।३२ = तड़प कर
तसु २।१२५ = उसका
तहाँ ३।१३१ = तहाँ
ता १।५४ = उस
ताकी २।१८४ = ताकता
तातल २।१७५ = तप्त, तपाया हुआ
तान्हि १।७० = उसके
तासओ २।११७ = उसके साथ
तारुन्न २।१३१ = तारुण्य
तामसे ४।३८ = क्रोध से
तहाँ ३।२१ = वहाँ
ताहि २।९५ = उसको
तिन्नि १।४६ = तीन
तिसु ३।१४४ = उसका
तिहुअण ४।२४९ = त्रिभुवन
तिरहुत्ती २।३ = तीरभुक्ति
तीखे ४।४६ = तीक्ष्ण
तीनहु १८५ = तीनों ही
तीनू २।३६ = तीनो
तीर २।१६३ = तीर, वाण
तुज्झ ३।२२ = तुम्हारे
तुम्ह ३।६२ = तुम्हारा
तुलनाजे १।७८ = तुलना मे

ध

धुअ १।४३ = ध्रुव
धुत्तह २।१३५ = धूर्त के
धुन्नइ २।१८ = धुनता है, पछताता है
धूप २।१२९ = धूप, अगरु
धूम २।१२९ = धुवाँ
धूलि ३।७० = धूल
धोआ २।२०६ = धौत, धोया हुआ

न

न २।१९ = नहीं
नअ १।६५ = नय, नीति
नअर २।१२३ = नगर
नअन ३।६ = नयन
नएर २।९ = नगर
नखत २।१९७ = नक्षत्र, पर्व
नत्थि ३।११० = नास्ति, नहीं है
नमि ३।८२ = झुका कर
नयनाञ्चल २।१४३ = नयन भाग
नलिन ३।६६ = कमल
नवइ २।२३४ = झुकाता है
नवयोव्वना २।५७ = नवयौवन वाली
नवावइ २।१९० = फैलाता है।
नहिं २।४५ = नहीं
नहिअ २।२२३ = लहिअ, पाते
नहीं २।२०९ = नहीं
नहु १।२८ = नहीं
नाअर १।१२ = नागर
नाएर २।९ = नागर
नाग ३।६९ = नाग (शेष)
नागरि २।११६ = नागरी, चतुर
नागरन्हि २।१५१ = नागरों का
नाच २।१८७ = नृत्य
नाओ २।६८ = नाम
नाटक २।९१ = नाटक
नामाना ४।१८० = नाम का
नारि २।१५२ = नारी
नाहि २।११२ = नहीं
नाह १।२५ = नाथ
निअ २।२२९ = निज
निअर ४।२२३ = निकट
निक्करुण ३।१०९ = निष्करुण
निक्कारिअहि २।१६ = निकालते हैं
निकार २।२१० = निकालता है
निच्चिन्ते २।४० = निश्चिन्त
निञ २।२३६ = निज
निन्द ३।७६ = नींद, निद्रा
निन्दन्ते २।१४५ = निन्द करते हैं
निद्राण २।२९ = निद्रा मग्न
निमज्जिअ २।११ = डूब गया
निमाज गह २।२३९ = नमाज घर (गाह)
निमित्ते २।१३१ = निमित्त से
निरवल ३।१०८ = निर्बल
निसान ४।३८ = निशान
निरुढ़ि १।३ = प्रसिद्ध होकर
निससे ४।२०६ = निश्वास से
निहार २।७७ = देखता है
नीक २।८३ = नेक, अच्छा
नीच २।४७ = नीच
नीमाज २।१९९ = नमाज
नेत्तहिं २।२७ = नेत्रों से
नेवाला २।१८२ = ग्रास
नेह ३।१५५ = स्नेह

ण

ण २। ५१ = नहीं

णअर २।१२३ = नगर
णय ३।१४३ = नय, नीति
णह ४।१९० = नभ
णिअ १।४० = निज
णिच्चइ १।१२ = नित्य ही
णाह १।४४ = नाथ

प

पअ २।११७ = पद
पअंपई ४।१४४ = प्रजल्पे, बोले
पयभारहीं ३।७९ = पदभार से
पआन ३।३८ = प्रयाण
पआरें ४।१४३ = प्रकारेण, प्रकार से
पआसओ २।४६ = प्रकासूँ, प्रकाशित करूँ
पइ २।३४ = पै, पर
पइज्जल २।१६८ = पैजार, जूता
पइट्ठे २।३६ = पैठ कर
पउवा ३।१६१ = प्रभु
पए २।२३७ = पइ, निश्चय सूचक
पए ३।४० = पैर
पएरहु २।२०९ = पैरहु, पैर भी
पकलि ४।१४८ = पकड़ कर
पक्ख ३।१६१ = पक्ष
पक्खारु ३।६ = पखारा, प्रक्षालितकिया
पक्वानहटा २।१३० = पक्वान हाट
पच्छिम ३।४८ = पश्चिम
पच्छूस ३।४ = प्रत्यूप
पञ्चमी २।५ = पञ्चमी
पञ्चशर २।१४५ = कामदेव
पछुवाव ४।५५ = पछुवा देते हैं, पीछे, कर देते हैं
पज्जटइ २।९३ = पर्यटन करते
पझालन्त ४।१९६ = वझा लेते हैं
पओडा ३।८७ = पैंड़ा, प्रान्तर
पटक ३।९८ = लड़ाई
पटरे २।२३० = अँतरेपतरे, अगल बगल
पटवार (ण) ४।१७४ = कवच
पटवारण ४।१६३ = कवच
पट्टन ४।२३ = पत्तन, नगर
पट्ठाइअ १।६२ = पठाया, भेजा
पडइ ३।६९ = पड़ता है
पडु ३।६५ = पड़ा
पण ३।१४२ = प्रण
पणति ३।१४४ = प्रणति, झुकना
पढ १।४६ = पढ़ता है
पढन्ता २।१७३ = पढ़ते हैं
पढम ३।२२ = प्रथम
पढमहि ४।१४ = प्रथमहिं
पण्डीआ २।२२९ = पण्डित
पत्ताप १।६० = प्रताप
पतोहरी २।१३८ = पात्रोदरी
पथ्थाव ३।९ = प्रस्ताव
पनहटा २।१०३ = पानदरीबा
पन्नविअ २।५६ = प्रणाम किया
पफ्फुरिअ ३।३६ = प्रस्फुटित
पव्वतओ ४।२२ = ४।२५ = पर्वत
पमानिअ २।२५० = प्रमाणित, सम्मानित
पयदा ४।९ = पैदल
परउँअआरे २।३९ = पर उपकारे
परक्कम ३।१४६ = पराक्रम
परक्कमेहि ४।३० = पराक्रम में
परदप्प ४।१४० = परदर्प
परबोधें ३।१४७ = प्रबोधने से
परवोधओ १।१३ = प्रबोधूँ
परमत्थे १।४७ = परमार्थ

परयुत्थे ४।१६७ = शत्रु समूह में
परारी ४।१७९ = पर को
परिअउँ ३।३५ = पड़ गई
परिठव २।९५ = परिष्ठव
परिभविअ २।१२ = पराभव हुआ
परिवत्ते ४।११४ = परिवर्तन से
परिवण्णा २।४३ = प्रतिज्ञा
परिहरिअ २।५५ = हरिहरित, छोड़ा
परिस्सम ३।५१ = परिश्रम
परिसेष ४।१२४ = परिशेष, समाप्त
परु २।८ = पडु, पड़ा
पलइ ३।७५ = पड़ता है
पलटाए १।८६ = पलटाकर
पलट्टिअ ४।२५४ = पलटा, लौटा
पल्लविअ २।८१ = पल्लवित हुआ
पल्लानिअउँ ४।२७ = जीन कसा गया
पलि ३।७८ = पड़ि, पड़ कर
पवित्ती ४।३ = प्रवृति, समाचार
पष्खरेंहि ४।४२ = जीन
पखारिअ २।७९ = प्रक्षालित
पसरु २।११५ = फैला, पसरा हुआ
पसरेइ १।१ = पसरे, फैले
पसारइ २।१६२ = फैलाता है
पसारा २।१६२ = फैलाव, दूकान
पसारिअ १।३८ = प्रसारित किया
पसंसा १।१६ = प्रशंसा
पसंसइ १।४ = प्रशंसा करता है
पसंसए ४।६३ = प्रशंसा करते हैं
पसंसओ १।४२ = प्रशंसू, प्रशंसाकरता हूं
पहिल २।१८२ = प्रथम
पहार २।१८८ = प्रहार
पहु ३।८ = प्रभु

पाअ ४।११७ = पाद
पाइआ २।२२५ = पाते
पाइक ४।७० = पैदल, पायक
पाइक्कह ४।१५ = पैदल का
पाइग्गह ४।२७ = पैदलों के
पाउँ १।५३ = पाँव, पाद
पाउँअ १।२० = प्राकृत
पार = वर ४।१८२ = ज़ीन, दस्ता
पाछा २।१७९ = पश्च, पाछे
पाञे २।५९ = पादेन, पाएँ
पाञेला २।६२ = पाया
पाट २।६२ = पट्ट
पाटि २।६१ = पंक्ति
पाणै ३।१६१ = पालै, पालता है
पाणिग्गह ३।२२५ = पाणि ग्रहण करके पकड़कर
पाणो ४।२०६ = प्राण
पातरी २।१३८ = पतली, पात्री
पातरे २।६१ = प्रान्तर
पातिसाह २।२३७ = बादशाह
पाती २।६७ = पंक्ति
पाथर २।२१७ = पत्थर, प्रस्तर
पानक ३।९९ = पान का
पानी ३।९७ = पानी
पापोस ३।१६ = पापोश, चरणदर्शन
पार ३।८६ = पार
पारक ३।८६ = पार के
पारि २।१८९ = पार कर, पारना क्रिया
पारीआ २।२१९ = पा सके
पाव २।१८९ = पाता है
पावइ १।२० = पाता है
पावथि २।११४ = पाते हैं

पावन्ता २।२२१ = पाते हैं
पाविअइ १।५० = पाये
पाषरें ४।१४८ = पक्खर से
पासान २।८० = पाषाण
पिअ १।५९ = प्रिय
पिअरोज़ १।५९ = फीरोज
पिअन्ता २।१७० = पीते हैं
पिआज २।१८४ = प्याज़
पिआरिओ २।१२० = प्यारी
पिउआ ४।१०३ = पीनेसे
पिच्छल ४।२१८ = चमकीला, गोला
पिन्धन्ते २।१३७ = पहनतीं है
पीठिआ ४।४७ = पीठ
पीवए ३।९८ = पीते
पुक्करो ४।४७ = पुकारता है
पुच्चविहूना १।३५ = पूँछहीन
पुच्छहि २।२४८ = पूछते हैं
पुच्छिअउं २।२५२ = पूछा
पुच्छि ३।५६ = पूछकर
पुच्छु ३।१२पूछा
पुच्छउ ७।२३ = पूछा
पुज्जिओ १।३३ = पुंज
पुत्त २।५८ = पुत्र
पुत्ता २।१३० = पुत्र
पुन्न १।३६ = पुण्य
पुण्ण २।१९ = पुण्य
पुन्नाम ३।१३२ = प्रणाम
पुव्व १।५१ = पूर्व
पुरवए ३।११३ = पूर्ण करता है
पुरसत्थ ३।१४२ = पुरुषार्थ
पुरिष ३।५६ = पुरुष
पुरिसओ १।३२२ = पुरुष
पुरिसाआरो १।३४ = पुरुषाकार
पुरिसथ्थ ३।१६ = पुरुषार्थ
पुरिल २।२०८ = पुर गई, भर गई
पुहवी ४।१०९ = पृथ्वी
पूजा २।१९९ = पूजा
पूर ४।५९ = पूरता है
पूरीआ १।११६ = भर गया
पूरेओ १।८८ = पूरा किया
पूहविए २।२२० = पृथ्वी
पेअसि ४।४ = प्रेयसि
पेआज् २।१६५ = प्याज़
पेल्लव ४।१२७ = बीतता है
पेलिअ ३।९६ = बिताया
पेल्लिअ २।९२ = बिताया
पेषणी २।१३९ = विदग्धा
पेष्खन्ते २।५३ = देखते हुये
पेष्खिय २।१२४ = देखा
पेष्खिआ २।२२६ = पेखा
प्रेरन्ते २।१३८ = प्रेरित करते हैं
पै २।१८५ = पइ, पर
पैठि २।६९ = पैठकर
पोखरि २।८३ = पुष्करिणी
पुच्छति ३।१ = पूछती हैं
पृथ्वी २।१०६ = पृथ्वी

फ

फरमाने ४।८ = फरमान से
फरिआ ४।७२ = फरय अस्त्र लिए
फरिआइत ४।१६८ = फरय लिये हुए सैनिक
फल २।५७ = फल
फलिअ २।८१ = फलित
फलिअउ ३।१५९ = फला

वल्लहा २।७८ = वल्लभ
वल्लीअ २।१६९ = वली
वस २।२४१ = बसता है
वसाहन्ति २।१६१ = व्यवसाय करते हैं
वसइ २।१३५ = वसता है
वसन २।६२ = निवास
वहल २।२४३ = वहन किया
वहु २।११६ = वहुत
वहुत्त २।५७ = वहुत
वहुत्ता २।२३० = बहुत से
वहुफ्फाल ४।२०३ = वहुत चीड़ फाड़ करने वाले
वहुल ३।१०१ = वहुत
वहूता २।१६६ = वहुत
वाकुले ४।४५ = आगे किये हुए
वाछि ४।४१ = बीछि-बाछि, चुनकर
वाज २।२४४ = वजती हैं
वाजू २।१६४ = वाजू, तरफ
वाढल ४।५३ = वढा हुआ
वाणिज ३।१२० = वणिक
वाधा ३।१२५ = कष्ट
वानिनि २।११६ = वनियाइन
वाप ३।१८ = पिता
वापुर १।१११ = वेचारे
वारिगह २।२३९ = तम्बू
वालचन्द १।९ = द्वितिया का चन्द्र
वाहि २।१८४ = बाँह, भुजा
वास २।१९२ = निवास
वाहइ २।१७१ वहन करता है
वाहर २।११९ = वहिः, बाहर
वाँकुले ४।४५ = वाँका, वक्र
वाँग २।१९४ = अज़ान
वाँट २।२०१ = राह, वर्त्म
वाँदि ३।१०४ = वादी, नौकरानी
वाँधा ४।४६ = वाँधा हुआ
वि ३।५१ = अपि, भी
विअष्खण ३।६० = विचक्षण
विअष्खनी २।१५२ = विचक्षणी
विआही ४।९७ = व्याहता
विक्कणथि २।११४ = विक्रय करते हैं
विका ३।११० = विक्रय = विका
विकाइबा २।१०७ = विकने

भ

भल २।२४१ = भला
भलओ १।३ = भला
भव्य २।२३५ = भव्य
भष्खिअ ३।१०६ = भक्षित, खाए
भा २।९९ = हुआ
भाग २।१४८ = भाग, हिस्सा
भाँग २।१७४ = भंग
भागए २।१४८ = टूटना
भग्गसि ४।२५० = भागते हो
भागि ३।७५ = भागकर
भाँगि २।२०७ = भंग कर के
भाणा ४।१२३ = भान, आभास
भाँति २।११३ = भाँति
भान २।२१२ = मालूम, प्रतीत
भारहि ३।४० = भार से
भावइ २।१८७ = भाता है
भासा १।८ = भाषा
भास = ओ २।४५ = भासूँ, कहूँ
भिक्खारि २।१४ = भिक्षाकारिक
भित्त ३।११६ = भृत्य
भित्ता ३।१२१ = भृत्य

माणा ४।१२२ = मान
मणिक ४।६ मलिक
माथे २।२४३ = माथे पर
मानइ २।३७ = मानता है
मानुस २।१०७ = मनुष्य
मारन्त २।८ = मारते हुए
मारी ४।१७२ = लड़ाई
मारल २।७ = मारा
माँगि ३।११७ = माँगकर
माहव ४।२३८ = माधव
मिट्ठा १।२१ = मिष्ठ
मित्ति ४।१२ = मिति
मिलइ २।७६ = मिलता है
मिलए २।१५५ = मिलना
मिलल २।१९२ = मिला
मीर २।१६९ = मीर
मीसिपीसि २।१०७ = मिस पिस कर
मुकदम २।१८४ मुकद्दम, मुखिया ?
मुक्कओ २।४४ = मुक्त करूँ
मुज्झु ३।२३० = मेरा
मुरली ४।५० = घोड़े की गति
मुझ ३।१२८ = मेरा
मुल्लहिं २।९० = मूल्य से
मुले ४।४४ = मूल्य
मुलुक्का २।२१७ = मलिक
मेइनि १।७७ = मेदिनी
मोजा २।१६४ = मोजा
मेआणे २।२३९ = भीतर, मध्य में
मेट्टिअ ३।११ = मेटा, मिटाया
मो ३।६८ = मेरा
मोर २।३२ = मेरा
मोरहु २।४२ = मेरा
मोहिआ २।८२ = मोहित किया
मोहन्ता २।२३१ = मोहते हैं

य

यन्त्र २।८५ = यन्त्र
यम ३।१५३ = यमराज
यज्ञोपवीत २।१०९ = यज्ञोपवीत
यात्राहुतह २।१०९ = यात्रा से
युवराजन्हि १।७० = युवराजों

र

रअणि ३।४ = रजनी
रज्ज २।४८ = राज
रज्जह २।३३ = राज की
रज्जलुद्ध २।६ = राजलुब्ध
रणरोल २।८ = रणरोर
रति २।३७ = आसक्ति, सम्बन्ध
रथ ३।७० = रथ
रमनि २।९ = रमणी
रसाल १।४४ = रसपूर्ण
रसिकें २।१४६ = रसिकों से
रक्खओ २।४७ = रक्खूं
रह ३।९० = रहता है
रहइ २।१८३ = रहता है
रहऊँ ३।४८ = रहे
रहट घाट २।९७ = रँहट घाट
रहसें १।३० = एकान्त में
रहहि २।२२६ = रहते हैं
रहि २।२२३ = रह रह कर
रहिअउ ३।११९ = रहे
रहै २।१८४ = रहता है
रा २।१५ = राय, राजा
राँगल ४।२०९ = रँगा हुआ
राअ २।१२२३ = राज, राजा

लिज्झिअ २।१० = ले लिया
लिहिअ २।४ = लिखित
लुक्किआ ३।७२ = छिप गया
लूडि ४।९४ = लूटकर
लूर २।११० = लुढ़कना, हिलना
ले २।१७४ = लेता है
ले ले २।१७९ = लिये हुए
लेलि ३।२० = लिया
लेष्खिीआ २।३२७ = लेखे, गणना योग्य
लेहेन २।२६ = लेखेन, भाग्य वश
लै २।१८४ = लेकर
लोअ २।५२ = लोक, लोग
लोअण २।१५४ = लोचन
लोअन्तर ३।१८ = लोकान्तर, स्वर्ग
लोई ३।१४२ = लोक
लोगह्न २।३१ = लोगों
लोर २।५३ = आँसू

श

शत संख्य २।९५ = सौ संख्यक
शफरी २।१४४ = मछली
शाखानगर २।१६ = उपनगर
शिला २।२४७ = शिला
शुद्ध ३।६१ = शुद्ध
शोक २।१५३ = शोक
शृंगार संकेत २।२४५ = शृंगार संकेत
शृंगाटक २।९६ = तिमुहानी

ष

षण्डिअ ३६१ = खंडित
षर् ३।९२ = तिनका
षणे ३।३७ = क्षण
षराब २।१७८ = खराब
षरीदे २।१६६ = खरीदता है
षाइतें ४८७ = खाते हुए
षाए २।१७४ = खाता है
षाण २।२२२ = खान
षास २।२३२ = खास
षीसा २।१६८ = बटुवा,
षेत ४।१६१ = खेत क्षेत्र
षुन्दकार ४।७५ = काजी, मालिक
षुन्दकारी २।१९१ = काजी का
षोचि ४।६० = छाँटकर, खीचकर
षोजा २।१६९ = खोजा, ख्वाजा
षोआरगह २।२४० = भोजनगृह
षोरमगह २।२४० = शयनगृह, सुखमंदिर

स

सअद २।१८८ = सैयद
सअल ३।८० = सकल
सआनी २।१३८ = सयानी, चतुरा
सइदगारे २।२० = सैयदगार
सइल्लार २।१६९ = सालार
सए २।३२ = शत
सएल २।२३२ = सकल
सक्कय १।१९ = संस्कृत
सकता ४।९६ = शक्तिवान्
सकलओ ३।७ = सकल, सभी
सख १।५९ = सखा-मित्र
सग्ग ३।१८ = स्वर्ग
सगर ३।७८ = सकल
सच्चु ४।२ = सत्य
सज्जन २।१२ = सज्जन
सज्जह ४।१२ = साजो
सञो १।२४ = सउ, साथ
सञ्चरन्ते २।१२७ = संचरण करते हैं
सञ्चरिआ ४।२ = संचरण किया

सह ३।८९ = सहता है
सहस ३।१५० = सहस्र
सहसहिं ४।८५ = सहसा, वेग से
सहि ३।११९ = सहकर
सहिज्जिअ ३।१५३ = सहिए
सहोअर ३।१३५ = सहोदर
साअर २।२२४ = सागर
साकम २।८३ = संक्रम, पुल
साज २।१०३ = सजाया, साज
साजि ४।४२ = साजकर
साति २।३५ = कष्ट, पीड़ा
साध ३।१२६ = साधा, किया
सामर ४।११३ = श्यामल, साँवर
सामिअ २।३ = स्वामी
सार १।२३ = सारतत्त्व
सारन्ता ४।१८० = उच्चारण करते हुए
सारिआ ४।४१ = चढ़ा।
सारेंओ १।८१ = गर्व किया
सार्थ २।१३९ = साथ
सावर ४।९० = वर्छा, सबरी
साहउ २।१४८ = शासन किया
साँठे ३।३८ = सामान के साथ,
सिआन २।२४८ = सयान, चतुर
सिक्खवइ २।२४ = सिखाता है
सिज्झइ ३।५५ = सिद्ध होता है
सिझिइह ३।५१ = सिद्ध होगा
सिट्ठपदिक २।२४९ = सिपाही, द्वारपाल
सिट्ठाअत ३।८ = प्रतिष्ठापित हो
सिरि ३।११८ = श्री
सिंगिन ४।६७ = धनुष
सीवां २।८६ = सीमा
सुअण १।२९ = सजन
सुजाण ३।१४५ = सज्जन
सुठाम २।१५५ = सुन्दर ठाम, स्थान
सुन १।२३ = सुनो
सुनओ १।१५६ = सुनो
सुनि ३।१२८ = सुनकर
सुनिअ ३।३४ = सुनकर
सुनु ३।६८ = सुना
सुभोअण २।१५५ = सुभोजन
सुभवअन १।३६ = शुभवचन
सुमर २।६० = स्मरण किया
सुमरि २।१८ = स्मरण करके
सुमरू ३।१०९ = स्मरण किया
सुमहुत्त २।१५ = सुमुहूर्त, मुहुर्त्त
सुपुरिस १।३६ = सुपुरुष
सुष ३।१० = सुख
सुरराए २।९ = सुरराज
सुरसा १।१५ = सुरस वाली
सुरतान २।२२३ = सुलतान, सुरत्राण
सुरुतानी ३।६६ = सुल्तान की
सुरुली ४।५० मेढकगति
सुष्खेव ४।२४२ = सुख
सुहव्वा २।२३१ = सुभव्य
सुहिअ ३।५६ = सुहित
सुहेन २।३ = सुखेन
सूर १।२१ = शूर
सेण्ण ३।६५ = सेना
सेर ३।२३ = स्वैर, स्वेच्छाचारी
सेरणी १।१८८ = स्वैरिणी अथवा मिठाई
सेरे ३।९१ = सेर
सेव १।३९ = सेवा
सेवइ ३।३० सेवा करता है
सेविअ ३।११३ = सेवा की

सैच्चान ४।१३३ = श्येन, बाज
सो १।१६ = वह, सः
सोअइ २।४० = सोहता है
सोअर ३।४५ = सहोदर
सोखि ३।७९ = सोख कर
सोग ३।१४७ = शोक
सोझ २।७२ = सीधा
सोदर ३।१५२ = सहोदर
सोनहटा २।१०२ = स्वर्णहाटक
सोना क ३।९९ = स्वर्ण का
सेन्नि ४।४८ = सेना
सोहइ १।११ = शोभित है
सोहणा ४।३१ = शोभन
सोहन्ता २।२३० = शोभते हुए
सोहिआ २।८१ = शोभित था
सौभागे २।१३२ = सौभाग्य
संक ३।७८ = शंका
संकास १।६१ = संकाश, समान
संख ३।६५ = संख्या
संग २।५० = साथ
संगर २।४४ = संग्राम
संगाम १।२७ = संग्राम
संघलिअ ४।१८३ = टक्कर होती
संचर २।१११ = संचरण करता
संचरिअ ३।४० = संचरित हुआ
संअजइ ३।११६ = देता है
संपलिअ ४।१३ = चलाया
संभरइ ३।१११ = मिलता
संभिन्न २।१०२ = संभिन्न, पूर्ण भरा हुआ
संमद्द २।१०६ = मर्दित कर
सम्बरिअ ४।१२५ = संवरित
साँध १।२०६ = साधते थे, बनाते थे

ह

हचड़ ३।४२ = रौंदना, कोलाहल
हजारी २।१५९ = हजार
हओ ४।४ = हउं, हौं, मैं
हथल ३।१३० = हाथ में।
हरँख ३।७३ = हर्ष
हर १।११ = शंकर
हरिज्जइ ३।५६ = हरता है।
हस २।१४२ = हँसता है
हसि २।१३८ = हँस कर
हट्ट ३।१२० = हाट
हाट २।११३ = हाट, बाजार
हासह ४।८४ = हास्य
हासा १।१० = हँसी
हारल २।६ = हारा हुरा हुआ
हाथि २।१११ = हाथी
हा हा २।८ = हाय ध्वनि
हिअ ३।११ = हिय, हृदय
हिडोल २।२४६ = हिडोल, झूला
हिण्डए २।११३ = घूमता है, हींड़ता है
हिंसि ४।३७ = हींस कर
हीनि २।१६ = हीन, वंचित
हेडा २।१७६ = गोस्त (देशी)
हेरहिं २।८८ = देखता है
हेरइ २।९३ = देखता है
हेरन्ते २।१३८ = देखती हैं
हेरा २।१३५ = गोश्त
है २।१८० = है
हुअ २।८ = हुआ ।
हुआसन १५७ = हुताशन
हुकुम २।१६१ = हुक्म
हुअउं ३।४ = हुए

हो २।११२ = होइ, होता है
होअ २।१४९ = होता है
होइ २।१२ = होता है
होए १।८ = होता है
होणा २।५९ = होना, होने
होसउँ ३।३२ = होना चाहिए
होसइ १।१५ = होगी
हों १।३६ = मैं

सहायक साहित्य

१. अग्रवाल, वासुदेव शरण	कीर्तिलता, साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी, १९६३ ई०
२. उपाध्ये, आदिनाथ	लीलावई, कोऊहल, सिंघी जैनग्रंथ माला १९४९ ई०
३. केलाग आर० एस०एच०	ए ग्रैमर आव् हिन्दी लैंग्वेज़, लंदन १८९३ ई०
४. ग्रियर्सन, जार्ज अब्राहम:	१. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया भाग १ २. आन दि मार्डन इण्डो वर्नाक्यूलर्स (इंडियन एंटिक्वैरी १९३१-३३) ३. मैथिली डाइलेक्ट
५. गुणे, पाण्डुरंग	भविसयत्तकहा धनपाल, गायकवाड़ सीरीज बड़ौदा, १९२३ ई०
६. गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा	पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, पुनर्मुद्रण २००५ सं०
७. घोष, चन्द्रमोहन	प्राकृत पैंगलम्, बिब्लोथिका इंडिका संस्करण १९०२ ई०
८. चटर्जी, सुनीतिकुमार	१. दि ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट आव बैंगाली लैंग्वेज़, कलकत्ता १९२६ ई० २. वर्णरत्नाकर की अंग्रेजी भूमिका, बिब्लोथिका इंडिका संस्करण १९४० ई० ३. उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा-स्टडी सिंघी जैन ग्रंथ माला, बम्बई १९५३ ई० ४. इंडो ऐर्यन एंड हिन्दी, १९४० ई०
९. जिन विजय मुनि	१. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सिंघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई २. प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ ३. सन्देश रासक, सिंघी जै० ग्रं० १९४५ ई०
१०. जैन, हीरा लाल	१. पाहुड़ दोहा, कारंजा जैनग्रंथमाला, १९३३ ई० २. सावयधम्मदोहा का० जै० ग्रं० १९३२ ई०

११. ठाकुर शिवनन्दन　　महाकवि विद्यापति

१२. डिवेटिया एन, वी०　　गुजराती लैंग्वेज़ एंड लिटरेचर, पूना १९२१ ई०

१३. तेसीतोरी एल० पी०　　नोट्स आन ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी इंडियन एंटिक्वैरी, १९१४-१६ ई०

१४. तगारे, ग० बा०　　हिस्टारिकल ग्रैमर अव् अपभ्रंश, पूना १९४८ ई०

१५. द्विवेदी, हजारी प्रसाद　　हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना १९५२ ई०

१६. नाहटा, अगरचन्द　　१. वीरगाथा काल का जैन साहित्य, नागरी प्रचारिणी पत्रिका ४६।२
२. दशार्णभद्र कथा,
यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जर्नल भाग १२

१७. पंसे, एम० जी०　　लिंग्विस्टिक पिक्यूलियारिटिज़ ऑव ज्ञानेश्वरी बुलेटिन ऑव डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिटूट पूना १९५१ ई०

१८. पिशेल, आर०　　ग्रामेटिक डेर प्राकृत स्प्राखा, स्ट्रासवर्ग १९५० ई०

१९. बानी कान्त काकती　　फारमेशन आव असेमीज़ लैंग्वेज़

२०. बीम्स जान　　कैम्परेटिव ग्रैमर ऑव दि ऐरियन लैंग्वेज, प्रथम भाग १८७२ ई०

२१. भांडारकर, रामकृष्ण गोपाल　　विल्सन फिलोलॉजिकल लेक्चर्स

२२. भायाणी, हरिवल्लभ　　सन्देश रासक की अँग्रेजी भूमिका

२३. मिर्ज़ा खाँ　　ब्रजभाषा ग्रामर, जिआउद्दीन द्वारा सम्पादित शान्ति निकेतन, १९३५ ई०

२४. मिश्र जयकान्त　　हिस्ट्री आव् मैथिली लैंग्वेज़

२५. मजूमदार विमान विहारी　　विद्यापति, पटना

२६. रामलाल पाण्डेय　　आइने अकबरी हिन्दी, संस्करण

२७. राहुल सांकृत्यायन　　१. हिन्दी काव्य धारा, इलाहाबाद, १९४५ ई०
२. गंगा पुरातत्त्वाङ्क
३. पुरातत्त्व निबंधावली

२८. लालचन्द्र गांधी　　अपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज बड़ौदा १९२७ ई०

२९. लोचन कवि　　रागतरंगिणी

३०. वर्मा, धीरेन्द्र — हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १९४९ ई०

३१. वैद्य, परशुराम — १. प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र), पूना १९२८ ई०
२. जसहर चरिउ कां० जै० ग्रं० १९३१ ई०
३. महापुराण (पुष्पदन्त) मा० दि० जैन ग्रंथ-माला १९४१ ई०

३२. शास्त्री, हर प्रसाद — १. कीर्तिलता, बँगला संस्करण १९२४ ई०
२. बौद्ध गान ओ दोहा १९१६ ई०

३३. शुक्ल, रामचन्द्र — १. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, २००७ सं०
२. बुद्ध चरित की भूमिका
३. जायसी ग्रन्थावली की भूमिका

३४. शिवप्रसादसिंह — रसरतन, ना० प्रचारिणी सभा, काशी

३५. सक्सेना, बाबूराम — १. कीर्तिलता, नागरी प्रचारिणी सभा १९२९ ई०
२. इवोलूशन ऑव अवधी

३६. हर्मन जाकोबी — भविसयत्तकहा १९१८ ई०

३७. हार्नली, रूडल्फ — ग्रैमर ऑव दि इस्टर्न हिन्दी

कोश एवं पत्रिकाएँ

१. इंडियन ऐंटिक्वैरी
२. जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी
३. बुलेटिन ऑव डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिटूट
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
५. रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल
६. अमेर भांडार प्रशस्ति संग्रह
७. इन्साइक्लोपीडिया ऑव् लिटरेचर, न्यूयार्क
८. विक्रम स्मृतिग्रंथ, उज्जैन
९. परिषद् पत्रिका
१०. भारतीय विद्या
११. आप्टे संस्कृत कोश
१२. पाइअ सद्दमहण्णो

शुद्धि पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
४३	१७	प्राकुपे	प्राकृते
५१	३	सन्देश राशक	सन्देशरासक
८६	८	निपातादिनियाभावात्	निपातादिनियमाभावात्
१९०	३२	धारवादेश	धात्वादेश
२११	टि०	थर्टिएथ	थर्टीन्थ
२२५	२	मह्मं	मह्यं
२६६	३१	पादातिक	पदातिक
२७६	७	षो = आरगह	षोआरगह
२८०	२६	अवयं	अवश्यं
२८७	२४	गजेश्वर	गणेश्वर
२९१	१८	सिज्ज	सिज्झ
२९४	१	किड्ढ	कड्ढि
३०२	१९	खूठा	खूब
३३०	१	मान	भान
३३०	१२	+ धके	+ वधके
३४३	१६	अरेओ	करेओ